

इकाई-1

अहिंसा एवं शांति का समाजशास्त्र

भूमिका

अहिंसा एवं शांति अध्ययन के अन्तर्गत समाहित इस द्वितीय प्रश्न-पत्र में अहिंसा एवं शांति के समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में विभिन्न सन्दर्भों के अन्तर्गत निम्न बिन्दुओं पर विचार होगा :

(अ) भारतीय परम्परा में अहिंसा एवं शांति के समाजशास्त्र की अवधारणा एवं स्वरूप।

(ब) संरचनात्मक हिंसा की अवधारणा : वैचारिक हिंसा, सांस्कृतिक हिंसा, लिंगभेद, जातिवाद, अस्पृश्यता, सामाजिक हिंसा, असमानता, भेदभावपूर्ण न्यायिक तंत्र, राज्य द्वारा हिंसा, व्यक्ति, जाति, शहरी समुदाय द्वारा हिंसा।

उद्देश्य :

1. भारतीय सन्दर्भों में कल्याण, अहिंसा एवं शांति की अवधारणा को स्पष्ट करना।
2. प्राचीन, मध्य एवं आधुनिक काल तक अहिंसक समाजशास्त्रीय स्वरूप की विवेचना करना।
3. संरचनात्मक हिंसा के स्वरूप को स्पष्ट करना।
4. धर्म, संस्कृति, समाज, राज्य द्वारा एवं विभिन्न वर्गों द्वारा उत्पन्न हिंसा को स्पष्ट करना।

सामान्यतः यह माना जाता रहा है कि मनुष्य अपनी उत्पत्ति के साथ ही सामाजिक प्राणी बन गया था किन्तु यदि विश्लेषणात्मक अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष निकाला जाए तो ये ज्ञात होता है कि मनुष्य एवं मानव समाज की सम्यता के विकास का इतिहास विभिन्न क्रियाओं एवं अनुभवों से साक्षात्कार होने के बाद होता रहा है जो आज भी निरंतर विकासोन्मुख है।

मानव, समाज की उत्पत्ति के साथ समाज के सदस्यों के विकास तथा कल्याण हेतु निरंतर नये-नये चिंतन, दर्शन, नियम एवं प्रयोग में संलग्न रहा है। इस क्रियाओं की निष्पत्तीस्वरूप समय-समय पर विभिन्न शास्त्रों को रचना की गई जिन्हें आधुनिक काल में सामाजिक विज्ञान निर्माण की संज्ञा दी गई। आधुनिक

काल में सुविधा की दृष्टि से इस शासन या ज्ञान को समाजशास्त्र की संज्ञा दी गई जिसका मूल उद्देश्य सामाजिक व्यवस्थाओं एवं संरचनाओं में परिष्कार तथा समाज के सदस्यों का कल्याण था। प्रश्न उत्पन्न होता है कि मानव कल्याण के स्वरूप का निर्धारण किस प्रकार किया जा सकता है। तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह ज्ञात होता है कि मानव कल्याण के सन्दर्भ में भारतीय व गैर भारतीय (पाश्चात्य) चिंतन में मुख्य अंतर स्पष्ट प्रतीत होते हैं। विशेष रूप से गैर भारतीय चिंतन में समाज एवं व्यक्ति के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु मुख्यतः वस्तुपरक रहा है जबकि भारतीय चिंतन में अध्ययन का केन्द्र आत्मपरक रहा है। तात्पर्य यह है कि गैर भारतीय परम्परा में सामाजिक सामाजिक विकास और सामाजिक संस्थाओं आदि के विकास के साथ जोड़ा गया है जबकि दूसरी और भारतीय परम्परा में विकास के साथ-साथ व्यक्ति को भी जोड़ा गया है। इस बात को व्यक्त करने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी यदि हम यह कहे कि भारतीय परम्परा में व्यक्ति के कल्याण में समाज कल्याण निहित माना गया है। अहिंसा और शांति के समाजशास्त्र के सन्दर्भ में भी यह ज्ञात होता है कि गैर भारतीय समाजशास्त्र मुख्यतः से सामाजिक सन्दर्भों में विद्यमान रहा जबकि भारतीय परम्परा में समाजशास्त्र आदर्शमूलक परिकल्पित तथ्यों पर आधारित रहा।

(अ) भारतीय परम्परा में अहिंसा का समाजशास्त्र : अर्थ एवं स्वरूप

भारतीय परम्परा में अहिंसा एवं शान्ति के समाजशास्त्र के अर्थ को समझने के लिये हमें भारतीय परम्परा को मुख्यतः तीन कालों में वर्गीकृत करने से समाजशास्त्र के वास्तविक स्वरूप तथा इसके विकास की प्रक्रिया का ज्ञान हो सकेगा इसके लिये प्राचीन मध्य तथा आधुनिक तथ्यों में समाजशास्त्र के स्वरूप को वर्गीकृत किया जा सकता है। उदाहरण के लिये प्राचीन भारतीय परम्परा में मनुष्य के लिये कछ विशिष्ट पुरुषार्थों को निर्धारित किया गया है। जिन्हे पुरुषार्थ चतुष्टय की संज्ञा दी जाती है। जिसके अन्तर्गत मनुष्य के लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकार के धर्म सन्निहित हो जाते हैं। इनमें प्रेयात्मक तथा श्रेय दोनों मार्ग के सम्मिश्रण से मनुष्य तथा मनुष्य समाज के शांत एवं कल्याणकारी होने की संभावना की जाती है। जबकि गैर भारतीय परम्परा में प्रेयात्मक मार्ग के माध्यम से ही समाज कल्याण को प्राप्त करने की संभावना की जाती है। अहिंसा एवं शांति के समाजशास्त्र के भारतीय स्वरूप को निरूपित करने से पूर्व यह आवश्यक है कि समाजशास्त्र के अन्तर्गत अध्ययन किये जाने वाले विषय यथा समाज के स्वरूप का सामान्य परिचय प्राप्त कर लिया जाए।

समाज अर्थ व स्वरूप

समाज मनुष्यों का एक समूह है कई समूहों का एक वृहद् समुदाय है। यह मनुष्यों के आपसी संबंधों का एक पुंज है। अनेक मनुष्यों के आपसी संबंधों का एक पुंज है अनेक मनुष्यों के जीवन से संबंधित होने के कारण उनके आपसी जटिल संबंधों के इस पुंज को समाज की संज्ञा दी जा सकती है। समाज में प्रत्येक मानव अपने आत्म विस्तार, आत्म संरक्षण हेतु मानवीय जीवन के समान ही संगठित गतिशील और परिवर्तनशील है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और अपनी प्रकृति को एक ऐसे संगठन के निर्माण और पुनर्निर्माण करने में व्यक्त करता है। जो उसके व्यवहार का अनेक प्रकार से मार्गदर्शन और नियंत्रण करता है। यह संगठन समाज है जो मनुष्य की क्रियाओं को स्वतंत्र और सीमित करता है। उनके लिये मानदण्ड निश्चित करता है। इस प्रकार यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि समाज वह शक्ति है जो व्यक्ति को वैध रूप प्रदान करती है तथा सस्थानों को जन्म देती है। संस्कृति का विकास करती

है तथा सम्यता को अनुकूल वातावरण प्रदान करती है और एक जैविक प्राणी को सामाजिक प्राणी के रूप में परिवर्तित करती है।

समाज शब्द का अर्थ को शब्दकोष के सन्दर्भ में निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

1. मिलना तथा एकत्र होना 2. वर्ग दल या समूह, 3 समाजकार्य करने वालों का समूह अथवा विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिये संगठित करना।

नालंदा विशाल शब्दसागर के अनुसार समाज शब्द का अर्थ इस प्रकार है

1. समूह या गिरोह
2. एक स्थान पर रहने वाला अथवा एक ही प्रकार का कार्य करने वाले लोगों का वर्ग, समूह या समुदाय।
3. किसी विशिष्ट उद्देश्य से स्थापित की गई सभा या सोसायटी

प्रसिद्ध समाजशास्त्री सत्यकेतु विद्यालंकार ने समाज की परिभाषा देते हुए लिखा है कि मनुष्य के जीवन में एक दूसरे के साथ संबंधों का जाल बिछा हुआ है, समाजशास्त्र में उसी को समाज कहा जाता है। डा. सम्पूर्णानन्द के अनुसार जिसमें लोग मिलकर एक साथ एक जाति में चलें वही समाज है। एक साथ या एक जैसे चलने का अर्थ फौजी सिपाही की भांति किसी एक दिशा में कदम मिलाकर चलना नहीं है, तात्पर्य तो वह है कि उन लोगों कि जो समाज के अंग हैं। उनकी परिस्थिति, प्रयत्न और उद्देश्य एक से हो। श्रीमती सुरजीत कोर के अनुसार 'व्यक्ति के पारस्परिक संबंधों के रूप को जब मैं संबंध संरचनात्मक रूप धारण कर लेते हैं उसे समाज कहते हैं।' **Tailcoat parsons** के अनुसार 'समाज को उन मानवीय संबंधों की जटिलता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो समाज के सदस्यों के आपसी संबंधों के क्रिया एवं प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न होते हैं।' **La peare** के अनुसार 'समाज मनुष्यों का समूह न होकर अन्तः क्रिया के वे जटिल प्रतिमान हैं जो मनुष्यों में और उनके बीच उत्पन्न होते हैं।' उनके अनुसार समाज अपेक्षाकृत सबसे बड़ा और स्थायी समूह है जो समान हितों, समान भू भाग समान रहन-सहन तथा परस्पर सहयोग अथवा अपनत्व की भावना से युक्त है तथा जिसके आधार पर वह अपने को बाहर के समूहों से पृथक् रखता है। समाज को अमूर्त मानकर लिखते हैं कि समाज एक अमूर्त शब्द है जो एक समूह के दो अथवा अधिक सदस्यों के बीच स्थित पारस्परिक संबंधों की जटिलता का बोध करता है। राईट ने समाज को सामाजिक संबंधों का जाल कहते हुए लिखा है कि मनुष्य के समूह को समाज नहीं कहा जा सकता है। अपितु समूह के अन्तर्गत व्यक्तियों के संबंधों की व्यवस्था का नाम समाज है। उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि समाज का वास्तविक आधार सामाजिक संबंध ही है।

समाजशास्त्र : अर्थ एवं स्वरूप

समाजशास्त्र "समाज एवं सामाजिक जीवन" का अध्ययन करता है, एवं इसके अध्ययन का परिप्रेक्ष्य भी सामाजिक ही है। समाज का वैज्ञानिक अध्ययन निःसन्देह 19वीं शताब्दी से ही प्रारम्भ हुआ है, लेकिन 19वीं शताब्दी से पहले समाज, सामाजिक जीवन या सामाजिक समस्याओं का अध्ययन ही नहीं होता था, ऐसा निष्कर्ष त्रुटिपूर्ण होगा। सभ्यता के प्रारम्भ से ही मनुष्य सामाजिक घटनाओं को आश्चर्य से देखता रहा

है और उनके सम्बन्ध में विचार करता रहा है। प्रत्येक समाज चाहे वह पुरातन हो या नवीन, सामाजिक समस्याओं से अवश्य ग्रस्त होता है और इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि इन समस्याओं के अध्ययन के प्रति उस समाज विशेष के सदस्यों के मस्तिष्क में जागरूकता भी अवश्य रही होगी। 'समाजशास्त्र' का अस्तित्व चाहे वह अवैज्ञानिक, अस्पष्ट एवं अलिखित रूप में ही क्यों न हो, सदैव रहा होगा। रोबर्ट बियरस्टेड के अनुसार, "समाजशास्त्र का अतीत काफी प्राचीन या लम्बा है।"

मैकाइवर एवं पेज ने अपनी पुस्तक 'सोसाइटी' में लिखा है कि समाज का प्रत्येक क्रियाशील सदस्य एक समाजशास्त्री भी है, क्योंकि समाज में निवास करने के लिए समाज की क्रियाओं और प्रक्रियाओं में हिस्सा बंटाने के लिए, उसे समाज के सम्बन्ध में कुछ न कुछ जानकारी होनी ही चाहिए। इसी जानकारी के आधार पर वह अपने सामाजिक जीवन सम्बन्धित विचार करता है, अपने परिवार, पड़ोस, नगर, गांव, राष्ट्र के बारे में मनन करता है, किसी समूह का सदस्य बनता है, धर्म, प्रथा, परम्परा एवं संस्कृति के अन्य तत्वों में स्वयं को भागीदार समझता है, और जीवन की दिन-प्रतिदिन की समस्याओं को सुलझाता है।

फिर भी 'समाजशास्त्र' के जन्म की कहानी अधिक पुरानी नहीं है। इस विषय से हमारा परिचय कोई 125 वर्ष पुराना ही है, जब ऑगस्ट कॉम्टे ने इसे एक पृथक विज्ञान के रूप में प्रतिपादित करने का प्रयास किया। इस सम्बन्ध में रोबर्ट बियरस्टेड ने लिखा है कि 'समाजशास्त्र' का अतीत तो लम्बा है, परन्तु इसका इतिहास बहुत ही छोटा है। इसका मूल कारण यह रहा कि प्राचीन समय में लोगों के मन में यह अवधारणा प्रबल रूप में विद्यमान थी कि सामाजिक यथार्थ या सामाजिक प्रघटना अमूर्त होने के कारण वैज्ञानिक रूप में इनका अध्ययन नहीं किया जा सकता है। इसी भ्रम को दूर करने का प्रयास फ्रांस के प्रसिद्ध सामाजिक विचारक ऑगस्ट कॉम्टे ने किया। उनका मत है कि अनुभव, निरीक्षण, प्रयोग तथा वर्गीकरण की व्यवस्थित कार्य-प्रणाली या पद्धति द्वारा न केवल प्राथमिक घटनाओं का ही अध्ययन सम्भव है अपितु समाज, सामाजिक यथार्थ व सामाजिक प्रघटनाओं का अध्ययन भी सम्भव है। कॉम्टे का दृढ़ विश्वास था कि जिस तरह प्राकृतिक घटनाएं कुछ निश्चित नियमों पर आधारित हैं, उसी तरह सामाजिक घटनाएं भी कुछ निश्चित सामाजिक नियमों से बंधी होती हैं। अतः इन घटनाओं का भी वैज्ञानिक अध्ययन व परीक्षण सम्भव है। कॉम्टे के इसी क्रांतिकारी विचार ने समाजशास्त्र को एक विषय के रूप में प्रतिष्ठित किया एवं सामाजिक घटनाओं के वैज्ञानिक अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया। इसलिए कॉम्टे को समाजशास्त्र के जनक के रूप में माना गया है।

प्राचीनकाल में समाजशास्त्र

समाजशास्त्र के वर्तमान युग के सूत्रपात के पहले समाज को क्रमबद्ध एवं सुनिश्चित रूप से समझने का प्रथम प्रयास यूनानी दार्शनिकों ने किया। आज से लगभग पच्चीस सौ वर्ष पहले इन दार्शनिकों ने 'सामाजिक सम्बन्धों' की सूक्ष्म व्याख्या प्रस्तुत की। सबसे पहला सार्थक प्रयास महान् यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'दी रिपब्लिक' में अनेक सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन का उल्लेख किया है। प्लेटो ने इस पुस्तक में इस बात पर बल दिया है कि व्यक्ति ठीक उसी प्रकार व्यवहार करता है, जिस प्रकार से समाज उसे व्यवहार करना सिखाता है अर्थात् मानव व्यवहार उस समाज की उपज है, जिसमें एक व्यक्ति जन्म लेता है और पलता है। समाज ही व्यक्ति को अपने अनुरूप ढालता है। समस्त व्यक्ति एक समान नहीं होते हैं। अतः सामाजिक संरचना के अन्तर्गत पूर्ण समानता की कल्पना करना अस्वाभाविक है। सामाजिक संस्तरण या उतार-चढ़ाव सामाजिक

जीवन का एक अनिवार्य अंग है जो व्यक्तिगत भिन्नताओं एवं सफलताओं पर आधारित है। कार्यों का विभाजन भी इन्हीं भिन्नताओं के आधार पर होता है।

प्राचीन भारत में समाजशास्त्र का विकास

वैदिक काल में सामाजिक अध्ययन

भारत में यद्यपि इन अध्ययनों का कोई क्रमबद्ध विवरण प्राप्त नहीं है, अतः प्रमुख भारतीय ग्रन्थ वैदिककालीन, उपनिषदकालीन, स्मृतिकालीन समाजों के प्रमुख ग्रन्थों के सामाजिक अध्ययन की संक्षिप्त विवेचना करना उचित होगा। इन धर्म ग्रन्थों के बाद भारत में सामाजिक अध्ययन का इतिहास लगभग चार हजार वर्ष पुराना है। वैदिक काल में ही सामाजिक जीवन एवं मानवीय सम्बन्धों का सूक्ष्म अध्ययन करके विस्तृत व्यवस्थाओं का निर्माण कर लिया गया था। वस्तुतः भारत में ही सबसे पहले सामाजिक अध्ययन की परम्परा शुरू हुई थी। यह वह समय था, जब हमारे यहां का सामाजिक ज्ञान अत्यधिक उन्नत अवस्था में था और पश्चिमी देशों के विद्वान भी यहां शिक्षा ग्रहण करने आया करते थे। 'वर्णाश्रम व्यवस्था', 'कर्म', 'संयुक्त परिवार' 'ग्रामीण गणतन्त्र' तथा विभिन्न वर्गों के अधिकारों आदि की व्यापक विवेचना करके समाज को संगठित बनाने में सफलता प्राप्त करली थी। यदि हम समाजशास्त्र को सामाजिक संरचना एवं मानवीय सम्बन्धों का अध्ययन स्वीकार करते हैं तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भारत में समाजशास्त्र का अध्ययन बहुत प्राचीनकाल से हो रहा है।

प्राचीनकाल में हमारे राष्ट्र में वैदिक परम्परा को अधिक स्पष्ट करने के लिए उपनिषदों की रचना की गई। इस काल तक यह स्वीकार किया गया कि व्यक्तिवाद एवं भौतिकवाद द्वारा समाज को अधिक समय तक संगठित रखना बहुत कठिन होगा। इस दृष्टि से दर्शन व पारलौकिकता को आधार मानकर व्यक्ति के कर्तव्यों का निर्धारण किया गया। भारतीय समाजशास्त्र के इतिहास का यह समृद्ध 'बौद्धिक काल' था। इस काल में मानव के परम लक्ष्यों का निर्धारण किया।

ईसा से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व हमारे समाज ने परिवर्तन की एक नवीन प्रक्रिया का सामना किया। इन परिवर्तनों पर रोक लगाने के लिए एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी, जो यद्यपि लोक कल्याणकारी तो हो, परन्तु परिवर्तन को प्रोत्साहित न करें इसके परिणामस्वरूप समस्त 'वर्णों' को एक-दूसरे में पृथक् कर दिया गया तथा 'अनुलोम' विवाहों को प्रोत्साहित किया गया। समस्त वर्णों को अपने-अपने क्षेत्र के भीतर ही विवाह एवं अन्य सामाजिक सम्पर्क की अनुमति प्रदान की जाने लगी। परिणामस्वरूप सामाजिक व्यवस्था में जो परिवर्तन आये वे कालान्तर में प्रगतिशील न रहकर प्रगति व विकास यात्रा में बाधा बन गए।

भारत में समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र

भारत में समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र की विवेचना में यह दावा नहीं किया जा सकता कि प्रस्तुत विषय-क्षेत्र में समस्त समाजशास्त्रीय विषयों को सम्मिलित कर लिया गया है, फिर भी यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि लगभग समस्त महत्वपूर्ण विषयों का इसमें समावेश है। समाजशास्त्र की प्रकृति परिवर्तनशील है, फलस्वरूप सामाजिक घटनाओं के परिवर्तित होने से इसकी विषय-सामग्री में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। फिर भी प्रस्तुत विषय क्षेत्र ऐसा है, जिसको भारतीय सामाजिक संरचना और सामाजिक सम्बन्धों से पृथक् नहीं

किया जा सकता है।

वाई.बी. दामले, टी.के.एन. उन्नीथान एवं अन्य विद्वानों द्वारा लिखी पुस्तक 'सोशियोलोजी फॉर इण्डिया' में लिखे एक लेख में भारतीय समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए विषय-परिधि बतायी है। इनके अनुसार भारतीय सामाजिक व्यवस्था सामान्यतः एक प्रभावशील परम्परा के रूप में उजागर हुई है। अनेक बार हम ऐसा पाते हैं कि सांस्कृतिक स्तर पर कोई परिवर्तन नहीं हुआ, फिर भी सामाजिक व्यवस्था में प्रचुर पमात्रा में परिवर्तन होता है, जिसे अधिकांश विद्वान अपने-अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण विश्लेषित करते हैं। भारत में संस्कृति, दर्शन, धर्म, श्रद्धा, विश्वास, व्यवस्था आदि के द्वारा महत्वपूर्ण भूमिका अदा की जाने के कारण भारतीय समाज को बहुत अधिक सीमा तक स्थिरता प्राप्त हुई है तथापि हमें उसमें पाये जाने वाले परिवर्तनों को भी देखना होगा।

समाजशास्त्र में हमें अन्तःक्रिया, व्यवहार तथा उन मूल्यों का अध्ययन भी करना पड़ता है जो अन्तःक्रिया तथा व्यवहार को संरचना प्रदान करती है। उनमें से किसी एक पर अधिक मात्रा में आश्रित होना और दूसरों को छोड़ देना या उन पर कम आश्रित होना खतरनाक होगा। हमें एक ऐसी सैद्धान्तिक परिधि की आवश्यकता है, जो भारतीय समाज में स्थिरता तथा परिवर्तन दोनों का कारण समझने में सहायता करे। हमारे लिए उन संरचनात्मक लक्षणों का अध्ययन करना भी आवश्यक हो जाता है, जिन्होंने जाति, बन्धुत्व, धर्म जैसी सामाजिक व्यवस्थाओं पर अधिपत्य जमाये रखा है। यह अध्ययन उन परिवर्तनों के संदर्भ में करना है, जो भारत में प्रचलित राजनैतिक तथा आर्थिक प्रक्रियाओं में भी सहायक है।

दामले के अनुसार भारतीय समाजशास्त्र की विषय-परिधि में एक व्यवस्था के रूप में संस्कृति तथा सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन करना चाहिए। एक व्यवस्था के रूप में व्यक्तित्व भारतीय संदर्भ में पहला अवलोकन होगा, जिसमें यह देखना होगा कि संस्कृति तथा सामाजिक व्यवस्था दोनों ही व्यक्तित्व से बहुत अधिक महत्वपूर्ण हैं। केवल व्यक्तित्व पर कोई अर्थ अथवा सार्थकता उन स्थितियों तथा भूमिकाओं के वाहक के अतिरिक्त कुछ नहीं है, जो किसी व्यक्ति की जीवन-शैली से सम्बन्धित है। इस प्रकार सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना के कारण किसी के व्यक्तित्व का विकास होता है।

डॉ. सत्येन्द्र त्रिपाठी ने अपने एक लेख में समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र का उल्लेख किया है जिसमें तीन बातों को सम्मिलित किया जाना चाहिए—

1. सामाजिक संरचना

सामाजिक संरचना का सम्बन्ध सामाजिक संगठनों के प्रमुख रूपों से है, जैसे —समूहों, संघों तथा संस्थाओं, प्रारूपों एवं उनके समुच्चय से जो भारतीय समाज का निर्माण करते हैं। सामाजिक संरचना के अध्ययन में स्पष्ट रूप से जनसांख्यिकी अध्ययन को सम्मिलित करना चाहिए।

2. सामाजिक प्रकार्य तथा सामाजिक नियन्त्रण

इसके अन्तर्गत उस कार्य-प्रणाली का वर्णन किया जाता है, जिसके अनुसार संरचनाएं काम करती हैं तथा नियमित और स्थिर रखी जाती हैं। इसके लिए हमें हिन्दू कानून, नीति, धर्म, परम्पराओं, आचरण तथा सामाजिक नियन्त्रण आदि रूपों के अध्ययन की आवश्यकता है।

3. सामाजिक परिवर्तन

इसमें सामाजिक जीवन में छोटी तथा बड़ी विस्तार वाली प्रवृत्तियों के साथ-साथ समाज के विकास, अवरोध तथा पतन की समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन तथा स्थिरता की आधारभूत दशाओं के विश्लेषण पर बल देने का प्रयास किया जाना चाहिए।

अहिंसा एवं शान्ति का समाजशास्त्र

भारत में समाजशास्त्र के विषय को लेकर उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त अनेक विषयों पर वर्तमान में अध्ययन किया जा रहा है। समाजशास्त्र अत्यधिक विकसित अवस्था में पहुँच चुका है। इसकी प्रगति का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि समाजशास्त्र की लगभग 20 से अधिक शाखाओं की स्थापना हो चुकी है और ये समस्त शाखाएं समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र ही हैं। इनमें से कुछ प्रमुख शाखाएं हैं—

- (1) ग्रामीण समाजशास्त्र
- (2) नगरीय समाजशास्त्र
- (3) औद्योगिक समाजशास्त्र
- (4) अपराध शास्त्र
- (5) चिकित्सा का समाजशास्त्र
- (6) राजनीतिक समाजशास्त्र
- (7) विधि का समाजशास्त्र
- (8) शिक्षा का समाजशास्त्र
- (9) मूल्यों का समाजशास्त्र
- (10) शांति का समाजशास्त्र
- (11) ज्ञान का समाजशास्त्र
- (12) परिवार का समाजशास्त्र
- (13) कला का समाजशास्त्र
- (14) धर्म का समाजशास्त्र
- (15) लघु समूहों का समाजशास्त्र

भारतीय परम्परा के समाजशास्त्री ने शांति की अवधारणा को कई रूपों में व्यक्त किया है व्यक्तिगत तथा समष्टिगत दोनों प्रकार की शांतिपूर्ण समाज के निर्माण हेतु अपेक्षित है। सम्भवतः इसी कारण भारतीय परम्परा में शांति स्थापित करने हेतु विभिन्न प्रयास तथा विभिन्न प्रक्रिया प्रयोग में लायी गई है कल्याण की अवधारणा ने भी शांतिपूर्ण समाज के निर्माण तथा शांति के समाजशास्त्र के विकास में योगदर्शन दिया है। यह भी तथ्य है कि प्राचीन तथा मध्यकाल के विचारकों ने शांतिपूर्ण समाज के स्थान पर समाज कल्याण शब्द ज्यादा प्रयुक्त किया। प्रश्न उत्पन्न होता है कि सामाजिक सर्दभों में कल्याण शब्द की अवधारणा का स्वरूप क्या होगा।

कल्याण शब्द का अर्थ है आनन्ददायक, सुखपरक, सौभाग्यशाली एवं भाग्यवान्। कुछ और भी अर्थ हमें प्राप्त होते हैं सुन्दर, रुचीकर, मनोहर, श्रेष्ठ, शुभ एवं मंगलप्रद। एनकार्टा शब्दकोष के अनुसार कल्याण का संदर्भ मुख्यरूप से आर्थिक सुरक्षा से लिया गया है तथा गरीबी उन्नमूलन हेतु इसको सन्दर्भित किया गया है। इस

विश्वकोष के अनुसार शांति के समाजशास्त्र की परिकल्पना तभी सिद्ध की जा सकती है जब हम आर्थिक सन्दर्भों में सामाजिक दोषों को समाप्त करेंगे। ज्ञातव्य है कि अन्य पश्चिमी चिंतन के अनुरूप इस विश्वकोष के मत में भी आर्थिक सुरक्षा ही कल्याणकारी तथा शांतिपूर्ण समाज की रचना में आधारभूत तत्व है। औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त जीवन दर्शन व शैली में महत्वपूर्ण परिवर्तन होने के कारण मनुष्य जीवन के अधिक सुविधावादी, उदार चिंतन सामने आये। जिसमें मनुष्य के समग्र परिप्रेक्ष्य में कल्याण की उपस्थिति को सुनिश्चित किया गया। इसका स्वरूप वैयक्तिक आनन्द प्राथमिकताओं को प्राप्त करने की संतुष्टि या प्राप्त किये गये लक्ष्य के रूप में है।

लोककल्याण के मत

मानव समाज के जीवन में ऐसे अवसर आया करते हैं जब सामाजिक ढांचे में परिवर्तन के लिये क्रान्ति आवश्यक होती है। चारों तरफ नये विचार उत्पन्न होते हैं। जो लोगों के जीवन में लागू होने के लिये जबरदस्ती अपना मार्ग खोज निकालते हैं और व्यक्ति ऐसा मार्ग खोज निकाल लेता है जिसकी मंजिल केवल कल्याण पर होती है जहां हम लोक कल्याण के मतों की बात करते हैं तो यंहा भावना लोकशासन की न होकर लोक कल्याण अथवा सेवा भावना की होती है। लोक कल्याण का मूल विचार यह होता है कि वह वास्तव में सवत्र हो ! इसमें जनता के प्रत्येक व्यक्ति को निरंतर ऐसा अनुभव हो कि यह राज्य मेरा है । अर्थात् उसके निर्माण, समृद्धि और उसके उत्थान मेरा भी हिस्सा है। अतः यहां भावना सर्वजन हिताय की होगी। वर्तमान का विश्व विभिन्न प्रकार के संघर्षों, वाद और विवादों के जाल में फसा हुआ है तथा विविध समस्याओं में उलझा है किन्तु वैमनस्यपूर्ण वातावरण में भारतीय सर्वधर्मों के दर्शन की अपनी विशेष उपयोगिता है। शांतिपूर्ण समाज की परिकल्पना को साकार करने में पूर्वी विशेष रूप से भारतीय धर्म दार्शनिक परम्पराएं प्रारम्भ से ही दिशाबोध कराती रही हैं तथा वर्तमान में भी प्रकाश स्तम्भ की भांति मार्गदर्शन कराने में निश्चित रूप से सक्षम हैं। शांति के समाजशास्त्र की अवधारणा को स्पष्ट रूप से समझने के लिये आवश्यक है कि वर्णित अवधारणाओं के विकास का सामान्य परिचय प्राप्त किया जाए। इस क्रम में हमारी दृष्टि मुख्य रूप से प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक भारत के समाजशास्त्रीय चिंतन पर केन्द्रित होगी।

वैदिक परम्परा

वैदिक धर्म विश्व के श्रेष्ठतम तथा प्राचीन धर्मों में से एक है । ये धर्म भारत की मूलभूत धार्मिक विचारधारा के नाम से प्रसिद्ध है। इसी धर्म से भारत के अन्य धर्मों की उत्पत्ति हुई। ये धर्म किसी काल विशेष अथवा व्यक्ति विशेष की रचना नहीं है अपितु इसके विकास में काफी समय लगा। वास्तव में वैदिक धर्म के कारण पूरे भारत वर्ष में धार्मिक एकता स्थापित रही है। आत्मा की अमरता कर्म एवं पुनःजन्म का सिद्धान्त, मोक्ष, निर्वाण एवं भक्ति आदि कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं जिन्हें प्रायः समस्त धर्म दार्शनिक परम्पराओं ने स्वीकार किया। वेद केवल धार्मिक ग्रन्थ ही नहीं हैं वे समाज की शिक्षा के सूत्रधार भी हैं, हमारे सम्पूर्ण सामाजिक, धार्मिक व्यवस्थाओं को संचालित करने वाले नीतिशास्त्र एवं समाजशास्त्र हैं। वेदों में मानव कल्याण में ईश्वर के महत्व को प्रतिपादित करने वाली अनेक प्रथाएं उपलब्ध हैं। वेदों को अन्तर्साक्षी करने पर यह सिद्ध होता है कि चारों वेदों में केवल ईश्वर की सत्ता और गुणों का ही प्रतिपादन नहीं किया गया है अपितु उसकी भक्ति और उपासना मनुष्य को अपने और परकल्याण के लिये करनी चाहिये। वैदिक सभ्यता के विकास क्रम में वेदों ने कल्याण की सीमाएं व्यक्ति तथा समाज दोनों के सन्दर्भ में बनाई यहां ये ध्यान देने की बात है कि प्रारम्भ में कल्याण या शांत संरचना केवल बाह्य सन्दर्भ के परिप्रेक्ष्य में देखी गई। किन्तु उपनिषद् काल आते- आते इस चिंतन में परिवर्तन प्रारम्भ

होने लगा। इस काल की विशेषता मुख्य रूप में रही कि बाह्य कल्याण के साथ – साथ मनुष्य का आत्मिक कल्याण भी महत्वपूर्ण माने जाने लगा । उपनिषद्कारों ने जिस प्रकार का चिंतन एवं दर्शन उपनिषदों में प्रस्तुत किया है उसका अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इस काल में आते आते कल्याण के सन्दर्भ में शांति के विशिष्ट समाजशास्त्र का निर्माण होना प्रारम्भ हुआ था । कठोपनिषद् में उल्लेख आया है कि – **सर्वे वेदा यत्पद्यमामनन्ति तपांसि सर्वानि च यद् वदन्ति यदिच्छान्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत् ते पदं संग्रहेण, प्रब्रवीम्योगमित्येतत् ।**

अर्थात् ऊँ को सब वेदों को सार बताते हुए उसे ज्ञानियों और तपस्वी साधकों के लिये जानने योग्य परमपद बतलाया गया है। मानव समाज की आधारशिला है, व्यक्ति और समाज अन्वयोनश्रित है, व्यक्ति का समन्वित रूप समष्टि है, यही समष्टि समाज है। समाजदर्शन वैयक्तिक जीवन दर्शन से प्रभावित होता है। मनुष्य समाज की वह ईकाई है जिसकी उन्नति और अवनति उत्कर्ष और अपकर्ष से समाज की प्रगति निर्धारित होगा। समाज संगठन का प्रतीक है । समाज के समन्वित विकास के लिये आवश्यक है व्यक्ति का सम्पूर्ण चरित्रिक विकास।

मानव विधाता की सर्वश्रेष्ठ कृति है। लाखों योनियां पार करके मनुष्य जीवन मिलता है। परन्तु मनुष्य योनि में जन्म लेने से ही मनुष्य नहीं बन जाता है। अपितु सतत मननशील होने से ही मनुष्य बनता है। वेदों में उल्लेख आया है कि समाजस्थ , शुद्ध विचारों एवं अविहेष को मानवमात्र के लिये उत्पन्न किया जैसे गाय अपने नवजात बछड़े पर वात्सल्य दिखाती है वैसे ही मानव को मानव के प्रति वात्सल्य भाव को व्यवहार में लाना चाहिये। जिस समाज के सदस्यों का आपस में अनुरागपूर्ण व्यवहार होगा उस समाज का स्वरूप तथा उस समाज द्वारा निर्मित नियम दर्शन, आचार संहिताएं भी शांतिपूर्ण समाज के निर्माण के मार्ग को प्रशस्त करने में समर्थ होंगे। आज समाज में तुच्छ स्वार्थ और धर्म के नाम पर मनुष्य जाति का विनाश करने वाले तथा समाज की संरचनाओं को नुकसान पहुंचाने वाले हिंसक तत्वों का सर्वत्र बोलबाला है। समाज विभिन्न वर्गों, जातियों और धर्मों में विभक्त है। ऐसी स्थिति के लिये ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में मनुष्य के द्वारा मनुष्य तथा अन्य की रक्षा का सन्देश निश्चित रूप से अहिंसक समाज की संरचना में सहायक है। इसका कारण है कि हिंसा या हिंसक प्रवृत्तियां विध्वंस ही करती हैं, निर्माण नहीं। हिंसा परस्पर अलगाव धृणा और प्रतिशोध को जन्म देती है, एकत्व की भावनाओं को नहीं। मानव मात्र की रक्षा की भावना और सदभाव से ही मानव की उन्नति संभव है। समाज को सुन्दर एवं सुदृढ़ बनाने के लिये सदभाव एवं समानता को यथोचित सम्मान दिया जाना चाहिये। समाज में होने का अधिकार किसी विशिष्ट वर्ग या जाति का नहीं है अपितु ये अधिकार जब समाज के सभी सदस्यों को प्राप्त होगा तो शांतिपूर्ण समाज की परिकल्पना सफल हो सकती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि श्रेष्ठता तथा ज्येष्ठता की सीमा का उल्लंघन किया जाये। शैक्षणिक योग्यता गुण कर्म और चरित्र के आधार पर जो श्रेष्ठ है, आयु और गुण में जो श्रेष्ठ है, वे सभी परम आदरणीय एवं पूज्यनीय हैं। प्राचीनकाल से ही इस भारत भूमि पर विभिन्न भाषा भाषी निवास करते रहे हैं। वर्तमान का समाज अनेक भाषायी , प्रान्तीय एवं साम्प्रदायिक भेदभाव से ग्रस्त है, ऐसे में वेद का यह संदेश कि सब मिलकर चले, सब मिलकर बोले, सब मिलकर ज्ञान प्राप्त करें, परस्पर सम्पर्क में रहे, सामंजस्य बनाए, मिलकर मंत्रणा करें, हार्दिक समानता रखे, वसुधैव कुटुम्बक की प्राचीन संकल्पना एक ऐसे व्यापक एवं विस्तृत समाज की परिकल्पना प्रस्तुत करता है। जिसका आधार शांति एवं सहकार ही है। सदभावना और प्रेम संगठन का मूल आधार है । मनुष्य अपनी सुविधानुसार किसी भी भाषा, संस्कृति एवं धर्म का चयन कर सकता है । किन्तु उसे यह अधिकार नहीं है कि वह किसी दूसरे भाषा की संस्कृति या धर्म के प्रति

द्वेषपूर्ण विचार रखे। राष्ट्र की अखण्डता विखण्डित न हो इसलिये विभिन्न भाषा और धर्म के लोगों को परस्पर मिलजुल कर एक परिवार की भांति रहना चाहिये। सभी में सामंजस्य की भावना रहेगी तभी राष्ट्र व समाज सही अर्थों में एश्वर्य सम्पन्न हो सकेगा। राष्ट्र का कल्याण आत्मीयतापूर्ण भावना से होता है। भाषा भेद, वर्ण भेद, जाति भेद, धर्म भेद, शांतिपूर्ण समाज के विरोधी है। यदि राष्ट्रों में सर्वकल्याण एवं जनकल्याण की भावना नहीं होगी तो जन कल्याण नहीं हो सकता क्योंकि जहां स्वराज्य होता है। वही उत्तम व श्रेष्ठ राज्य होता है जहां मानव मात्र सम्पूर्ण मानवीयता का धारण करता है तथा राष्ट्रीय एवं सामाजिक रचनाएं प्रगतिकारक हो सकती है।

वैदिक साहित्य में राष्ट्र की अखण्डता विखण्डित न हो इसलिये विभिन्न भाषा और धर्म के लोगों को परस्पर एक परिवार की भांति मिलजुलकर रहने का संदेश दिया गया है। राष्ट्र का कल्याण आत्मीयतापूर्ण समवेत भावना से होता है। भाषा भेद, वर्ण भेद, जाति भेद और धर्म भेद राष्ट्रीय अस्मिता के विरोधी है। यदि सभी संगठित होकर भेद भाव से दूर रहे तभी मातृभूमि से सर्वस्व की भावना प्रवाहित होगी। यदि राष्ट्र में सर्वस्व त्याग एवं जनकल्याण की भावना नहीं होगी तो स्वराज्य की स्थापना नहीं हो सकती। पारिवारिक स्तर पर भी संबंधों का रूप किस प्रकार होना चाहिये इस संदर्भ में भी उल्लेख मिलता है कि पूर्व में न केवल अपने परिवार के बच्चों के लिये अपितु समाज के सभी शिशुओं के प्रति समभाव का व्यवहार तथा समदृष्टि एवं सामन्जस्य का भाव था जिसमें गुरु भाई, गुरु बहन का भी गुरुवत् सम्मान था। वर्तमान में इसी देश में परिवारों में ज्ञान – विज्ञान की अंधी दौड़ और स्त्री स्वतंत्रता के मिथ्या परन्तु लुभावने नारों के युग में, मात्र व्यक्तिगत उन्नति के लिये चितित युवावर्ग में अति असहिष्णुता अपनी सीमाएं पार कर गया है। जिसने समाज के अविभाज्य अंग परिवार पर तीक्ष्णता से कुठाराघात किया है परिणामस्वरूप परस्पर विरोध वैमनस्य घुटन, तनाव, और अन्ततः अलगाव की घटनाएं अक्सर घटित होती हैं। इस विनाशकारी अहंकार का विनाश केवल प्राणी की मधुरता से संभव है। **प्रियाय प्रियवादिनम्** अर्थात् परस्पर प्रेम के लिये प्रियवादी बनना चाहिये, कारण, मधुर वाणी हृदय को सिंचित करती है। इसलिये वेद का आदेश है कि जिहवा, वाणी अत्यन्त कल्याणकारी, महान, शक्तिशाली और प्रभावशाली होनी चाहिये। वैदिक परम्परा का आदेश है कि मनुष्य को सत कर्मों को करते रहता तथा दुगुनों को त्यागना चाहिये। तथा उल्लु की वृत्ति को त्याग देना चाहिये। उल्लु रात्री में देखता है और प्रकाश का शत्रु है। अधंकार में मनुष्य पाप कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है। अतः उसे 'तमसो मा ज्योर्तिगमय' वेद के इस वाक्य का अनुसरण करते हुए उल्लु के सदृश पाप वृत्ति को छोड़ना चाहिये। वैदिक साहित्य में कल्याणकारी समाज की स्थापना के लिये नाकारात्मक गुणों से सम्पन्न वृत्तियों को त्यागने का उल्लेख आया है। सामाजिक नीतियों एवं सिद्धान्तों के संदर्भ में शांति पूर्ण समाज के निर्माण हेतु वेदों में लोभ को सभी अधर्मों का मूल कहा जाता है। लोभ से ही क्रोध, काम, मोह, माया, अभिमान, उदण्डता तथा पराधीनता आदि दोष उत्पन्न होते हैं। श्रुति आदेश होती है कि भौतिक धन संपदा चलायमान है तथा ये किसी की साथी नहीं होती। धन की बहुत सीमित उपयोगिता है अतः येन केन प्रकारेण धन कमाने की भावना को त्यागना ही कल्याणकारी है। जिस प्रकार माता अपने पुत्र के प्रति वात्सल्य का भाव रखती है उसी प्रकार मनुष्य को मनोमालिनी और द्वेष का परित्याग कर वास्तविक सहयोग को बढ़ाना चाहिये। फलस्वरूप समाज और परिवार में हृदय और मन में परम्परा एकता प्रेम और सदभाव की भावना का संचार होगा तब प्राणी प्राणोत्सर्ग करने को तत्पर होगा और समाज में सामंजस्य और समता की भावना का विस्तार होगा।

सामान्यतः यह देखा गया है कि वर्तमान समाज का स्वरूप यदि किन्ही कारणों से सुसंस्कृत नहीं है तो इसका काफी बड़ा कारण समाज के सदस्यों की एकांकिक मनोवृत्ति भी है। जिस कारण से स्वार्थवश मनुष्य इस तरह के क्रियाकलापों में संलग्न हो जाता है। जो समाज के अन्य सदस्यों के लिये वांछनीय नहीं होता।

वैदिक युग में सामाजिक सदस्यों को जिस प्रकार की मनोवृत्ति एवं क्रियाकलापों में संलग्न होना चाहिये इसका दिशा निर्देश प्रायः हमें उपलब्ध होता है। जिससे यह ज्ञात होता है कि उस युग का मानस किस प्रकार के समाजशास्त्र की रचना करता था। भगवद्गीता में स्वार्थ वश एकांतिक हुए लोगों के सदर्थ में यह उल्लेख आता है कि कोई भी छोटा या बड़ा जब पारस्परिकता के अनन्त मार्ग पर चलना छोड़ देता है वह एकांतिक हो जाता है किन्तु कोई कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो, एकांतिक होकर जी नहीं सकता। ऐसा करके वह निश्चित रूप से अपने पतन, विनाश तथा अभाव को आमंत्रित करता है। ऋषियों मुनियों का कथन है कि सर्वशक्तिशाली ईश्वर एकांतिक नहीं रहता। भगवद्गीता में इसका अनुवाद करते हुए ईश्वर के लिये मैं शब्द का प्रयोग करते हुए कहा गया है कि यदि मैं एकांतिक बना रहूँ तो सारे लोग नष्ट हो जायेंगे सर्व शून्यमय हो जाएगा। इसी हेतु मैं बिना किसी स्वार्थपूर्ति के अपनी प्रकृति के वश में हुए बिना बार-बार रचता रहता हूँ अर्थात् जब सर्वशक्तिशाली भी एकांतिक नहीं रहता, जब ईश्वर तत्त्व एकांतिक नहीं रहता तब भला कोई मानव कैसे एकांतिक रह सकता है। क्या उसे रहने के लिये भूमि और आकाश का अवकाश नहीं चाहिये। क्या जन्म लेने के लिये माता-पिता और संप्रेषणीयता के लिये अन्य मानव नहीं चाहिये। इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि किसी भी प्रकार का एकान्त मानव के लिये असंभव है। एकान्त से मानव समाज से कटने लगता है या अन्ततः अलग-थलग पड़ जाता है तथा परमार्थिक एकांत से एकदम शून्य में धकेल देता है। जैसा कि उपर्युक्त विवेचित है कि ऐसा शून्य तो ईश्वर को भी अपेक्षित नहीं है। अतः मानव के लिये आवश्यक है सबके साथ तालमेल बिठाना, पारस्परिकता और समभावात्मक व्यवहार में अपने आप में आरूढ करना।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि वैदिक युग एवं वैदिक परम्परा जिसे प्रायः हम उन्नत मानव सभ्यता का शीर्ष भी कह सकते हैं, उस युग में समाज सन्मति जो सूत्र हमें प्राप्त होते हैं वे एक ऐसे समाज शास्त्र निर्माण की ओर संकेत करते हैं जिसका मूल आधार कल्याण एवं शांति है तथा इसी आधार पर मानव कर्तव्यों को भी निर्दिष्ट किया गया है। ज्ञातव्य है कि सामाजिक चेतना कमी विराम नहीं लेती। उच्चतम आदर्शों की प्राप्ति के लिये वह निरंतर प्रयासरत रहती है। मानवीय सभ्यता के प्रारम्भ से चला आ रहे इस प्रयास में आगे भी निरंतरता रही है। जिसका प्रमाण हमें श्रमण परम्परा से भी ज्ञात होता है।

श्रमण परम्परा

जैन परम्परा

श्रमण परम्परा के अन्तर्गत जैन एवं बौद्ध धर्म समाहित होते हैं। दोनों ही अनीश्वर वादी हैं तथा ईश्वर में विश्वास नहीं करते। जैन विश्वास के अनुसार सृष्टि आंतरिक नियमों से संचालित होती है। ये न तो ईश्वर द्वारा बनाई गई हैं न ईश्वर द्वारा संचालित होती हैं। अहिंसा और सत्य की साधना समाजव्यापी बनाने का श्रेय भगवान पार्श्व को दिया जाता है। भगवान पार्श्व अहिंसक परम्परा के उन्नयन द्वारा बहुत लोकप्रिय हो गये थे। अहिंसा जैन धर्म का आधारभूत सिद्धान्त है। जैन परम्परा में अहिंसा को इतना महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है कि यदि अहिंसा को जैनधर्म का पर्याय कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। अहिंसा का सर्वसाधारण आशय यह है कि स्वयं और दूसरों को जीने दे। इसका आशय यह है कि किसी भी प्राणी, व्यक्ति, जीव जन्तु अथवा वनस्पति का न वध करो न ही किसी प्रकार का कष्ट दो। तत्कालीन काल में समाज में जाति प्रथा और उंच नीच की भावनाएँ विद्यमान थी महावीर ने इस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए स्वीकारा था कि जब व्यक्ति एक समान है। क्योंकि सभी के अनुसार सभी व्यक्ति मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार जैन धर्म में समाज के सभी व्यक्तियों को समानता प्रदान की है। इसके परिणामस्वरूप हिन्दु धर्म का

जटिल जातिबंधन ढीला हो गया। तथा तात्कालिक ब्राह्मण समाज की विकृति को दूर करने में जैन परम्परा ने सहयोग किया। इस धर्म के अनुसार मनुष्य को अपने किये हुए कर्मों का फल भोगने के लिये पुनर्जन्म लेना पड़ता है। परिणामस्वरूप लोगों में यह भावना जागृत हुई की उन्हें अच्छे कार्य करने चाहिये। जैन धर्म के जैन गृहस्थों को अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच अणुव्रतों के अनुसार जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दी जाती है। इन सिद्धान्तों ने भारतीय सामाजिक जीवन को पवित्र तथा शुद्ध बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। जैन धर्म के अनुसार मनुष्य को अपनी आत्माशुद्धि के लिये व्रत और उपवास करने चाहिये। इस प्रकार जैन धर्म ने उच्च नैतिक जीवन का आदर्श जनता के सम्मुख रखा तथा भारतीय संस्कृति को बहुत अधिक प्रभावित किया। इस परम्परा के सिद्धान्त पर चलकर आज का मानव सुख और शांति प्राप्त कर सकता जिससे लोककल्याणकारी समाज की स्थापना हो सकती है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में श्रमण परम्परा के अन्तर्गत जैन परम्परा में अहिंसा शांति के समाजशास्त्र की सुंदर नियोजना हुई है तथा मार्ग भी प्रतिष्ठित हुआ है।

बौद्ध धर्म दर्शन

बुद्ध का धर्म ईश्वरीय नहीं है, यह लौकिक है। बुद्ध ने न तो ईश्वर और नहीं ही आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया और न ही उन्होंने अपने को ईश्वर या ईश्वर के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने सदा अपना परिचय एक व्यक्ति के रूप में दिया। धर्म को अनुभव पर आधारित व्यवहार के सिद्धान्त के रूप में विकसित किया। बुद्ध के अनुसार जिस प्रकार समाज में दुख का अस्तित्व है, बुद्ध का धम्म वह मार्ग है जिस पर चलकर व्यक्ति दुख से मुक्ति पा सकते हैं। इस प्रकार बुद्ध ने अपने को मोक्ष दाता नहीं अपितु मार्ग दाता के रूप में प्रस्तुत किया है। दुख से मुक्ति अर्थात् तृष्णा के निवारण के लिये उन्होंने निम्नलिखित मार्ग का निरूपण किया है जिससे कि व्यक्ति एवं समाज संबंधित व्यवस्थाओं को अहिंसा एवं शांति की दृष्टि से पल्लवित किया जा सके।

1. सम्यक् दृष्टि – अविद्या (दुख को न जानना), का विनाश सम्यक् दृष्टि का उद्देश्य है
2. सम्यक् संकल्प – उच्च स्तर की आशओं और आकाक्षाओं को रखना सम्यक संकल्प है।
3. सम्यक् वाणी— सम्यक वाणी में निम्न बातें आती हैं।
 - (i) सत्य
 - (ii) झूठ न बोलना
 - (iii) दुसरे की बुराई न करना
 - (iv) दुसरे के बारे में बात न फैलाना।
 - (v) कठोर वचन न बोलना।
 - (vi) विनम्र वाणी बोलना।
 - (vii) व्यर्थ मूर्खतापूर्ण बात न करना।
4. सम्यक् कर्मात्— इसका आशय है सदाचरण से है। ऐसा आचरण जो अपने साथ-साथ दूसरे की भावनाओं, हितों और अधिकारों को ध्यान में रखकर किया जाये।
5. सम्यक् आजीविका— बिना किसी के हितों को क्षति पहुंचायें या किसी के साथ किसी प्रकार का अन्याय किये यदि व्यक्ति अपनी आजीविका कमाता है, उसे सम्यक् आजीविका कहते हैं।
6. सम्यक् व्यायाम— यह वह मार्ग है जिससे अविद्या रूपी अहंकार नष्ट किया जा सके। इसके चार

उद्देश्य है—

- (i) विरोधी चित प्रवृत्तियों को रोकना।
 - (ii) विरोधी चित प्रवृत्ति जो उत्पन्न हो गई है उनका शमन करना।
 - (iii) उदात्त चित प्रवृत्तियों को विकसित करना।
 - (iv) सहायक चित प्रवृत्ति में वृद्धि करना।
- 7 सम्यक् स्मृति— सम्यक् स्मृति का अर्थ मन का सतत् जागरूक रहना है।
- 8 सम्यक् समाधि— जो व्यक्ति उपर्युक्त अवस्थाओं को प्राप्त करना चाहता है उसके मार्ग में लोभ, द्वेष, आलस्य एवं अनिश्चय आदि उपस्थित होती है। इन बाधाओं से मुक्त होने का उपाय समाधि है। समाधि का अर्थ है ध्यान या चित में स्थायी एकाग्रता।

बौद्ध परम्परा सामाजिक सदंर्भों में किस प्रकार से अहिंसा एवं शांति स्थापना में विशेष योगदान रखते हैं इसका उदाहरण हमें बुद्ध के उपदेशों से प्राप्त होता है। जिससे मुख्य: पांच बातों पर बल दिया गया है।

1. सत्य का आचरण
2. अहिंसा का पालन
3. सबके प्रति प्रेम भाव रखना
4. सभी जीवों के प्रति समता
5. स्वावलम्बी बनना।

जहां तक अहिंसा का प्रश्न है बुद्ध ने अहिंसा पर बल दिया है किन्तु अहिंसा की शास्त्रीय व्याख्या नहीं की है। बाद के भाष्यकारों ने परिस्थितिजन्य साक्ष्यों के आधार पर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि अहिंसा से बुद्ध क्या चाहते थे। बुद्ध ने अहिंसा का जीवन एक पथ अथवा एक शील माना है। बुद्ध ने जनता को एक सरल धर्म दिया जो सब प्रकार के आडम्बरों, कर्मकाण्डों एवं अंधविश्वासों से मुक्त था। बौद्ध धर्म ने जाति भेद तथा उंच नीच का विरोध करते हुये सामाजिक समानता पर बल दिया। इस परम्परा ने भारतीयों के आपसी भेदभावों को कम कर दिया जिससे राजनीतिक एकता को बल मिला।

बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर कई शास्त्रों ने उदारता और सहिष्णुता की नीति पर चलते हुए जनकल्याण के लिये अनेक कार्य किये। अशोक ने इस धर्म से प्रभावित होकर समस्त विश्व को अपना कुटुम्ब माना और शांति के बल पर उस पर विजय प्राप्त करने का प्रयास किया। रोमिला थापर ने लिखा है कि अशोक ने बौद्ध से प्रभावित होकर, पशु, पक्षियों, कृषकों, निधनों और आदिवासियों के प्रति सहानुभूति की नीति अपनाई और प्रजा की भलाई के लिये अनेक कार्य किये। कालान्तर में कनिष्क तथा हर्ष ने भी प्रजा की भलाई में विशेष रुचि ली।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि धार्मिक परम्पराओं में चाहे वैदिक हो, जन अथवा बौद्ध हो लोक कल्याणकारी मतों में विभिन्नता होते हुए सार एक ही है कि ऐसे समाज का निर्माण करना जिसमें एकता, अखण्डता, सौहार्द, की भावना, तथा प्रेम, भाईचारा की भावना समन्वित हो। जैसा कि पूर्व में उल्लेखित किया गया कि विभिन्न धर्म दार्शनिक एवं चिन्तन की परम्पराओं ने भारतीय संस्कृति एवं समाज के उन्नयन हेतु महत्वपूर्ण योगदान दिया है। समाज के उदात्त स्वरूप के विकास हेतु जिन अवधारणाओं ने रूप ग्रहण कर लिया कालान्तर में उसे समाज शास्त्र की संज्ञा दी गई। समाज के विशिष्ट स्वरूप हेतु ही इस चिन्तन का मुख्य ध्येय रहा है अतः इसे अहिंसा एवं शान्ति के समाजशास्त्र की संज्ञा दी जाती है। उपर्युक्त वैदिक, बौद्ध जैन परम्पराओं के अतिरिक्त यद्यपि कई विचारकों को उल्लिखित किया जा सकता है तथापि हम यहां मुख्य रूप से मनु, कौटिल्य, कबीर, गांधी एवं महाप्रज्ञ के समाज — दर्शन का ही मुख्य रूप से वर्णन करेंगे।

मनु

महान व्यक्ति और महान व्यक्तियों के विचारों के किसी देश विशेष का या समाज विशेष का ही अधिकार नहीं होता वरन् वे समस्त मानव वर्ग की अमूल्य निधि होते हैं। प्राचीन धार्मिक, पौराणिक एवं राजनैतिक साहित्य में मनु के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। मानव जाति के प्रथम पुरुष एक प्रसिद्ध वैदिक ऋषि आर्य विधि के प्रथम संहिताकार, भारतीय प्रथम राजा आदि के रूप में मनु को संबोधित किया जाता है। प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति के ऐतिहासिक विकास में मनुस्मृति का काफी योगदान रहा है। मनु का सामाजिक दर्शन मुख्यतः परिवार, वर्ग, एवं आश्रम की धारणा से संबंधित है। मनु ने अपने सामाजिक दर्शन के द्वारा समाज के संगठन को एक स्थायी आधार देने की चेष्टा की है। मनु की समाजव्यवस्था में वर्ण एवं आश्रम के नियमों का विशेष महत्व है। मनु की समाज व्यवस्था में व्यक्ति का कार्य स्तर एवं महत्व उसके वर्ण के संदर्भ में तय किया गया है उनके अनुसार वर्ण व्यवस्था का आधार वास्तव में कर्म था। यद्यपि कालान्तर में विकृतियों के समावेश होने के कारण उसे जन्म आधारित माने जाने लगा। समाज में इन वर्णों का पृथक-पृथक कर्तव्य माना जाता है। ब्राह्मण का कर्तव्य अध्ययन-अध्यापन, यश, दान आदि माना जाता है। क्षत्रिय का कर्तव्य प्रजा की रक्षा करना, दान देना आदि विषयों में लग जाना है। वैश्य का काम है पशुओं की रक्षा करना, दान देना, व्यापार करना एवं कृषि करना, शुद्र का कर्तव्य है द्वेष रहित होकर उपरोक्त तीनों वर्णों की सेवा करना। उपर्युक्त चारों वर्णों से मिलकर समाज का निर्माण हुआ है। समाज सुव्यवस्थित रूप में उसी समय तक चलता है जब तक चारों वर्ण अपने-अपने धर्म का पालन करते रहे। मनु का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति को निष्ठापूर्वक अपने वर्ण-धर्म का पालन करना चाहिये और अन्य वर्ण के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार मनु ने मानव के सम्पूर्ण विकास के लिये जीवन को चार भागों में विभाजित किया है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास। सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिये मनुष्य को इन चारों आश्रमों से गुजरना पड़ता है। इनमें से प्रथम तीन तो सामुहिक जीवन को बनाये रखने के लिये हैं और अंतिम पूर्णरूपेण आध्यात्मिक जीवन के लिये हैं। आश्रम व्यक्ति की भावनाओं को प्रकट करने का अवसर प्रदान करते हैं। आश्रम का अर्थ है स्थान अथवा स्थिति। व्यक्ति और इन सामाजिक संस्थाओं में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। यह संस्थाएँ तो व्यक्ति के जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति इन आश्रमों में प्रवेश करके जीवन के सर्वोच्च उद्देश्य को प्राप्त कर सकता है तथा प्रत्येक आश्रम व्यक्ति को दूसरे आश्रम में प्रविष्ट होने के लिये तैयार करता है।

कर्तव्य आधारित राज्य एवं समाज व्यवस्था के सन्दर्भ में भी मनु ने अपने विचारों को प्रकट किया है। उसने ऐसी व्यवस्था को स्वीकार किया है। जिसका आधार अधिकार की अपेक्षा कर्तव्य है एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था जिनमें राजा भी कर्तव्य से बंधा है और प्रजा भी राजभक्ति तथा स्व-धर्म के पालन के कर्तव्य से बंधी हुई है। मनु के अनुसार राजा का यह कर्तव्य है कि वह प्रजा के विभिन्न वर्णों से उनके धर्म का पालन कराये और विभिन्न वर्णों में सामंजस्य बनाते हुए लोक उपकारी कार्य सम्पादित करे ताकि शासन सुदृढ़ हो सके इस प्रकार मनु ने राजतंत्र के प्रजा पालक स्वरूप पर बल दिया और राज्य के प्रजा हितकारी संस्था के रूप पर बल दिया और राज्य को प्रजा हितकारी संस्था के रूप में मान्यता दी। मनु द्वारा प्रस्तुत सामाजिक एवं न्यायिक प्रणाली व्यक्ति द्वारा सम्पूर्ण कर्तव्यों का पालन करते हुए राज्य के कल्याणकारी स्वरूप के परिलक्षित करने वाली प्रणाली कही जा सकती है।

कौटिल्य

कौटिल्य कल्याणकारी राज्य की सैद्धान्तिक नींव रखने वाला सर्वप्रथम विचारक है। कौटिल्य ने इसके लिये समान अर्थ वाला संस्कृत शब्द योगक्षेम शब्द प्रयुक्त किया है। जिसका अर्थ प्रसन्नता व सम्पन्नता युक्त कल्याण है यह शब्द आधुनिक कल्याणकारी राज्य के उद्देश्यों को इंगित करता है। अर्थशास्त्र में राज्य के अस्तित्व का कारण सामाजिक, आर्थिक जीवन को नियमों में बांधकर धर्म, अर्थ, काम की उन्नति करना बताया गया है। कौटिल्य ने समाज व्यवस्थित करने के लिये प्रत्येक पक्ष चाहे वह शिक्षा, चिकित्सा, न्याय, मंहगाई, नारी संरक्षण आदि से गम्भीरता से विचार किया है। कौटिल्य ने इस बात का समुचित ध्यान रखा है कि कोई भी गतिविधि ऐसी न हो जिससे आम जनता को कष्ट हो या उनकी व्यक्तिगत सामाजिक या किसी भी प्रकार की वांछनीय उन्नति बाधित हो। कौटिल्य ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति एक सशक्त संशोधित उन्नत राष्ट्र के निर्माण में लगा दी। ऐसे राष्ट्र के निर्माण हेतु एक सम्य सुसंस्कृत समाज का होना अत्यावश्यक है। इसलिये कौटिल्य सामाजिक जीवन को सुसंस्कृत बनाने हेतु सब प्रकार के विविध विचार जैसे उत्तम शिक्षा, शीघ्र व सस्ती चिकित्सा अकाल बाढ़ आदि, विपदाओं से संरक्षण, हानिप्रद विलासिताओं से बचाव, पेयजल की व्यवस्था, उपवन व बगीचों की स्थापना, सस्ते, स्वस्थ, प्रेरणास्पद कार्यक्षमता वृद्धि करने वाले मनोरंजन की व्यवस्था, विद्वानों वक्ताओं का चरित्रप्रधानों का सम्मान तथा अभावग्रस्त लोगों की सहायता आदि प्रस्तुत किये हैं। इस संबंध में कौटिल्य का ये कथन स्मरणीय है कि राज्य को अपने गुणों से जनता को आच्छादित कर देना चाहिये तथा सदैव धर्म, कर्म, अनुग्रह, दान तथा सम्मान आदि श्रेष्ठ कार्यों से जनता के अनुकूल कल्याणकारी परियोजनाएं संचालित करते रहना चाहिये। कौटिल्य ने शिक्षा की महत्वपूर्ण उपादेयता तथा व्यवस्था की ओर भी संकेत किया है। इनका मत है कि अशिक्षित व्यक्ति शीघ्र ही दुर्गुनों के शिकार हो जाते हैं क्योंकि अज्ञानवश उन्हें परिणामों का ज्ञान नहीं होता है। अतः राज्य का ये कर्तव्य है कि वह शिक्षा के प्रचार प्रसार से जनता को विनम्र व शिक्षित बनाये। कौटिल्य का मत है कि राज्य को आम जनता के वेश भाषा आदि आचरण का सम्मान करना चाहिये तथा समय-समय पर समाज उत्सव आदि का आयोजन करते रहना चाहिये इससे आम जनता में राष्ट्र के प्रति आस्था पैदा होती है। समाज का अस्तित्व बनाये रखने के लिये सामाजिक संगठनों का सुव्यवस्थित होना जरूरी है। इसके अभाव में समाज में अराजकता फैल जायेगी, सामाजिक जीवन नष्ट हो जायेगा तथा सबल निर्बल की सताने लगेंगे अतः सामाजिक व्यवस्था महत्वपूर्ण है। कौटिल्य की न्याय व्यवस्था में तत्व ग्राही बुद्धि का परिचय मिलता है। कौटिल्य का विचार है कि मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मान, मद, हर्ष आदि कषायों के वशीभूत होकर अधर्म तथा अपराध की ओर प्रवृत्त हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन करे, धर्म तथा नीति में प्रवृत्त रहे, यही कौटिल्य की न्याय व्यवस्था का ध्येय है। सामाजिक अतिक्रमणों का कौटिल्य ने दण्ड का विधान किया है। उसका मत है कि समाज में कर्तव्य निष्ठ नागरिकों, तथा सत्कार्य, श्रेष्ठ आचार व्यवहारों को प्रोत्साहन होना चाहिये। उसे अनाचार तथा अनाचारी व्यक्तियों को यत्नपूर्वक रोकना चाहिये तथा पनपने नहीं देना चाहिये। उसने राज्य कर्मचारियों को राज्य के प्रति निष्ठा तथा आम जनता के प्रति सेवा भाव सुनिश्चित बनाने के लिये बहुत सीख भी दी है। समाज को सुव्यवस्थित व शांत बनाने के लिये अर्थशास्त्र के पांचवे अधिकरण में कौटिल्य ने समाज के आर्थिक स्वरूप अन्वेषण जनहित में नये कर लगाना, अनुत्प्रेदक सहायताओं की समष्टि आदि का उल्लेख किया है।

कौटिल्य हमारे आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक जीवन के ऐसे प्रतीक हैं जिनके आदर्श व चिन्तन पर इतने लम्बे काल में भी कभी प्रश्न चिन्ह नहीं लग पाया। सामाजिक व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में कौटिल्य एक ऐसा आदर्श है जिसकी कल्पना भारतवासी करते रहते हैं तथा प्रत्येक राजनेता से आशा करते हैं कि वह बड़े से बड़े पद पर रह कर भी वैसा ही जीवन व्यतीत करे। कौटिल्य अपनी रचनात्मक प्रतिभा तथा अनुशासित सार्वजनिक

जीवन के लिये पूरे भारत में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व में अद्वितिय है। यह भी कहना उचित होगा कि कौटिल्य ने भारत का एकीकरण करके नवजागरण की उपलब्धियों को स्वीकार करते हुए तथा शासन तंत्र को नियंत्रण कर भारत के लोक कल्याणकारी स्वरूप के चिन्तन को न केवल विस्तार दिया अपितु तत्कालीन परिस्थिति के संदर्भ में मौलिक आकार भी दिया जिससे भारत के संदर्भ में समाजशास्त्रीय चिंतन का विकास आधारित रहा।

संत कबीर

जब जब धरा पर नैतिक व मानवीय मूल्यों का पतन होता है तब-तब समाज एवं प्रकृति को एक युग अवतार के आगमन की प्रतीक्षा रहती। समाज में जन्म लेने वाली समस्याओं के समाधान के लिये नई चेतना, नई दिशा की आवश्यकता महसूस होती है। मानवीयता और नैतिक मूल्यों की पुर्नस्थाना के लिये क्रांति जन्म लेती है। इस क्रांति को कोई दिव्य आत्मा ही प्रज्ज्वलित कर सकती है। महात्मा कबीर ऐसे ही क्रांतिकारी युगदृष्टा थे जो मध्यकाल के अज्ञान के वातावरण में अपना ज्ञानद्वीप लेकर समाज के मध्य अवतरित हुए जिससे भूली-भटकी जनता ने उचित पथ और संबंध पाया। जिस समय उनका जन्म हुआ था उस समय समाज में ऐसे शासकों के शासन का युग था जिससे उस समय की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थितियां विषम अवस्था में थी। जिन विषमताओं में भारतीय समाज सांस ले रहा था वे जीवन को कोई भी दिशा नहीं दे पा रही थी। तत्कालीन समाज में आचार-विचार, संस्कृति, भाषा, धर्म आदि खाई बढती जा रही थी साथ ही हिन्दु धर्म में बाह्य आचार के कर्मकाण्डों द्वारा अपने धर्म की व्यवस्था को कठोर से कठोरतम बनाती बनाती जा रही थी। कबीर ने अपने क्रांतिकारी व्यक्तित्व के माध्यम से समाज, धर्म, जातिप्रथा, छुआछूत तथा विविध प्रकार के आडम्बरों का विरोध किया और आंतरिक शुद्धता पर अधिक बल दिया। यही वह बिन्दु है जहां कबीर एक समाज सुधारक का रूप ले लेते हैं तथा कल्याणकारी समाज की संकल्पना को प्रस्तुत करते हैं।

ये शाश्वत सत्य है कि व्यक्ति और काल का अर्थात् व्यक्ति और समकालीन परिवेश का घनिष्ठ संबंध होता है। तथा विभिन्न काल में अपनी अनेक समस्याओं के समाधान हेतु प्रयास भी कालानुरूप होते हैं। निःसंदेह कबीर जैसे विचारकों की अवधारणा समाज कल्याण हेतु ही हुई है। कबीर काल में वर्ण व्यवस्था का विकृत रूप बाह्य आडम्बर, अंधविश्वास, जातिवाद, धार्मिक विद्वेष आदि जैसी कुरीतियां पूरे समाज में व्याप्त थी। साहित्यिक साक्ष्य एवं तथ्यों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में प्रायः उच्च वर्ग से निम्न वर्ग तक नैतिकता का व्यापक पतन हो रहा था। भ्रष्टाचार, विलासिता का बोलबाला था तथा सम्पूर्ण सामाजिक परिवेश भ्रष्टाचार में लिप्त था। इस काल की धार्मिक परिस्थितियां भी बहुत अधिक स्वस्थ नहीं थी। शैव, वैष्णव, बौद्ध एवं जैन आदि अनेक धर्मों को मानने वाले अनेक अनुयायियों में धार्मिक सौहार्द का अभाव था। मुस्लिम आक्रान्ताओं के कारण पहले से ही विकृत धार्मिक परिस्थितियों में और भी विकृतियां समाहित होती गईं। वैदिक धर्म के क्रियाकाण्डों में विकृतियों के प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न बौद्ध एवं जैन धर्म में भी वह शुद्धता नहीं रही जो उसके प्रारम्भ में थी। कालान्तर में जैन और बौद्ध धर्म के कई सम्प्रदाय उदित होने के कारण स्पर्धा के परिणामस्वरूप दोनों धर्मों का कार्यक्षेत्र संकुचित होता गया।

उपर्युक्त विवेचित परिस्थितियां कबीर के हृदय को उद्देलित करती गईं अतः ऐसी समस्याओं के संदर्भ में उन्होंने आलोचनात्मक टिप्पणियां की। कबीर के विचार में आदमी को ऐसे संसार में पैदा होना चाहिये। जो मानव समाज में छूत अछूत, उंच नीच का भेद पैदा नहीं करे। कबीर मानव समाज को विशुद्ध सामाजिकता की दृष्टि से देखते थे। इसलिये उस समाज में उपर से आरोपित आवरण थे, वे उनको उतार फेंकना चाहते थे। वे मानव

जीवन के व्यवहार का एक धर्म के रूप में देखना चाहते थे और समाज के प्रचलित सारे कर्मकांडों का तिरस्कार करना चाहते थे। वास्तव में कबीर ने जो कुछ कहा है वह सर्वसाधारण के लिये कहा है तथा समस्त के कल्याण लिये भी कहा है। कबीर के साहित्य की विवेचना से ज्ञात होता है कि कबीर समाज से विलग होकर कुछ भी नहीं कह पाये, उन्होंने जो कुछ कहा वह समाज सापेक्ष था जिसमें व्यक्ति सापेक्षता भी समाहित रहती है। व्यक्ति और समाज के मध्य संबंधों को उन्होंने गर्भाधान से लेकर मृत्यु तक की घटनाओं की विवेचना मार्मिक एवं सरल ढंग से की है समाज में रहते हुए अनेक संस्कारों से जुड़े शुभ अशुभ विवेचन के द्वारा स्पष्ट प्रतीत होता है कि व्यक्ति एवं समाज के पारस्परिक संबंधों को कबीर महत्वपूर्ण मानते हैं।

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया था कि कबीर का युग महत्वाकांक्षा और लोलुपता का युग था। जिस कारण से मनुष्य में मानवता तथा करुणा का प्रायः अभाव हो गया था। कबीर का हृदय इस मानवीय विकृति के कारण संवेदना करुणा तथा प्रेम से भर गया। इन भावनाओं के उद्वेग के कारण ही कबीर ने संतोष, संयम दीनता तथा क्षमा का वैयक्तिक जीवन का आदर्श स्वीकारा। उनकी दृष्टि व्यक्ति पर केंद्रित थी। वो भी इस बात को स्वीकार करते थे कि व्यक्ति का सुधार ही समष्टि के सुधार का आधार होता है। वे आत्म हृदय थे तथा इसी दृष्टि से वे पूरे समाज को देखते थे तथा समाज के प्रत्येक व्यक्ति को समता की दृष्टि से देखते थे। कबीर कालीन समाज में जातिवाद की समस्या जटिल थी जिससे समाज विभिन्न वर्गों में बंट गया था तथा संघर्ष की विभिन्न स्थितियां पैदा हो गई थी। वर्ण भेद की भावना जम गई थी और निम्न वर्ग को उच्च वर्ग में समाज की समकक्षता प्राप्त नहीं हो सकी। व्यक्ति निर्माण एवं विकास के लिये वे निष्काम कर्म योग पर बल देते थे। व्यक्ति को महत्वपूर्ण मानने के उपरांत भी वे मानव शरीर सौंदर्य शरीर वैभव, व आदि को क्षणिक मानते थे। अतः व्यक्ति निर्माण के लिये आत्म साधना को आवश्यक मानते थे। साधना के बाह्य पक्ष के संदर्भ में उनकी यह उक्ति विचारणीय है।

पंडित भूले पढि गुन्य वेदा,
आप न पावे नाना भेदा
संध्या तरपन अरु पद कर्मा,
लागी रह इनके आशरमां
गायत्री जुग चारि पढाई
पूछे जाई कुमति किन्ही पाई

व्यक्तिगत जीवन में विनयशील, सहनशील, धैर्यवान, संतोष, अक्रोध, धीरज, परोपकार, सत्संग तथा शांति बनाने को वे आवश्यक मानते थे। साथ ही वे ये भी स्वीकारते थे कि ये गुण कठिन साधना और तपस्या के बाद ही उपलब्ध होते हैं। कबीर का ये विश्वास था कि शीलवंत, विचारशील, मानसा, वाचा, कर्मणा, सेवा धारी, साधु प्रिय, दयालु, आज्ञाकारी, मधुरभाषी, विनीत और संतोष गुणी व्यक्ति निश्चित रूप से उच्च कोटि की साधना कर अपने सर्वोच्च कल्याण को प्राप्त कर सकता है। कबीर के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे मानव मात्र के प्रेमी थे तथा मानव में निहित मानवीयता का अधिक अंकन करते थे।

जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिये ज्ञान
मोल करो तलवार का, पडा रहने दो म्यान

त्याग और परोपकार की शक्ति के द्वारा ही वे अमृत को प्राप्त हुए थे। यदि उनके व्यक्तित्व में एक ओर

भक्ति भाव तथा ज्ञान का स्वरूप समाया था तो दूसरी ओर वे फकीर की तरह स्वयं का जीवन जीते थे कबीर के संबंध में कहा जा सकता था कि वे संत पहले थे कबीर बाद में। लेकिन उनके साहित्य की संख्या तथा उसमें प्रयुक्त शैली उन्हें एक महान साहित्यकार की श्रेणी में स्थापित करती है। उनके द्वारा सृजित साहित्य अकारण नहीं था। उनके जीवन के अनुभव, वास्तविकता, आवश्यकता एवं उपयोगिता के आधार पर प्रचलित साहित्य, न केवल तात्कालिक मानव एवं समाज के लिये मंगल एवं कल्याण के लिये सक्षम था अपितु वर्तमान में भी अपनी विशिष्ट भूमिका निभाने हेतु भी प्रासंगिक है।

अपने दार्शनिक स्वरूप के अर्न्तगत कबीर ने दर्शन की अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं पर विचार कर मौलिक चिंतन की प्रस्तुती दी है। यद्यपि क्षेत्र, द्रव्य, काल के आधार पर स्वरूप में भिन्नता हो सकती है। तथापि कबीर ने जिन दार्शनिक समस्याओं यथा ब्रह्मा, ईश्वर, परमतत्त्व, संसार, माया, मोह आदि पर विचार व्यक्त किये गये हैं। वे अन्य अनेक दार्शनिक समुदायों में भी यथा रूप में स्वीकार किये गये हैं। कबीर के व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण पक्ष उनका समाज के प्रति करुणाशील व्यवहार का है। वे लोक मंगल, एवं लोक कल्याण के लिये लोकतांत्रिक दृष्टिकोण की स्थापना करना चाहते थे। कल्याणकारी या अहिंसक समाज की स्थापना के लिये स्वतंत्रता, समानता और मानव बंधुत्व को उन्होंने मूल मंत्र माना। जीवन दर्शन एवं जीवन शैली के संदर्भ में व्यसन मुक्ति, मांसाहार त्याग एवं अहिंसा के पालन को कल्याणकारी समाज की पूर्व अपेक्षा माना था। समाज का महत्वपूर्ण अंग स्त्री वर्ग की तत्कालीन समाज में निम्न परिस्थितियों का भी वे उन्मूलन करना चाहते थे। नारी को उच्चता पर प्रतिष्ठित करने हेतु वे सदैव प्रयत्नशील रहे। सम्भवतः नारी के महत्व, उसके स्नेहपूर्ण वात्सल्य, अबाध ममता, और क्षमाशीलता ने ही कबीर के अर्न्तमन को छुआ। तभी तो उन्होंने परमात्मा को माता मानकर अपने का बालक माना। कबीर काल में सामाजिक विकास के लिये कोई सशक्त व्यवस्था नहीं इसलिये समाज में भ्रष्टाचार का प्रचलन बढ़ा। अतः कबीर ने समाज के विभिन्न क्षेत्रों में भ्रष्टाचार को दूर कर व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास किया। समाज में व्याप्त वैमनस्यता का विरोध करके उसमें साम्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। परोपकार, सेवा, क्षमा, दान, धैर्य, अहिंसा, आदि का प्रचार करके शुद्ध आचरण एवं सात्विकता की शुद्धि पर बल दिया गया। मिथ्या आडम्बर एवं पाखण्डों का विरोध करके अन्तःकरण की शुद्धि पर बल दिया। उस काल की आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक विषमता आदि को उन्होंने परिवर्तित होकर कल्याणकारी व्यवस्था के रूप में देखने की अपेक्षा की। निष्कर्षतः कबीर मध्यकाल के एक ऐसे विचारक हुए हैं जिनका जीवन आत्मकल्याण के साथ-साथ परकल्याण अर्थात् समाजकल्याण के लिये महत्वपूर्ण योगदान देकर अहिंसा और शांति की संस्कृति को प्रतिष्ठित करता है तथा एक ऐसे समाजशास्त्रीय चिंतन को प्रस्तुत किया है जिसने कालांतर में अहिंसा एवं शांति के समाजशास्त्र की अवधारणा को विकसित करने के लिये एक महत्वपूर्ण आधार प्रस्तुत किया। अहिंसक समाज की स्थापना या अहिंसा शास्त्र के संदर्भ में उपर्युक्त विवेचित से ज्ञात होता है कि भारतीय परम्परा में समाज के संदर्भ में व्यक्ति एवं समाज का चिंतन क्रमशः परिवर्तित एवं विकसित होता गया। क्षेत्र, द्रव्य और काल के आधार पर समाज संबंधी चिंतन अपनी विशिष्टता से तत्कालीन समाज के विकास में सहायक बनता रहा। प्राचीन काल में सामाजिक चिंतन संदर्भ तथा विशिष्टता जहां एक प्रकार की रही वहीं मध्यकाल में कबीर ने तत्कालीन समाज की समस्याओं को दृष्टिगत रखकर अन्य प्रकार का चिंतन दिया। कालांतर में भी भारतीय समाज विभिन्न प्रकार के संक्रमण काल से ग्रसित होता गया किन्तु इतिहास साक्षी है कि व्यक्ति और समाज की चेतना कभी समान नहीं रहती। विभिन्न परिस्थितियों में समस्याओं के समाधान के लिये अनेक इतिहास पुरुष अवतरित हुए हैं जिन्होंने अपने मौलिक चिंतन के द्वारा सामाजिक चिंतन को एक नई दिशा देने का प्रयास किया। महात्मा गांधी

पी, विनोबा भावे, आचार्य तुलसी एवं आचार्य महाप्रज्ञ आदि का नाम भी इसी शृंखला में आता है जिन्होंने आधुनिक का की सामाजिक समस्याओं के समाधान तथा अहिंसक एवं शांति पूर्ण समाजशास्त्र के प्रतिष्ठा एवं विकास के लिये महत्वपूर्ण योगदान दिया।

महात्मा गांधी

महात्मा गांधी ने आदर्श समाज की रूपरेखा स्पष्ट रूप से तैयार नहीं की जिस प्रकार प्लेटो, रूसो और मार्क्स ने अपने आदर्श समाज की रूपरेखा प्रस्तुत की थी। गांधी ने स्पष्ट लिखा है कि मैं पहले ही यह नहीं बता सकता कि पूर्णतः अहिंसक समाज एवं अहिंसा पर आधारित शासन कैसा होगा। फिर भी उनकी पुस्तक 'हिन्द स्वराज्य' और उनके भाजनो, लेखों, वक्तव्यों, आदि से उनके आदर्श समाज की कल्पना की जा सकती है। उनके अनुसार समाज की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये जिसमें मनुष्य सत्य व अहिंसा पूर्ण जीवन व्यतीत करे और सब व्यक्तियों के साथ आत्मीयता का व्यवहार करते हुए जीवन के चरम उद्देश्य की प्राप्ति करे। अतः गांधी के कल्पना का आदर्श समाज वही है जिसमें सभी को आत्म समझे तथा सत्य व अहिंसापूर्ण जीवन व्यतीत करे। गांधी द्वारा प्रतिपादित कल्याणकारी समाज की विशेषताएं निम्न हैं।

1. **वर्ण व्यवस्था**—गांधीवादी समाज में वर्ण व्यवस्था को स्वीकार किया पर उसका आधार उन्होंने जातिगत न होकर कर्म को माना एवं वर्ण के आधार पर लोगों के साथ कोई भेदभाव नहीं स्वीकारा।
2. **जातिय भेदभाव का अभाव**—गांधी ने आदर्श समाज में उंच नीच तथा जाति पर आधारित भेदभाव को अस्वीकार किया उनकी दृष्टि में न कोई अछूत था न कोई सवर्ण था। इस प्रसंग में उनका विचार था कि अस्पृश्यता भारतीय समाज का कलंक है और उनकी कल्पना के समाज में इसका स्थान नहीं था। अस्पृश्यता निवारण, हरिजन उद्धार के कार्य के लिये गांधी का समाज से विशेष आग्रह था।
3. **धार्मिक सहिष्णुता**— गांधी की दृष्टि समाज में व्याप्त सभी धर्मों के प्रति समानतापूर्ण थी। उनके अनुसार विभिन्न धर्मों के अनुयायी अपने-अपने धर्मों का पालन स्वतंत्रता से करे।
4. **स्त्री पुरुष का समान सम्मान**— गांधी ने समाज में स्त्री और पुरुष दोनों को समान अधिकार दिये। किन्तु स्त्रियों का मुख्य कार्यक्षेत्र गृहस्थी को ही स्वीकारा।
5. **गौ वध निषेध**— गांधी गौ वंश की रक्षा को धार्मिक व आर्थिक दोनों ही प्रकार से आवश्यक मानते थे। इसलिए अपने आदर्श समाज में उन्होंने गौवध का निषेध किया।
6. **मद्य निषेध**— गांधी का विचार था कि मादक पदार्थों का सेवन मनुष्य का चारित्रिक रूप से पतन करता है अतः उनके अनुसार समाज में मादक वस्तुओं का न तो कोई उत्पादन होना चाहिये और न ही बिक्री होनी चाहिये।
7. **निशुल्क प्राथमिक शिक्षा**— गांधी जी के अनुसार प्रत्येक बालक को निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा देना समाज का कतव्य है। इसके लिये उनका सुझाव था कि बुनियादि पाठशालाएं हों जो सभी को निःशुल्क प्राथमिक शिक्षाएं प्रदान करे।
8. **विकेन्द्रित राजनीति एवं सामाजिक व्यवस्था**— गांधीजी सत्ता के केन्द्रीकरण के विरोधी थे। उनका विश्वास था कि केन्द्रिकरण जीवन को जटिल बनाता है। व्यक्ति के साहस आदि निर्माण शक्ति को नष्ट

करता है उन्होंने स्पष्ट लिखा था कि केन्द्रीकरण और अहिंसक समाज परस्पर विरोधी है। केन्द्रिकरण में व्यक्ति अपना महत्व खो बैठता है। उनका विश्वास था कि केन्द्रियकरण हिंसा से स्थायी रखा जा सकता है। इसलिये गांधी जी सामाजिक और राजनैतिक जीवन के लिये विकेन्द्रित व्यवस्था का समर्थन करते थे। उनका विश्वास था कि प्रजातन्त्र का सफल बनाने के लिये विकेन्द्रिकरण आवश्यक है।

गांधी जी के अहिंसक आदर्श समाज का स्वस्थ पारिवारिक है इसमें व्यक्ति को समाज के संबंध परिवार के सदस्यों की भांति एक दूसरे पर आश्रित होनी चाहिये। जो उस व्यक्तिवाद को अस्वीकार करते थे वो सामाजिक कर्तव्यों की उपेक्षा करता है उन्होंने उस आदर्शवाद या साम्यवाद को भी अस्वीकार किया है जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता का बलिदान कर दिया जाता है। उनका विश्वास था कि पूर्ण समाज के कल्याण के लिये सामाजिक प्रतिबन्धों को स्वेच्छा से स्वीकार करना कर्म और समाज दोनों के जीवन की समृद्धि करना है। जो सामाजिक सामंजस्य राजनीतिक हस्तक्षेप द्वारा नहीं अपितु सत्य व अहिंसा द्वारा स्थापित है। पारस्परिक सहयोग द्वारा स्थापित है, ऐसे समाज में यदि कोई दोष होंगे तो उनका निराकरण हिंसा और संघर्ष के द्वारा नहीं अपितु अहिंसा और नैतिकता के द्वारा होना चाहिये। इस प्रकार गांधी के द्वारा प्रस्तुत की गई आदर्श समाज की रूपरेखा, की इनके द्वारा निर्धारित राज्य के उपरोक्त स्वरूप को धारण करने पर राज्य के द्वारा कल्याणकारी कार्य किये जा सकते हैं। ज्ञातव्य है कि आधुनिक काल की समस्याओं के समाधान के संदर्भ में गांधी ने जिन उपायों को विश्लेषित किया है। वे अन्ततः ऐसे समाज की स्थापना के लिये उत्तरदायीत्व तत्व की भूमिका निभा सकते हैं जिसमें व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण निहित हो। यद्यपि उनके द्वारा सुझाये गये विचार जीवन के विभिन्न पक्षों के संदर्भ में व्यावहारिक प्रतीत नहीं होते तथापि यह चिंतन ऐसे आदर्श के स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं जो अहिंसा के समाजशास्त्रीय अवधारणा को और अधिक पुष्ट करने में सहायक हो सकते हैं।

गांधी ने आदर्श समाज व्यवस्था को अहिंसक समाज अर्थात् एक ऐसा समाज जो अहिंसक नीतियों एवं कार्यक्रमों पर आधारित हो का नाम दिया। गांधी की कल्पना के आदर्श समाज को एक ऐसी विकेन्द्रित सामाजिक प्रणाली के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें सत्य, अहिंसा, सेवा भावना, आत्मनिर्भरता और अपने हितों के स्थान पर दूसरों के हितों को अग्रसर करने वाली प्रवृत्ति समाज के सभी सदस्यों को अनुप्राणित करे। गांधी का विश्वास था कि ऐसी सामाजिक प्रणाली में अन्याय या शोषण के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता। इस समाज की रचना विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त पर आधारित होगी। अतः समाज में बौद्धिक और आर्थिक असमानता उत्पन्न ही नहीं हो सकेगी। इस समाज में न्याय प्रमुख आदर्श होगा। गांधी की आदर्श सामाजिक संकल्पना को निम्न बिन्दुओं के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है।

1. वर्ण व्यवस्था— गांधी के मत में वर्ण व्यवस्था मूल रूप में समाज के सदस्यों की क्षमताओं के अनुसार उनके कर्तव्य के विभाजन की वैज्ञानिक प्रणाली है। इसका उद्देश्य विभिन्न वर्णों के सदस्यों के मध्य हीनता या श्रेष्ठता के भेद उत्पन्न करना नहीं है। इसका मत है कि कर्तव्यों का व्यक्ति की प्रवृत्ति के अनुसार चार भागों में वर्गीकरण प्राचीन भारतीय ग्रंथों में प्रतिपादित सिद्धान्त मात्र नहीं है। उन्होंने स्पष्ट किया कि ज्ञान का सृजन व विस्तार, सुरक्षा के लिये शक्ति का प्रयोग, धन व सम्पत्ति का संग्रह व विस्तार एवं मानव जीवन के लिये आवश्यक सेवाएं जुटाना मानवीय गतिविधियों का सहज वर्गीकरण है। गांधी ने स्पष्ट किया कि वर्ण व्यवस्था का नैतिक पक्ष इस भावना में समाविष्ट है कि व्यक्ति कोई विशिष्ट कार्य सम्पन्न कर सकने की अपनी स्वाभाविक क्षमताओं का उपयोग अपने व्यक्तिगत भौतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिये नहीं अपितु सामाजिक हित और स्वयं की आध्यात्मिक उद्देश्यों से प्रेरित होकर करे। इस प्रकार उन्नति के वर्ण व्यवस्था समाज को वर्णों के रूप में

विभाजित नहीं करती अपितु विभिन्न वर्णों के सदस्यों के मध्य सौहार्द और प्रेम के माध्यम से सामाजिक एकता को सुनिश्चित करती है। ये वैश्विक आधार पर समाज को संगठित करने के लिये व्यवहारिक आधार प्रस्तुत करती है और एक ऐसा वातावरण बनाती है जिसमें व्यक्ति सर्वोत्तम रीति से क्षमताओं का सामाजिक हित में उपयोग करते हुए अपने चरम आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति कर सके। गांधी वर्णों के आधार पर असमानता के समर्थक नहीं थे। शूद्र वर्ण को निम्न समझने के दृष्टिकोण को धर्म सम्मत बताने वालों के तर्कों को गांधी ने दृढतापूर्वक विरोध किया। उन्होंने कहा कि यदि कोई शास्त्र भी असमानता का समर्थन करता हो तो उसे शास्त्र मानना भी उचित नहीं है। किसी को वर्ण के आधार पर हीन मानना धर्म नहीं अपितु धर्म का निषेध है। गांधी ने कायिक श्रम की अनिवार्यता के विचार से समाज में शूद्र वर्ण की निम्न स्थिति का प्रभावशाली ढंग से प्रतिकार किया। उन्होंने प्रतिपादित किया कि प्रत्येक वर्ण के सदस्य को अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये आवश्यक साधन स्वयं श्रम करके जुटाने चाहिये।

यद्यपि गांधी जी वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक थे तथापि उनके साहित्य में आश्रम संबंधी संकल्पनाओं की व्याख्या का अभाव दृष्टिगोचर होता है। फिर भी उन्होंने स्पष्ट किया कि वर्णव्यवस्था आश्रम में व्यवस्था के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है। वे ये मानते थे कि वर्ण व्यवस्था केवल सामाजिक संगठन का सिद्धान्त नहीं है। ये व्यक्ति की नैतिक उन्नति के लिये आवश्यक है क्योंकि व्यक्ति अपने कर्तव्यों की निष्ठापूर्वक निर्वाह के द्वारा ही अंतिम सत्य का साक्षात्कार करता है अतः उसे अपनी क्षमता के अनुसार कर्तव्यों का विभाजन कर ही लेना चाहिये तथा अपने जीवन के विभिन्न चरणों की भी सार्थक विभाजन कर लेना चाहिये। जीवन के चार चरणों का ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वनवास, सन्यास, आश्रम के रूप में विभाजन भारतीय ग्रन्थों में प्रतिपादित आश्रम व्यवस्था का सार है। गांधी का मत था कि वर्ण व्यवस्था आश्रम व्यवस्था के साथ जुड़कर अधिक सार्थक होती है। वे वस्तुतः वर्ण और आश्रम व्यवस्था को परस्पर आत्म निर्भर और एक दूसरे का पूरक मानते थे।

गांधी की आश्रम व्यवस्था के विश्लेषण से यह तथ्य उभर कर आता है कि गांधी के आदर्श समाज का चिंतन तत्कालीन परिस्थिति में भारत के लिये प्रतिपादित किया गया है। किन्तु ये वस्तुतः सर्वकालिक और सर्वदेशिक है। इन आदर्शों का व्यवहार में प्रयोग सभी काल तथा सभी स्थानों पर एक समान मूल्यवान है। इस प्रकार उनकी आदर्श विश्व व्यवस्था ऐसी व्यवस्था है जहां अहिंसक प्रतिमान स्वतः ही वास्तविक शांति की स्थापना कर सकते हैं।

गांधी ने आदर्श समाजशास्त्र की संरचना के संदर्भ में न केवल सामाजिक संरचनाओं के संदर्भ में विचारों को व्यक्त किया है अपितु सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक विचारों को भी प्रकाशित किया है। विभिन्न आर्थिक वाद, औद्योगिकीकरण तथा उनसे उत्पन्न समस्याओं के समाधान हेतु प्रकाशित दर्शन अहिंसक समाज की संरचना हेतु नवीन दिशा पथ का बोध कराता है। विभिन्न आर्थिक वादों के अन्तर्गत पूंजीवाद वह आर्थिक और राजनीतिक प्रणाली है जो मुख्यतः औद्योगिक क्रांति के बाद विकसित हुई। वस्तुतः आधुनिक युग के औद्योगिक पूंजीवाद को यथार्थ पूंजीवाद के रूप में पहचाना जाता है। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से औद्योगिक पूंजीवाद सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में विकसित हुआ और उसके उपरांत योरोप, उत्तरी अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्युजीलैंड, तथा अब धीरे-धीरे सम्पूर्ण विश्व में फैल गया है। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उपनिवेशवाद के विस्तार के साथ-साथ पूंजीवाद और भी सुदृढ हो गया। 20 वीं सदी के प्रारंभ से अमरीका को प्रायः औद्योगिक क्रांति के प्रमुख गढ़ के रूप में जाने जाना लगा।

आधुनिक युग की तथाकथित प्रगति और विकास के जिन मापदण्डों को प्राप्त करने का ध्येय रहा, उसके कारण जो समस्याएं उत्पन्न हुईं तथा भविष्य में उत्पन्न हो सकती हैं उनके संदर्भ में गांधी ने हिंद स्वराज्य में यह कहकर आलोचना की है कि इस प्रकार की प्रगति केवल चार दिन की चांदनी है तथा ये एक ऐसी संस्कृति व आदर्शों को अनुप्राणित करने में सक्षम है जिसकी वृत्ति आसुरी है अतः ऐसी समस्त आर्थिक सिद्धान्तों एवं क्रियाकलापों का उन्होंने सर्वथा विरोध किया। औद्योगिकीकरण और यंत्रीकरण के संबंध में उनका स्पष्ट मत था कि मैं यंत्रों के विरुद्ध नहीं हूँ, चरखा भी अपने आप में यंत्र है, मैं तो यंत्रीकरण के विरुद्ध हूँ जो मानव की समस्त अभिरुचियों को समाप्त कर उसे यंत्र बनाते हैं। हिंद स्वराज्य में इस प्रकार की भोगवादी आधुनिक सभ्यता की आलोचना करने के साथ उन्होंने आदर्श समाज की परिकल्पना की थी जिसकी आर्थिक गतिविधियों व क्रियाकलाप नैतिकता पर आधारित है। इसलिए उन्होंने यंत्रों को उद्योगों के विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया। आर्थिक एवं वाणिज्यिक परिप्रेक्ष्य में जब गांधी के विचारों का सामाजिक संदर्भों में विश्लेषण किया जाता है तो ज्ञात होता है कि सामाजिक विषमता, अभाव, वितरण की व्यवस्था एवं वर्णभेद आदि के संदर्भ में जिस परिकल्पना को गांधी दर्शन में प्रस्तुत किया गया है वे एक ऐसे समाज का निरूपण करते हैं जिसका मुख्य आधार अहिंसा एवं शांति है। ज्ञातव्य है कि गांधी के समस्त चिंतन का आधार अहिंसा एवं शांति है। स्वयं गांधी ने कहा था कि मैं जीवन के किसी भी क्रियाकलाप में धर्मावहीनता की स्थिति स्वीकार नहीं कर सकता, जिसे उन्होंने सामाजिक आर्थिक व राजनैतिक विचारों में समावेश किया। गांधी के सामाजिक विचारों का अध्ययन एवं विश्लेषण उनके समाज संबंधी एवं आर्थिक विचारों के अतिरिक्त राजनैतिक, शैक्षणिक आदि विचारों में भी प्राप्त होता है कई स्थानों पर ऐसा प्रतीत होता है कि समाज के उदात्त स्वरूप के लक्ष्य को प्राप्त करने में गांधी कहीं-कहीं मार्क्स के विचारों से प्रभावित एवं प्रेरित हुए हैं।

गांधी की मृत्यु पश्चात सर्व साधारण में यह धारणा बैठ गई कि अहिंसा एवं शांति की संस्कृति का विकास गांधी के साथ ही समाप्त हो गया। किन्तु जैसा की पूर्व में उल्लेखित है कि समाज की चेतना कभी समान नहीं रहती है। इसी शृंखला में महाप्रज्ञ का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने गुरुदेव तुलसी के उपरान्त एक नवीन समाज की स्थापना हेतु न केवल मौलिक व अर्थपूर्ण धारणाएं प्रस्तुत की अपितु पूर्ण व्यवहारिक प्रयोगों के सूत्र भी प्रस्तुत किये। उनके द्वारा निरूपित व्यक्ति एवं समाज के दर्शन को वर्तमान में न केवल व्यापक सर्म्भन मिला अपितु उन अवधारणाओं के माध्यम से एक नवीन समाज की स्थापना के लिये भी अवकाश प्राप्त हुआ।

आचार्य महाप्रज्ञ

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार समाज का अर्थ है व्यवहार। कुछ व्यक्तियों का मात्र एकत्रित हो जाना समाज नहीं है। समाज का तात्पर्य है लेन देन, विनिमय तथा व्यवहार। उनके अनुसार समाज की यही परिभाषा है। संस्कृत में दो शब्दों को प्रयोग किया जाता है। समाज एवं समज। जहां व्यवहार होता है वह समाज है तथा जहां व्यवहार की गुंजाइश नहीं होती वह समज है। पशुओं के समूह को समाज नहीं अपितु समज कहा जाता है। व्यक्तियों के समूह को समाज की संज्ञा दी जाती है समाज एक वृहद् यंत्र है और व्यक्ति उसका एक अंग। समाज के महत्व को अंकित करते हुए आचार्य महाप्रज्ञ ने कहा है कि समाज के संदर्भ से कटा हुआ व्यक्ति शकल से भले की मनुष्य लगे किन्तु वस्तुतः वह पशु ही होता है। उनके अनुसार सत्य, अहिंसा एवं अपरिग्रह ये तीन समाज रचना के आधार हैं तथा इन तीनों को सामाजिक मूल्य की संज्ञा भी दी जा सकती है। वर्तमान चिंतन की अभिमुखता समाज की ओर अधिक है, व्यक्ति गौण है समाज प्रमुख है। समाज में परिवर्तन, समाज का

सुधार तथा समाज का विकास चिंतन के ये प्रमुख बिन्दु हैं। व्यवस्था और कानून को सामाजिक बनाया जा सकता है उसका संबंध वस्तु और दण्ड शक्ति से है। अतः उन्हें सब पर समान रूप से लागू किया जा सकता है। किन्तु अहिंसा का संबंध अंतर्जगत और हृदय परिवर्तन से है इसलिए उसे सब पर समान रूप से लागू नहीं किया जा सकता, समाजव्यापी नहीं बनाया जा सकता। अहिंसा दण्ड शक्ति का स्थान नहीं ले सकती। उसके द्वारा समाज को शासित नहीं किया जा सकता। इसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समाज को अहिंसा की अपेक्षा अच्छी व्यवस्था की आवश्यकता है। आचार्य महाप्रज्ञ ने समाज व्यवस्था के मूल पांच आधार माने हैं।

- 1 स्वतंत्रता
- 2 समानता
- 3 सहयोग
- 4 सहानुभूति
- 5 सहिष्णुता।

1. स्वतंत्रता— समाज व्यवस्था का मूल आधार है अनेकांतवाद। व्यक्तियों से समाज का निर्माण होता है किन्तु समाज के निर्माण के साथ-साथ स्वतंत्रता उन्मुख नहीं रह पाती। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार समाज व्यवस्था का पहला आधार बनता है स्वतंत्रता, किन्तु प्रश्न उत्पन्न होता है कि अनियंत्रित स्वतंत्रता के साथ समस्याएं भी उत्पन्न हो सकती हैं। इसलिये स्वतंत्रता के साथ नियंत्रण भी आवश्यक है यदि स्वतंत्रता के साथ नियंत्रण नहीं हो पायेगा। तो अन्य की स्वतंत्रता बाधित हो सकती है अतः स्वतंत्रता की भी एक सीमा होनी चाहिये नियंत्रण का अर्थ है कि एक शक्तिशाली व्यक्ति भी किसी कमजोर की स्वतंत्रता में बाधा उत्पन्न न करे। यह स्वतंत्रता और नियंत्रण का संतुलन समाज व्यवस्था का पहला मौलिक आधार है।

2. समानता— समाज व्यवस्था का दूसरा आधार है समानता। आचार्य महाप्रज्ञ का मत है कि सबके प्रति समान व्यवहार होना चाहिये। समानाधिकार शब्द मधुर लगता है किन्तु यह बात एकत्रिक नहीं हो सकती। व्यवहारवाद में यह नियम संभव नहीं है। व्यवहार के क्षेत्र में हीनता और अतिरिक्ता प्रकृति के नियम जैसा है। समानता को सर्वत्र एकरूपता में लागू किया जाना अव्यवहारिक प्रतीत होता है। समाज व्यवस्था में समानता और असमानता दोनों का मूल्य है। जीवन की जो मूल आवश्यकताएँ हैं वे सब की समान हैं और उनकी पूर्ती समानता के आधार पर होनी चाहिये। अनेकांतवाद या अहिंसा पर आधारित समाज व्यवस्था का महत्वपूर्ण आधार है समानता और असमानता का औचित्यपूर्ण सामंजस्य।

3. सहयोग— समाज व्यवस्था का तीसरा सूत्र है सहयोग। यदि सहयोग नहीं है तो समाज का स्वरूप निश्चित रूप से अहिंसक एवं शांतिपूर्ण नहीं हो सकता। यदि समाज में द्वेष है तो एक दूसरे का योग होना आवश्यक है। यह समाज व्यवस्था का मूल आधार है। जहां समाज होगा वहां एक सूत्रता तथा सहयोग होगा। यदि दो व्यक्ति साथ रहे और एक दूसरे को योग न दे तो इसका अर्थ है कि वे समाज के मूल्य को नहीं जानते तथा साथ रहने की उपयोगिता को नहीं जानते। समाज तभी बनता है जब सहयोग होता है।

4. सहानुभूति— समाज व्यवस्था का चौथा सूत्र है सहानुभूति। प्रत्यक्षतः ऐसा प्रतीत होता है कि समाज एवं सामाजिक संबंधों में सहानुभूति एवं इसके समीपवर्ती मूल्यों का हास हुआ है किन्तु यह दृष्टिकोण एकांगी है। पारिवारिक संस्थान एवं सामाजिक व्यवस्था का मुख्य आधार सहानुभूति जैसे तत्वों पर निर्मित हुआ है। किन्तु वर्तमान व्यक्ति एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य के संदर्भ में यह भी सत्य है कि व्यक्ति चिंतन एवं कार्य उद्देश्य से

मुख्यतः आत्म केन्द्रित हो गया है। इसका कारण वर्तमान के परिवर्तित एवं भौतिक प्रधान जीवन दर्शन एवं जीवन मूल्य के कारण है। अतः कहा जा सकता है कि जहां एक और सहानुभूति की चेतना विकसित है तो दूसरी और असहानुभूति की चेतना भी विकसित है किन्तु यदि अहिंसक एवं कल्याणकारी समाज की स्थापना हमारा अभिष्ट है तो सहानुभूति आदि तत्वों को प्रोत्साहन देना अवश्यभावी है।

5. सहिष्णुता— समाज व्यवस्था का आधारसूत्र है सहिष्णुता। यह सत्य है कि समाज कोई प्रत्यक्ष तंत्र नहीं है यह मूर्त सदस्यों द्वारा निर्मित अमूर्त संस्थान है। चूंकि सामाजिक सदस्यों का व्यक्तित्व विचार प्रभाव एवं चेतना समान नहीं हो सकती अतः इन मूर्त तत्वों के माध्यम विचारों की भिन्नता एवं अनेकता निश्चित ही असामंजस्य का वातावरण निर्मित कर सकने में सक्षम है। जिसकी निष्पत्ति अव्यवस्था तथा अराजकता के रूप में हो सकती है ऐसे में सहिष्णुता जैसे मूल्य सामाजिक व्यवस्था में सामंजस्य का वातावरण निर्मित करने में सहायक हो सकते हैं। सहिष्णुता की उपस्थिति में समाज तथा इसके सदस्यों में विभिन्नाएं होने के उपरान्त भी एक शांतिपूर्ण व्यवस्था प्रस्तुत कर सकता है।

उपर्युक्त विवेचित सूत्रों के आधार पर आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा परिकल्पित समाज ऐसी सभावनाओं को अवकाश देने में संभव है जो अहिंसा एवं शांति की विचारधारा को और अधिक पुष्ट कर कल्याणकारी समाज के कल्याणकारी कार्यक्रमों की क्रियान्विती को सुनिश्चित करता है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार समाज की दो व्यवस्थाएं ऐसी भी हैं जो भारत में ही सीमित हैं। इस व्यवस्था का मूल वैदिक धारा है। इस व्यवस्था का आधार यह है कि मनुष्य के मुख्य घटक हैं—शरीर, मन, बुद्धि। जिन्हें क्रमशः अर्थ, काम, और मोक्ष चाहिये। अर्थ का उत्पादन मूलतः शारीरिक श्रम का फल है। यह श्रमिक वर्ग जो अर्थ का उत्पादन करता है प्राचीन भाषा में शुद्र कहलाया। मन की कामनाओं की पूर्ति के लिये जो वर्ग प्रदार्थों का वितरण करता है वह वैश्य कहलाया। धर्म की स्थापना करने का कार्य क्षत्रिय का है और मोक्ष का प्रतिपादन करने वाला ब्राह्मण कहलाया। वस्तुस्थिति ये है कि वर्णव्यवस्था का आधार मुख्यतः अथोपार्जन लिये अपनाये जाने वाले व्यवसाय रहे तथा सामाजिक स्वरूप को व्यवस्थित दिशाएं देने में सक्षम रहे वे व्यवसायवश परम्परागत थे और बहुत जटिल नहीं थे। पुत्र पिता से ही अपने परम्परागत व्यवसाय की शिक्षा प्राप्त कर उसका व्यवसाय सभाल लेता है। व्यवसायिक शिक्षा प्राप्त करने की या नया व्यवसाय करने की चिंता उसे नहीं करनी पड़ती थी। सम्मिलित परिवार की छाया में वह निश्चित भाव से सबका हाथ बटाता था। और बदले में उसे जीवन की सब आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी। किन्तु आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार ये व्यवस्था आज संभव नहीं है। संयुक्त परिवार की परम्परा प्रायः समाप्त हो चुकी है। नये-नये व्यवसाय प्रारम्भ हो रहे हैं और व्यक्ति अब एक ही स्थान से बंधकर नहीं रहता है। जहां समाजवादी व्यवस्था और पूंजीवादी व्यवस्था अर्थ को केन्द्र में रखकर चलती हैं वहां वर्ण व्यवस्था कर्तव्य को केन्द्र में रखकर चलती है। इस कारण वर्ण-व्यवस्था में व्यक्ति का मूल्यांकन अर्थ के आधार पर नहीं किया जाता। औद्योगिकरण से पूर्व तक यह व्यवस्था प्रायः मानवीयता को केन्द्र में रखकर चलती थी किन्तु कालान्तर में यह चिंतन प्रायः परिवर्तित हो गया। आचार्य महाप्रज्ञ ने वर्तमान में वर्ण व्यवस्था के विकृत रूप जाति व्यवस्था को अनुचित मानते हुए सभी मनुष्यों की एक ही जाति स्वीकारते हुए कहा है कि मनुष्य जाति एक है उसका विभाग आचार अथवा वर्ण के आधार पर होता है। जाति का गर्व करना सबसे बड़ा उन्माद है क्योंकि जातिवाद तात्त्विक वस्तु नहीं। अस्पृश्यता एक मिथ्या कल्पना है, वास्तव में व्यक्ति श्रेष्ठ होता है गुण के बल पर न कि जाति के बल पर। हमारे देश में हिन्दु धर्म के अतिरिक्त मुसलमान, जैन, बौद्ध, इसाई, पारसी आदि धर्मों का अस्तित्व दिखाई पड़ रहा है तथा इन विभिन्न परम्पराओं के उपरान्त भी भारतीय परिवेश में प्रायः समरूपता ही रही है, अतः रंग, भेद आदि

की समस्याएं सामाजिक स्वरूप को प्रायः विकृत ही करती है इसलिये इन विकृतियों का उन्मूलन ग्राह्य है ताकि सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप शांतिपूर्ण एवं कल्याणकारी बना रहे।

उपर्युक्त विवेचना से ज्ञात होता है कि विभिन्न धर्म दर्शन परम्पराओं एवं दार्शनिक चिंतन धाराओं में प्रारम्भ से ही प्रायः ऐसे समाज की परिकल्पना की है जो समाज में कल्याण एवं शांति की स्थापना कर सकें। किन्तु वर्तमान सामाजिक परिप्रेक्ष्य के संदर्भ में जबकि समस्याओं का स्वरूप भिन्न हो चुका है एवं यह समस्याएं सामाजिक स्वरूप को विकृत करने में सहायक हो रही है अतः ऐसी समस्याओं का निरूपण एवं उनके संदर्भ में समाधान की विवेचना भी समीचीन प्रतीत होती है।

सामाजिक संरचना एवं समस्याएं (वर्तमान परिप्रेक्ष्य में)

किसी भी शास्त्र के संदर्भ परिप्रेक्ष्य का अर्थ है कि उस के अध्ययन में विश्लेषित इकाई को एक विशेष दृष्टि से देखा जाये। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में शांति को यहां विश्लेषित किया जाना है वह भी विशेष तौर पर भारतीय समाज के संदर्भ में। अर्थात् भारतीय समाज में सामाजिक घटनाएं एवं शांति के लिये सकारात्मक तथा नकारात्मक रूप में उत्तरदायी कारणों का अध्ययन हमारी प्रमुख विषय-वस्तु होगी। प्रसिद्ध समाजशास्त्रीय किन्सले डेविस ने कहा है कि “ भौतिक रूप से हम समाज को एक व्यवस्था अर्थात् कार्यशील अंग तथा सामाजिक संबंधों के जाल के रूप में देखते हैं। इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि हम इसकी परिधि में सम्पूर्ण विश्व के ज्ञान को समाहित करते हैं। अथवा उन संपूर्ण तथ्यों को सम्मिलित करते हैं जिन्हें दूसरे समाज विज्ञान अपने में निहित किये हुए है। अपितु समाज शास्त्र को ऐसा विज्ञान माना जाता है जो ऐसी कार्यो में लगा हुआ है जिसके द्वारा विभिन्न समाज एकता व निरंतरता को प्राप्त करते हैं और आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी करते हैं। समाज के इस प्रकार के विश्लेषण को समाज शास्त्र कहा जाता है।

कल्याणकारी एवं शान्ति के समाजशास्त्र के अन्तर्गत होने सामाजिक व्यवस्था को स्थायित्व देने वाले अथवा विघटनकारी कारकों व उनसे उत्पन्न होने वाले प्रभावों का अध्ययन करना होता है। इसके अन्तर्गत ऐसे कारक जो समाज में शांति भंग करते हैं अथवा शांति स्थापित होने पर व्यक्तियों व उनके संबंधों पर जो प्रभाव पड़ता है उसके अध्ययन को हम शांति के समाजशास्त्र की संज्ञा दे सकते हैं जब यही अध्ययन वर्तमान में भारतीय संदर्भ में किया जाए तो इसे आधुनिक काल तक क्रमशः विकसित अहिंसा व शांति के समाजशास्त्र की संज्ञा दी जा सकती है। सामाजिक क्रियाकलापों के अन्तर्गत व्यक्ति के द्वारा अनगिनत क्रियाएं सम्पादित होती हैं किन्तु सामान्यतः उनसे कोई अव्यवस्था उत्पन्न नहीं होती बल्कि उन क्रियाओं के कारण समाज में एक व्यवस्था पाई जाती है। इस व्यवस्था का ही परिणाम है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्रियाएं इस प्रकार करता है कि दूसरों की क्रियाएं या लक्ष्यों को प्राप्त करने में बाधा उत्पन्न नहीं होती। यहां तक की प्रत्येक का उद्देश्य दूसरे की उद्देश्य पूर्ती को सरल बनाता है किन्तु ऐसा सदैव नहीं होता कि समाज में अव्यवस्था उत्पन्न ही न हो। अनेक बार समाज में अव्यवस्था भी व्यक्तियों के क्रियाओं के कारण उत्पन्न होती है लड़ाई, झगड़े, संघर्ष, हिंसा, अपराध आदि की घटनाएं भी कम या अधिक मात्रा में प्रत्येक समाज में दृष्टिगोचर होती है।

समाजशास्त्र विशेषतः अहिंसा एवं शांति का समाजशास्त्र सामाजिक जीवन में व्याप्त इन अव्यवस्थाओं के अध्ययन में स्वयं को समाहित करता है किन्सले डेविस के अनुसार “ शांति के समाजशास्त्र परिप्रेक्ष्य को एक विशेष विज्ञान मानते हैं। जो ऐसे कार्य में लगा हुआ है कि जिसके द्वारा विभिन्न समाज अपनी सुव्यवस्था प्राप्त करते हैं।” वस्तुतः समाजशास्त्र एक सम्पूर्ण समाज की समग्र इकाई का अध्ययन करने वाला विज्ञान इसमें

सामाजिक संबंधों, अन्तर्क्रियाओं, मानवीय व्यवहारों, पारस्परिक संबंधों एवं सामाजिक व्यवस्था अध्ययन का क्षेत्र होता है। वर्तमान के संदर्भ में अहिंसा एवं शांति के समाजशास्त्र के स्वरूप को समझने के उपरान्त यह समीचीन होना कि समाजशास्त्र के अन्तर्गत स्वीकार किये जाने वाले सामाजिक जीवन के प्रमुख आयामों के उपरोक्त व्याप्त समस्या के स्वरूप का अध्ययन किया जाए।

सामाजिक क्रिया

समाजशास्त्र में सामाजिक क्रिया की अवधारणा अत्यंत महत्वपूर्ण अवधारणा में से एक रही है। समाज के सदस्यों की सामाजिक प्राणी के रूप में विविध आवश्यकताएं होती हैं। यह आवश्यकताएं भोजन, वस्त्र एवं निवास तक ही सीमित नहीं होती अपितु व्यक्ति की संस्कृति, नैतिक, शारिरिक, राजनैतिक आदि आवश्यकताएं आदि भी महत्वपूर्ण होती हैं। वितीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये व्यक्ति को कुछ न कुछ कार्य करना होता है समाज के सदस्यों के द्वारा इस प्रकार के प्रयत्नों को समाजशास्त्रीय भाषा में क्रिया कहा जाता है। परन्तु इन क्रियाओं के संबंध में व्यक्ति अकेला स्वयं पूर्ण नहीं होता। इसका अभिप्राय यह है कि किसी न किसी रूप में व्यक्ति को सामाजिक परिस्थितियों में अन्य सामाजिक प्राणियों द्वारा प्रभावित होते हुए भी अपना कार्य करना होता है। समाज के सदस्यों के द्वारा इस प्रकार के प्रयत्नों को समाजशास्त्रीय भाषा में क्रिया कहते हैं। किन्तु इन क्रियाओं के संबंध में व्यक्ति अकेला स्वयं पूर्ण नहीं होता। इसका अभिप्राय यह है कि किसी न किसी रूप में व्यक्ति को सामाजिक परिस्थितियों में अन्य सामाजिक प्राणियों द्वारा प्रभावित होते हुए भी अपना कार्य करना होता है। यह क्रियाएं विभिन्न परिस्थितियों एवं व्यक्तित्व के आधार पर प्रभावी तथा सम्पादित होती हैं अतः विभिन्नताओं के आधार पर ये क्रियाएं सदैवलोक सम्मत नहीं होती अतः सामाजिक व्यवस्था में अव्यवस्था उत्पन्न होती है। अहिंसा एवं शांति के समाजशास्त्र का कार्यक्षेत्र इस प्रकार की उत्पन्न विकृत समस्याओं के अध्ययन तथा उनके समाधान की दृष्टि होना होता है।

सामाजिक व्यवस्था

मानव जीवन के लिये क्रिया एवं निरंतरता को बनाये रखने में समाज का अनुपम योगदान है। समाज के अभाव में मानव जीवन का अस्तित्व असंभव है इसी कारण अपने विकास के प्रत्येक शिखर पर मनुष्य किसी न किसी प्रकार का सामाजिक जीवन व्यतीत करता है। अतः मनुष्य जीवन की प्रगति का आधार सामाजिक व्यवस्था है। एक सामाजिक परिस्थिति में जब अनेक कर्ता सामान्यतः स्वीकृत सांस्कृतिक प्रतीकों की व्यवस्था के अन्तर्गत आदर्श लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अन्तर्क्रिया करते हैं। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था अन्तर्क्रियाओं की एक संगठित प्रणाली है जिसमें बहुत से कार्यकर्ताओं की अन्तर् क्रियाओं का समावेश होता है। सामान्यतः ये क्रियाएं स्वीकृत आदर्शों के अनुरूप ही होती हैं किन्तु कभी कभी ये क्रियाएं सामाजिक मान्यताओं के प्रतिकूल होती हैं जो समाज में व्यवस्था को सुचारु रूप से संचालित होने में बाधा उत्पन्न करती हैं। जिससे समाज में अराजकता एवं अशांति उत्पन्न हो सकती है।

सामाजिक संरचना

सामाजिक संरचना सामाजिक संगठन के प्रमुख स्वरूपों अर्थात् प्रमुख संस्थाओं को मिलाकर आकार लेती है। सामाजिक संरचना अपने अंगों की क्रमबद्धता को स्पष्ट करती है ये अंग स्थिर नहीं अपितु परिवर्तनशील होते हैं। किन्तु सामाजिक संरचनाओं के आधारभूत तत्व यथा सामाजिक संस्थाएं सामाजिक सदस्यों यथा व्यक्तियों के

द्वारा निर्मित होती है अतः व्यक्तियों में निहित गुण दोष उन संस्थाओं में अन्तर्निहित होना अवश्यभावी होता है जो सामाजिक संरचनाओं को सामान्य गुण दोष से प्रभावित करते हैं।

भारतीय संदर्भ में शांति के समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में उपर्युक्त विवेचित घटकों पर ध्यान देना आवश्यक है। शांति स्थापना के लिये शांति के समाजशास्त्रीय पक्ष के महत्व को जानना अनिवार्य हो जाता है। ये शास्त्र भारतीय संदर्भ में इसलिये अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि यहाँ विभिन्न धर्म, जाति, प्रजाति, सम्प्रदाय के व्यक्ति एक साथ रहते हैं संभवतः ये भारत ही है जिसमें इतनी जातियों— प्रजातियों को मिलाकर एक राष्ट्र निर्मित हुआ है। भारत के साथ महत्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि लम्बे समय तक दासता में रहने के कारण भारतीय सामाजिक संरचना का काफी समय से विघटन हो रहा है। आज अनेक सामाजिक समस्याएं भारतीय समाज को विषाक्त ही नहीं कर रही हैं बल्कि उनका प्रभाव इन महान प्रयासों को भी मलीन कर रहा है जिन पर हमारे देश की सांस्कृतिक विरासत प्रगतिशील रही है। इन परिस्थितियों में यह आवश्यक हो जाता है कि अहिंसा एवं शांति के समाजशास्त्र के वर्तमान स्वरूप एवं अवधारणा का प्रेक्षण करने के लिये उन सामाजिक समस्याओं का भी अध्ययन किया जाए जो देश की सांस्कृतिक प्रगति में बाधा उत्पन्न करती हैं।

1. अलगाववाद की समस्या

नव मार्क्सवादी चिंतन के अन्तर्गत पूंजीवाद के अमानवीय कार्य ने प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भारत में कई स्थानों पर अलगाववाद की समस्या को जन्म दिया। अलगाववाद या परायापन ने अपने क्षेत्र विशेष के प्रति अधिक ममत्व तथा अपने क्षेत्र विशेष के लोगों के विकास को सुनिश्चित करने हेतु भी अलगाववादी प्रक्रियाओं ने भारतीय समाज को बड़े पैमाने पर प्रभावित किया है।

2. पर्यावरणीय असंतुलन

अधिकाधिक स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा ने अधिकतम दोहन को बढ़ावा दिया है। ऐसे में पर्यावरणीय समस्याएं अत्यधिक भंयकर होती जा रही हैं। व्यापक जन जागृति के उपरान्त भी विकास के पूर्व प्रचलित मानदण्डों के कारण जीवन पद्धति को परिवर्तित करना अत्यन्त कठिन हो गया है। निष्पत्ति स्वरूप पर्यावरणीय समस्याएं न केवल वर्तमान समाज को प्रभावित कर रही हैं अपितु अन्य प्रकार की सामाजिक विषमताओं एवं समस्याओं को भी जन्म देती हैं।

3 नवीन अर्थव्यवस्था की मांग

नवीन अर्थव्यवस्था का उत्कंठा केवल भारतीय जनमानस में नहीं है अपितु ये सर्व विकसित तथा विकासशील देशों की भी उत्कंठा है। नवीन अर्थव्यवस्था का अर्थ है खुले बाजार के रूप में अपनी आर्थिक क्षमता विकसित कर विकासशील देशों के समकक्ष पहुंचने का प्रयास इन नवीन चिंतन के कारण सामाजिक परिवेश निश्चित रूप से प्रभावित हुआ है।

4 आर्थिक विषमताएं

पूंजीवादी प्रणाली में सरकारी नियंत्रण के अभाव में साधनों का केन्द्रियकरण निरंतर एक तरफ हो जाता है। ऐसे में एक वर्ग निरंतर साधन सम्पन्न और दूसरा वर्ग निर्धन होता चला जाता है। परिणाम स्वरूप समाज में आर्थिक विषमता की खाई चौड़ी होती चली जाती है और स्पष्ट रूप से पूंजीपति और मजदूर दो वर्गों में बंट जाता है।

5 बेरोजगारी

पूँजीवादी प्रणाली में चूंकि अधिकाधिक लाभ वाली प्रवृत्तियां पाई जाती हैं, अतः उत्पादन लागत को न्यूनतम करने हेतु कामगारों की संख्या घटाने व मशीन पर निर्भरता की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। ऐसे में रोजगार के अवसर अत्यंत सीमित हो जाते हैं।

6 राजनीतिक अस्थिरता

अर्धविकसित एवं विकासशील राष्ट्र प्रायः संक्रमण काल से गुजर रहे हैं। नवीन आर्थिक व्यवस्था के चिंतन के आधार पर विकास के लक्ष्य प्राप्त करने की प्रवृत्ति, अलगाववाद के कारण उत्पन्न होने वाली समस्या, विभिन्न धार्मिक, सांस्कृतिक एवं भौगोलिक विपन्नताओं के कारण उत्पन्न टकराव की प्रवृत्ति आदि में राजनैतिक अस्थिरता को प्रायः बढ़ावा दी दिया है। भारत इस राजनीतिक अस्थिरता से वर्तमान में समस्याग्रस्त हो रहा है।

उपर्युक्त विवेचित समस्याओं के आलोक में ये सुनिश्चित है कि सामाजिक समस्याएं समाज में सुव्यवस्था एवं अहिंसक संरचनाओं के बने रहने में बाधक होती हैं। यह सत्य है कि स्थान एवं काल परिवर्तन से समस्याओं के स्वरूप में भिन्नता आती रहती है। वर्तमान के भारतीय समाज में व्याप्त विभिन्न समस्याएं आधुनिक सामाजिक व्यवस्था का निरूपण करती हैं। इन आधुनिक समस्याओं के निदान हेतु जो संभावना एवं अनुशासन की जानी चाहिये वह वर्तमान समाजशास्त्र का क्षेत्र है। समाजशास्त्रियों ने विशेषतः कल्याणकारी समाज का निरूपण करने वाले विचारकों ने उपर्युक्त समस्याओं के समाधान तथा कल्याणकारी समाज की स्थापना हेतु जो दर्शन एवं शास्त्र विकसित किये हैं उन्हें अहिंसा एवं शांति के वर्तमान अवधारणा के विकास की संज्ञा दे सकते हैं। निष्कर्षतः भारतीय परम्परा में अहिंसा एवं शांति के समाजशास्त्र की अवधारणा सामाजिक अपेक्षाओं के अनुरूप निरंतर परिवर्तित तथा विकसित होती रही है। तथा इस शास्त्र के विकसित होने का लक्ष्य मात्र मानव एवं समाज कल्याण सुनिश्चित कर अहिंसा एवं शांति के सामाजिक मूल्य स्थापित करना है।

संरचनात्मक हिंसा की अवधारणा

सामान्यतः हम हिंसा का वर्गीकरण शारीरिक, मानसिक या वाचिक हिंसा के रूप में करते हैं तथा हिंसा के विचारों को वस्तुनिष्ठ या आत्मनिष्ठ दृष्टियों से ही देखते हैं किन्तु संरचनात्मक हिंसा का विचार एक नया विचार है और इस विचार की आवश्यकता इसलिए भी पड़ी क्योंकि यह विचार उपयुक्त विभाजन में संतुलित नहीं होता। शांतिशास्त्र के क्षेत्र में संरचनात्मक हिंसा का विचार अभी भी अनुसंधानरत है। औद्योगिक व प्रौद्योगिकी विकास के बाद यह देखा गया कि प्रत्यक्ष रूप से हिंसा का कोई कर्ता न होने के बावजूद व्यक्तियों के साथ अन्याय उत्पीड़न एवं शोषण हो रहा है। वस्तुनिष्ठवादी विचारक अभी भी परम्परागत शांति विचारों को बनाए रखने का समर्थन करते हैं तथा वे हिंसक संघर्षों के समाधान तक ही अपनी भूमिका को सीमित रखे हुए हैं। आत्मनिष्ठवादियों का यह मानना है कि यदि संघर्ष या हिंसा अस्तित्व में है तो वह उस स्थिति से प्रभावित व्यक्तियों को ही अनुभव होना चाहिये अर्थात् कर्ता को उन विरोधी लक्ष्यों का अनुभव आवश्यक है जिसके फलस्वरूप संघर्ष होता है। वस्तुनिष्ठवादियों का यह मानना है कि समाज में संघर्ष का अस्तित्व तो रहेगा ही भले ही उसकी अनुभूति व्यक्ति को न होती है।

संरचनात्मक हिंसा के संदर्भ में संघर्षरत समूहों के हित सामाजिक संरचना पर आधारित होते हैं। अतः शांतिपूर्ण समाज के तत्वों का उनमूलन भी आवश्यक है। जहाँ हिंसा का प्रत्यक्ष रूप दृष्टिगोचर नहीं होगा वहाँ

संरचनात्मक हिंसा विद्यमान होने की संभावना होती है। संघर्ष का अस्तित्व समाज में सदैव विद्यमान रहता है भले उसकी अनुभूति हमें नहीं हो। वस्तुनिष्ठ वादियों के लिये हिंसा या संघर्ष एक वस्तुनिष्ठ घटक है और उसके अस्तित्व के लिये किसी के द्वारा उसका अनुभव किया जाना आवश्यक नहीं है।

जिस समाज में समाज व्यवस्था के फलस्वरूप संसाधनों का वितरण भेदभावपूर्ण होता है और जिसके फलस्वरूप व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह को हानि पहुंचती है उसे संरचनात्मक हिंसा कहते हैं। इस प्रकार हिंसा का कुछ न कुछ अंश प्रत्येक समाज में विद्यमान होता है। **प्रो Galling** ने संरचनात्मक हिंसा को परिभाषित करते हुए कहा है कि जहां हिंसा का कोई एक कर्ता विद्यमान है उसे हम वैयक्तिक हिंसा कहते हैं किन्तु जहां कोई हिंसा का कर्ता विद्यमान नहीं है उसे अप्रत्यक्ष या संरचनात्मक हिंसा कहते हैं। प्रत्येक जटिल समाज में ऐसी हिंसा विद्यमान होती है। कुछ समाजशास्त्री इसे आय, शिक्षा तथा स्वास्थ्य आदि सुविधाओं के असमान वितरण के रूप में देखते हैं जबकि कई इसे सामाजिक की स्वाभाविक प्रक्रिया मानते हैं जैसे कि पूर्व में उल्लेख किया गया है कि हिंसा का कुछ न कुछ अंश प्रत्येक समाज में विद्यमान रहता ही है। समाज में विद्यमान अच्छाईयों व बुराईयों का प्रभाव व्यक्तियों पर पड़ता है तथा इसे प्रभाव का स्वरूप शारीरिक या मानसिक दोनों हो सकते हैं। कुछ शांतिशास्त्री के अनुसार शांतिपूर्ण समाज के साथ अशांतिपूर्ण व संघर्षरत समाज भी है। संघर्षरत ऐसा समाज है जहां व्यवहारगत हिंसा तो नहीं है किन्तु आर्थिक व सामाजिक असमानताओं के कारण हिंसा है।

कुछ समाजशास्त्री जैसे कोल्हूर एवं एल्को ये मानता है कि धन संपत्ति से केवल उच्च जीवन स्तर ही नहीं उच्च जीवन भी खरीदा जा सकता है। इसलिये धन संपत्ति का असमान वितरण संरचनात्मक हिंसा को जन्म देता है। संरचनात्मक हिंसा का विचार आज यद्यपि सभी को आकर्षित करता है किन्तु समाजशास्त्रियों का मानना है कि इसका प्रयोग सावधानी पूर्वक किया जाना चाहिये। सामाजिक प्रयोग किये जाने के पीछे निम्नलिखित कारण प्रमुख हैं—

1. जिन ईकाईयों का अध्ययन किया जा रहा है उन ईकाईयों पर संरचनात्मक हिंसा तुलनात्मक रूप से निर्भर है। उदाहरणतः निर्धन व विकासशील राष्ट्रों के विविध वर्गों की तुलना की जाये तो वहां विकसित राष्ट्रों की अपेक्षा संरचनात्मक हिंसा कम पाई जाएगी।
2. सामाजिक संबंधों की प्रकृति के आधार पर प्रायः असमानता दिखाई देती है और इस असमानता से संरचनात्मक हिंसा उत्पन्न होती है। जहां संबंधों में असमानता होगी वहां निश्चित रूप से संरचनात्मक हिंसा विद्यमान होगी। संबंधों में असमानता के कारण संसाधनों का भेदभावपूर्ण वितरण तो है किन्तु उसके साथ जाति वर्ग, लिंग, रंग, वर्ण आदि कई अन्य भेदभाव भी है। हमारी वैश्विक व्यवस्था भी इस प्रकार की है कि एक और संसाधन अमीर राष्ट्रों को अत्यधिक लाभ पहुंचा रहे हैं दूसरी और गरीब राष्ट्र को न्यूनतम। ऐसी परिस्थितियों में संरचनात्मक हिंसा का होना अपरिहार्य सा ही है।
3. हम जिन चीजों व या जिन कारणों को पसंद नहीं करते हैं उनके आधार पर संरचनात्मक हिंसा को व्यावस्थित नहीं किया जाना चाहिये। संरचनात्मक हिंसा को इन कारणों के लिये प्रस्तुत नहीं किया जाना चाहिये जिन्हें व्यक्ति विशेष या समुदाय विशेष पसंद न करता हो। उदाहरणतः महिला आंदोलन स्त्री पुरुष की असमानता के फलस्वरूप अस्तित्व में आए हैं और ऐसे आन्दोलन महिलाओं को संरचनात्मक हिंसा से पीड़ित मानते हैं तथा आन्दोलन कार्यकर्ताओं की मानसिकता मुख्य रूप से इस पीड़ा से मुक्ति दिलाने की होती है।

वस्तुनिष्ठवादी शांतिशोधकर्ताओं के शोध प्रक्रिया की आलोचना करते हैं। उनके अनुसार शांतिकर्मी संबंधों में परिवर्तन नहीं लाते जिससे दोनों पक्षों के बीच असमानता बनी रहती है उदाहरणतः मालिक मजदूरों के बीच वेतन को लेकर होने वाले विवाद को वेतन बढ़ोतरी करके एक बार तो निपटा दिया जाता है। किन्तु मालिक मजदूर के संबंध यथावत बने रहने से संघर्ष की संभावना सदैव बनी रहती है। वस्तुनिष्ठवादियों का यह भी तर्क है कि शांतिशोध कर्ता केवल निषेधात्मक शांति पर बल देते हैं भावनात्मक शांति पर नहीं। शांतिशोधकर्ता पारस्परिक विवाद या प्रत्यक्ष हिंसा के निपटारे पर तो बल देते हैं किन्तु वे इस बात पर ध्यान नहीं देते कि विवाद के निपटारे के पश्चात उनके संबंध समाजस्यपूर्ण कैसे होंगे। वस्तुनिष्ठवादियों के स्वयं के विचार भी आलोचना से परे नहीं हैं। वे संघर्ष को असमानता का पर्याय मानते हैं जबकि आत्मनिष्ठावादी संघर्ष व असमानता को अलग-अलग रूप से देखते हैं। वस्तुनिष्ठवादी संघर्ष के नजरिये से देखते हैं। वे उन संघर्ष को भी देख लेते हैं, जो एक कर्ता द्वारा नहीं देखे जाते जबकि आत्मनिष्ठवादी संघर्ष को लक्ष्यों की भिन्नता के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार संघर्ष वह स्थिति है जहां एक व्यक्ति या व्यक्तियों के समूहों के मूल एवं लक्ष्यों के बीच वास्तविक विरोध मौजूद है। वस्तुनिष्ठवादी भावनात्मक शांति के लिये कभी-कभी संघर्ष को बढ़ाने में बल देते हैं। उनके अनुसार जहां विवाद को निपटाया नहीं जा सकता वहां उपयोगितावादी दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिये। संरचनात्मक हिंसा से यदि अधिक लोगों को हानि नहीं पहुंचती है तो ऐसी स्थिति में संघर्ष को बढ़ावा देना उचित है। आत्मनिष्ठवादी ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों को बढ़ावा देने के पक्ष में नहीं है उनका मानना है कि क्रांति के पश्चात सामाजिक ढांचे पर किसी का नियन्त्रण नहीं होगा। ऐसी स्थिति में संघर्ष कम से कम बढ़ना चाहिये।

इस प्रकार के विचारक भी हैं जिनके अनुसार संरचनात्मक हिंसा से यदि अधिक लोगों को नुकसान पहुंचता हो तो वहां संघर्ष या हिंसक साधनों को अपनाना अधिक उचित है। यदि विश्व नागरिकों के मध्य संसाधनों की असमानता को दूर नहीं किया गया तो निश्चित रूप से ही संरचनात्मक हिंसा सदैव विद्यमान रहेगी अतः संरचनात्मक हिंसा की समाप्ति के लिये प्रत्यक्ष हिंसा के निषेध के अतिरिक्त अप्रत्यक्ष हिंसक परिस्थितियों का न्यायपूर्ण व शांतिपूर्ण साधनों से निष्पादन करना चाहिये।

वैचारिक हिंसा

वैचारिक हिंसा वह है जो कि विशेष विचार पर आधारित होती है। यहां हिंसा का तात्पर्य शारीरिक हिंसा आदि नहीं है। अपितु किसी भी व्यक्ति या संस्था द्वारा किसी अन्य व्यक्ति या संस्था पर किसी भी विचार को थोपकर अनुचित कष्ट पहुंचाना। किसी विचार धारा के आधार पर किसी व्यक्ति को जीवन की मूलभूत सुविधाओं को उपलब्ध होने में उचित या अनुचित समस्याएं उत्पन्न करना वैचारिक हिंसा की एक मूलभूत परिभाषा है। संविधान के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार दिया गया है। जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा, विश्वास या आस्था के आधार पर किसी धर्म विशेष को मान सकता है तथा किसी भी व्यक्ति को किसी भी धर्म को मानने के लिये बाध्य नहीं सकता है। **JS Mill** वैचारिक स्वतंत्रता को अहिंसा का प्रतिष्ठित रूप मानते हैं। उनकी पुस्तक **on liberty** विचार अभिव्यक्ति के अधिकार की सर्वाधिक वकालत करती है। यहां तक कि अल्पमत के विचार अभिव्यक्ति के अधिकार के वे बहुत सम्मान के साथ देखते हैं उनके अनुसार विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को सबसे बड़ा खतरा बहुमत की ओर से आता है जो कि अल्पमत के विचारों के प्रति असहिष्णु होता है। वर्तमान में वैचारिक हिंसा का सबसे बड़ा स्रोत तथाकथित धार्मिक गुट बन गये हैं। इनकी कट्टरपन के कारण जो अनुचित प्रवृत्ति पैदा की जाती है वो हिंसा के लिये उत्प्रेरक का कार्य करती है। आज

समस्त विश्व आंतकवाद की समस्या से ग्रस्त हैं जिसके मूल में प्रायः धार्मिक उन्माद पाया जाता है। निरंतर चलते रहने वाली आंतकवादी गतिविधियों के पीछे वैचारिक हिंसा भी कार्यरत है।

वैचारिक हिंसा की अवधारणा

वैचारिक हिंसा अपने विचारों की श्रेष्ठता का विश्वास, विचार प्रतिपादन के प्रति निष्ठा आदि प्रमुख कारण है। प्रायः धार्मिक नेताओं द्वारा युवावर्ग की मानसिकता को इस प्रकार परिवर्तित कर दिया जाता है कि वे धर्म के नाम पर की गई हिंसा को पवित्र कर्तव्य मानकर संपादित करते हैं। वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय आंतकवाद में विचारनिष्ठा एक बहुत बड़ा कारण है। भारत में भी प्रतिवादी संगठनों के द्वारा इस प्रकार के कृत्य पर समाज को विषाक्त बनाया जाता है। अतः स्पष्ट है विचारों के प्रति ममत्व एवं निष्ठा अहिंसा के मूल्य को खंडित करता है। वैचारिक हिंसा की प्रयोग पद्धति आंतक व भय को फैलाने की होती है। निर्धारित जीवन पद्धति आदि में व्यवधान आता है। तथा समाज के अनेक संस्थानों में समाज उत्थान के कार्य बाधित होते हैं। ऐसा कृत्य इस हेतु किया जाता है कि लोग विरोध न कर सकें तथा किसी प्रकार का नवीन सामाजिक चेतना विकसित न हो सकें।

धार्मिक नेताओं द्वारा अपने विचारों के प्रचार प्रसार हेतु अनेक संगठनों का निर्माण किया जाता है। ऐसे संगठनों में प्रारंभ से ही ऐसे मूल्यों और विचारों की प्रेरणा दी जाती है जो अन्य धर्म व विचारों के प्रति घृणा व असहिष्णुता पैदा कर देती है। जनता के विचारों को भी अपने तरीके से परिवर्तित करने का प्रयास किया जाता है। इस स्थिति को बौद्धिक अधिनायक की संज्ञा दी जा सकती है। यह बौद्धिक अधिनायकवाद समाज में अशांति एवं विषमताएं बढ़ाने में सहायक होता है।

दुर्भाग्य से आज धर्म की चर्चा में मानव अक्सर बहुत पीछे छूट जाता है, कर्मकांड आगे आ जाते हैं और आगे आ जाती हैं वे व्यवस्थाएं, मान्यताएं तथा परिभाषाएं जो धर्मग्रंथों में लिखी हुई हैं। आगे आ जाते हैं वे स्वार्थ जो मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर, मठों, चैत्यों, गुरुद्वारों और अन्य पूजाघरों के साथ जुड़े हुए हैं। क्या यह अपने आपमें एक बहुत क्रूर व्यंग्य नहीं कि एक ओर तो विश्व में मंदिरों, मस्जिदों, गिरजाघरों, चैत्यों, मठों व अन्य उपासना केन्द्रों की संख्या बढ़ती ही चली जा रही है तथा धर्म के नाम पर देवी-देवताओं की न जाने कितनी प्रतिमाएं गढ़ी जा चुकी हैं और आज भी गढ़ी जा रही हैं, लेकिन जिसके लिए यह सभी कुछ हो रहा है वह मानव अधिकाधिक संकीर्ण, अनुदार, असहिष्णु व अधार्मिक, अशांत और उद्विग्न होता चला जा रहा है। आज का औसत व्यक्ति धर्मग्रंथों को पढ़कर तथा मुल्ला, मौलवियों, पुजारियों, ग्रंथियों और पादरियों की बातों को सुनकर जिस तरह से 'धर्म' की व्याख्या करने लगता है तथा 'धर्म' के बारे में उसकी जो वर्तमान समझ है, उससे यहीं संकेत मिल रहा है कि वह पहले की अपेक्षा और अधिक स्वार्थी, संकीर्ण व अज्ञानग्रस्त हो चुका है। अगर व्यक्ति संकीर्ण, अनुदार, सांप्रदायिक और दुराग्रही बनता है, तब यह नहीं कहा जा सकता कि व्यक्ति का वास्तविक विकास हो रहा है। किसी भी व्यक्ति का वास्तविक विकास हो रहा है या नहीं, इसका निर्णय इस बात से नहीं किया जा सकता कि वह व्यक्ति अपनी धार्मिक मान्यता के लिए मरने-मारने के लिए कितना तैयार है। इस बात से भी व्यक्ति के विकास या उसके धार्मिक होने की स्थिति प्रकट नहीं होती कि वह पुस्तकों में लिखे गए कर्मकांड, आचार-विचार व व्यवहार के प्रति कितना सजग व सचेतन तथा कर्मठ है। कर्मकांड के प्रति अतिप्रतिबद्धता एक सीमा पर जाकर व्यक्ति को कठोर व अनुदार बना देती है। व्यक्ति के विकास का निर्धारण तो इसी बात से किया जा जाएगा कि उस व्यक्ति के हृदय में प्रेम की जो रसधार है, मनुष्यत्व का जो स्रोत है, उसमें कितना अमृत और कितना विष है ?

यदि हम थोड़ी गहराई में उतरकर सोच सकें तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि 'धर्म' का उद्देश्य है स्वयं के अस्तित्व का विकास और यह विकास निज के ही चिंतन, मनन, निदिध्यासन और अभ्यास द्वारा ही हो सकता है। बात स्वयं के उस सत्य को, उस यथार्थ को पहचान लेने की है कि शरीर गौण है और मुख्य है चेतना। यह चेतना शरीरगत या रूपगत प्रतीत होती है। कुछ चिंतन और अभ्यास के उपरांत एक स्थिति आती है, जब व्यक्ति इस अनुभूति में प्रवेश कर सकता है कि चेतना को खंडित नहीं किया जा सकता। धर्म हमें अज्ञान से दूर ले जाने का एक सशक्त प्रयास है। यह मानसिक व बौद्धिक मूर्च्छा को दूर करने की एक सफल औषधि है, पर इस औषधि को एक रोगी पर पृथक्-पृथक् ढंग से प्रयोग करने की अनिवार्य आवश्यकता है। हर व्यक्ति की मानसिक व बौद्धिक संरचना पृथक्-पृथक् होती है, अतः अज्ञानरूपी रोग की स्थिति भी पृथक्-पृथक् ही होगी। और यही कारण है कि सामूहिक धर्म या सामूहिक उपचार अथवा सामूहिक औषधि के माध्यम से अज्ञान का उपचार असंभव है, पर दुर्भाग्यवश आज भी धर्म के नाम पर सामूहिक उपचार की व्यवस्था की जाती है। यह सामूहिक उपचार व्यक्ति को सांप्रदायिक बनाता है और उसके कारण ही भीड़ का मनोविज्ञान व्यक्ति पर प्रभावी हो जाता है। भीड़ के इस मनोविज्ञान ने धर्म को उसकी उच्च चेतना से गिराया है, उसे और निर्मल, विमल तथा पारदर्शी नहीं बनाया।

धर्म के नाम पर गढ़े गए बाह्य परिवेश व प्रतीक जैसे कि मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर बहुत ही सीमित रूप में केवल तब लाभकारी हो सकते हैं जब उनका प्रयोग सर्वव्यापी चैतन्य को समझने के लिए किया जाए। बाह्य प्रतीकों का महत्व मानव के आंतरिक विकास में बहुत ही सीमित होता है। सामान्यतः ये बाह्य प्रतीक समाज में विभाजन व सांप्रदायिकता के साधन बन जाते हैं तथा परम एकत्व के चिंतन में बाधक बनने लगते हैं, क्योंकि इन प्रतीकों के साथ राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक स्वार्थ जुड़ जाते हैं। जिस क्षण किसी भी प्रतीक के साथ स्वार्थ व अहंकार जुड़ता है, वह प्रतीक परम एकत्व की चेतना का वाहक नहीं रह जाता, बल्कि वह चेतना का विभाजक बन जाता है और यहीं से प्रारंभ होता है धर्म के नाम पर किया जाने वाला मानव का अनिष्ट।

धर्म इसीलिए विवादग्रस्त है, क्योंकि उसे अहं ने प्रभावित कर दिया है। श्रद्धा, आस्था और विश्वास के नाम पर जब व्यक्ति पर अनुभव, अनुभूति और विचार ही नहीं, बल्कि कर्मकांड भी थोप दिए गए और उनकी रक्षा के लिए संगठन व संस्थाएं बनाई गईं तो फिर विवाद को हवा मिलनी ही थी। जिन्होंने वास्तविक सत्य को जाना है, उनमें मतभेद हो ही नहीं सकता, क्योंकि सत्य के दो रूप नहीं हो सकते। हां, सत्य को देखने के व सत्य तक पहुंचने के अनेक मार्ग अवश्य हो सकते हैं। सत्य तक पहुंचने के मार्गों की जो विभिन्नता है, उसका अर्थ यह नहीं है कि सत्य अनेक प्रकार का होगा।

धर्म के नाम पर उठा यह विवाद वास्तव में अधर्म का पोषण करता है तथा व्यक्ति व समाज को धर्म की चेतना से बहुत दूर खदेड़ देता है। धर्म के नाम पर विभाजन या विवाद करने वाला व्यक्ति और धर्म की आड़ में भेद को मान्यता देने वाला व्यक्ति कभी भी धार्मिक नहीं हो सकता, लेकिन यहां भी अतिवाद से सावधान रहना होगा। सावधानी की आवश्यकता इसलिए है, क्योंकि धर्म की जो वास्तविक उदारता और विराटता है, कहीं उसका अनुचित लाभ उठाकर ऐसी शक्तियां न जन्म लेने लें, जिनका उद्देश्य धार्मिकता और धार्मिक चेतना को विनष्ट करना हो।

सांस्कृतिक हिंसा

जब किसी भी संस्कृति में जाति, वर्ण, वर्ग लिंग आधारित, विचारों को प्रोत्साहित किया जाता है तो वह

संस्कृति हिंसात्मक व्यवस्थाओं को जन्म देती है। अन्य संस्कृतियों का निरादर व स्वयं को श्रेष्ठता का प्रतीक मानना सांस्कृतिक हिंसा का रूप है। यह सांस्कृतिक हिंसा वास्तविक व बड़े युद्ध का कारण बन सकती है हिटलर ने **Germany** में नाजियों के श्रेष्ठता का विचार का रोपण किया। उसका मानना था कि **German** श्रेष्ठ जाति है तथा इसे अन्य सभी संस्कृतियों पर राज करने का अधिकार है। हिटलर का विचार द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रमुख कारण है। इस प्रकार सांस्कृतिक मूल्यों के कारण किसी संस्कृति में श्रेष्ठता हीनता का विचार हिंसा की उत्पत्ति को जन्म देने वाले हो सकते हैं।

प्रसिद्ध **Socialist glting** मानते हैं कि विश्व शांति एवं शांत समाजिक रचना के लिये सांस्कृतिक अन्तर्संबंध आवश्यक है। उनका मानना है कि विश्व में अनेक सांस्कृतियां हैं तथा हर संस्कृति की अपनी विशेषता है तथा हर एक को अपनी संस्कृति में पर्याप्त स्थापित करने का अधिकार है किन्तु वे साथ ही ये भेद भी स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक संस्कृति स्वयं में अपूर्ण है प्रत्येक संस्कृति स्वयं में अपूर्ण है, तथा प्रत्येक संस्कृति में पर्याप्तता का अभाव है, इसीलिए प्रत्येक मनुष्य को विभिन्न संस्कृतियों से अन्तर्संबन्ध स्थापित करना चाहिये ताकि दूसरी संस्कृतियों के अन्य मूल्यों से परिचित होकर उन्हें अपनी संस्कृति में स्थापित कर सके। वास्तव में विश्व में व्याप्त सांस्कृतिक गतिरोध को एक दूसरे की संस्कृतियों के उच्च मूल्यों को गहन कर तथा उन्हें आदर देने से दूर हो सकते हैं।

स्त्रियों की दशा

हमारे देश में ग्रामीण समाज मुख्य व व्यापक है। ग्रामीण समाजों में नारी वर्ग की स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। इसके कई कारण हैं, जिनसे स्त्रियों की हर कदम पर उपेक्षा की जाती है:

1. संयुक्त परिवार प्रथा के कारण घर में पुरुषों की भूमिका मुख्य होती है। बाहरी व आर्थिक बागडोर इन्हीं के हाथों में होती है। स्त्री अपने घर-बच्चों तक ही सीमित रहती है। इसकी इच्छाओं, भावनाओं व अधिकारों का सदा दमन व विरोध किया जाता है। कम आयु में ही इनका विवाह कर दिया जाता है। शिक्षा का अधिकार नहीं दिया जाता है। किसी भी सामूहिक कार्य में स्त्रियों का सहयोग नहीं लिया जाता। इन्हें भोग-विलास व सेवा की वस्तु माना जाता है।

2. निरक्षरता — भारतीय संतों व पंडितों ने स्त्री स्वतंत्रता व महिमा का सदा ही विरोध किया तथा इसे नाना तरह से कलंकित व बंधित किया गया। इसके तहत शास्त्र पठन-पाठन से रोका गया, घर में कैद रखा गया, पर्दा प्रथा में धकेल दिया गया तथा इसे कूप-मंडूक बना दिया गया। नाना प्रकार के कठिन नियम व निषेध लगा दिये गये। फलतः इनका बौद्धिक स्तर घट गया और ये अत्यन्त अज्ञानी व भ्रमित बनती गईं।

3. आर्थिक गुलामी — स्त्रियों को आर्थिक प्रभुता से वंचित रखा गया तथा पुत्रों को ही पिता की सम्पत्ति व मुद्रा पर काबिज बनाया गया। आर्थिक दासता ने स्त्रियों की इच्छाओं-भावनाओं को दीन-दमित कर दिया। हर छोटी-सी इच्छा के लिए पुरुष पर निर्भर बनाया गया। फलतः नारी में धन के प्रति लोभ-राग बढ़ता गया और इसी हेतु उन्हें दमित होते रहना पड़ा।

4. अनमेल विवाह — भारत में नारी को स्वेच्छा से विवाह करने के अधिकार से वंचित कर दिया गया था। अतः कम उम्र में ही कन्या का विवाह बिना सहमति के अधिक उम्र के पुरुषों के साथ कर दिया जाता है। इससे स्वस्थ संतान पैदा नहीं हो पाती, ना ही नारी को यौन सुख मिल पाता है। यौन अतृप्ति से अनेक

रोग-विकार पैदा होते हैं, जो बाद में स्वास्थ्य व बुद्धि को तहस-नहस कर देते हैं। ग्रामीण स्त्रियों को कम उम्र से ही लगातार मां बनते रहना पड़ता है। फलतः इनका स्वास्थ्य चौपट हो जाता है तथा ये असमय ही मृत्यु के गाल में समा जाती हैं।

5. दहेज का दैत्य : भारत में स्त्री को दहेज के कारण काफी कष्ट उठाने पड़ते हैं। समय पर स्वेच्छा से विवाह संभव नहीं हो पाता। मां, बाप व भाइयों से अपशब्द व अपमान सहने पड़ते हैं। ससुराल में कम दहेज के लिए प्रताड़ित होना पड़ता है। विवाहिताओं को दहेज के लोभ में जला व मार दिया जाता है। दहेज को आज भी आवश्यकता से ज्यादा सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त हो रही है। फलतः स्त्री के पिता आदि को भ्रष्ट व बुरे कार्यों से धन संग्रह हेतु बाध्य होना पड़ता है। ऋण लेने व चुकाने पड़ते हैं। फिर भी कम दहेज का अपमान भांगना पड़ता है। इससे नारी का आत्म-सम्मान नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है तथा वे मानसिक रूप से कमजोर व द्रिष्ट हो जाती हैं।

6. छोटी उम्र में श्रम व शोषण — नारी को छोटी उम्र में ही घर के श्रम प्रधान कार्यों के बोझ तले कुचल दिया जाता है। उसे पुरुषों की तरह खेलने, खाने, सोने व हंसने से रोका जाता है। फलतः इनका बौद्धिक विकास ठप्प हो जाता है। फिर भी अपमान व उपेक्षा से देखा जाता है। खाने-पहनने को पर्याप्त नहीं दिया जाता। गुलामों की तरह व्यवहार किया जाता है। शोषण व अपमान ही इनकी किस्मत होती है।

इस तरह हम देखते हैं कि ग्रामीण समाज में नारी के साथ अन्याय होता है। इनका संतान न होने पर डायन कहा जाता है। कन्या को जन्म देने पर दारिद्र्य कहा जाता है। विधवा होने पर खूब अपमानित व शोषित किया जाता है तथा दूसरा विवाह नहीं किया जाता। आर्थिक स्थिति दयनीय होने पर इनका दैहिक शोषण खुलकर किया जाता है। कुल मिलाकर नारी वर्ग अभिशप्त ही बना रहा है। शहरों में भी नारियों को गलत रासते पर डालने के प्रचुर प्रयास होते हैं। इनको अनैतिक कर्मों हेतु प्रलोभन व भय देकर भ्रष्ट कर दिया जाता है। फिर भी आजादी के बाद से स्थितियों में काफी सुधार आए हैं। अब शिक्षा, समानता तथा प्रेम दिये जाने लगे हैं। नारियों को आरक्षण दिया गया है। इनके विकास हेतु सहकारी कार्यक्रम चलाये गये हैं आज नारी पुलिस, सेना, प्रशासन, राजनीति तथा शिक्षा व कला, साहित्य के क्षेत्रों में काफी प्रतिष्ठा पा रही है। फिर भी नारी अपनी भावनाओं से कमजोर होने के चलते द्वितीय दर्जा ही पाने को विवश है।

अस्पृश्यता

अनुसूचित जाति शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 1935 में साइमन कमीशन द्वारा किया गया था। इस शब्द का प्रयोग अस्पृश्य लोगों के लिए किया गया। अम्बेडकर के अनुसार आदिकालीन भारत में इन्हें 'भग्न पुरुष' या 'बाह्य' जाति माना जाता था। अंग्रेजों के द्वारा उन्हें दलित वर्ग कहा जाता था। 1931 की जनगणना में उन्हें बाहरी जाति के रूप में सम्बोधित किया गया। महात्मा गांधी ने उन्हें हरजिन के नाम से पुकारा। स्पष्ट है कि ब्रिटिश काल में अछूतों या अस्पृश्यों को दलित वर्ग के नाम से पुकारा गया। अस्पृश्य जातियों के नामकरण के सम्बन्ध में शुरू से काफी विवाद रहा है। इन्हें अछूत, दलित, बाहरी जातियां, हरिजन एवं अनुसूचित जाति आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। इनकी आर्थिक स्थिति के अत्यन्त दयनीय होने के कारण इनके लिए 'अछूत' शब्द के स्थान पर दलित वर्ग शब्द का प्रयोग किया गया। आर्य समाज की मान्यता थी कि वह वर्ग अछूत न होकर दलित है, क्योंकि समाज ने इन्हें दबाकर और सब प्रकार के अधिकारों से वंचित रखा है। इनकी निम्न दशा के लिए ये स्वयं उत्तरदायी नहीं हैं, बल्कि समाज उत्तरदायी है। सन् 1931 की जनगणना के पूर्व तक इनके

लिए दलित शब्द का ही प्रयोग किया जाता था। इस जनगणना के समय जनगणना अधीक्षक ने दलित शब्द के स्थान पर बाहरी जातियां शब्द का प्रयोग किया। इस शब्द के प्रयोग का कारण यह था कि इन जातियों का भारतीय सामाजिक संरचना में कोई स्थान नहीं था। सन् 1935 के विधान में इन लोगों को विशेष सुविधाएं प्रदान करने की दृष्टि से एक अनुसूची तैयार की गई जिसमें विभिन्न अस्पृश्य जातियों को सम्मिलित किया गया। इस अनुसूचि के आधार पर वैधानिक दृष्टिकोण से इन जातियों के लिए 'अनुसूचित जाति' शब्द को काम में लिया गया। इनके लिए तैयार की गई। सूचि में जिन अस्पृश्य जातियों को रखा गया, उन्हें अनुसूचित जातियां कहा गया। इन्हीं लोगों को दलित माना जाता रहा है। अनुसूचित जातियों की सूची में कुछ प्रमुख जातियां हैं चुहडा, भंगी, चमार, डोम, पासी, रैगर, मोची, राजबंसी, दोसड़, शानन, धियान, पेरेयां तथा कोरी।

सामान्यतः अनुसूचित जातियों को अस्पृश्य जातियां भी कहा जाता है। अतः इनकी परिभाषा अस्पृश्यता के आधार पर की गई है। साधारणतः अनुसूचित जाति का अर्थ जन जातियों से लगाया जाता है जिनका उल्लेख धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सुविधाएं दिलाने के लिए संविधान की अनुसूची में किया गया है। इन्हें अछूत जातियां, दलित वर्ग, बाहरी जातियां और हरिजन नामों से भी पुकारा जाता है। अनुसूचित जातियों को ऐसी जातियों के आधार पर परिभाषित किया गया है जो घृणित पेशों के द्वारा अपनी आजीविका अर्जित करती हैं, किन्तु अस्पृश्यता के निर्धारण का यह सर्वमान्य आधार नहीं है। इसका कारण यह है कि अनेक ऐसी जातियां भी हैं जो घृणित व्यवसायों में लगी हुई हैं, परन्तु फिर भी उन्हें संवैधानिक रूप से अनुसूचित जाति नहीं माना जाता है। अस्पृश्यता का सम्बन्ध प्रमुखतः पवित्रता एवं अपवित्रता की धारणा से है। हिन्दू समाज में कुछ व्यवसायों या कार्यों को पवित्र एवं कुछ को अपवित्र समझा जाता रहा है। यहां मनुष्य या पशु-पक्षी के शरीर से निकले हुए पदार्थों को अपवित्र माना गया है। ऐसी दशा में इन पदार्थों से सम्बन्धित व्यवसाय में लगी जातियों को अपवित्र समझा गया और उन्हें अस्पृश्य कहा गया। अस्पृश्यता समाज की एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत अस्पृश्य समझी जाने वाली जातियों के व्यक्ति सवर्ण हिन्दुओं को स्पर्श नहीं कर सकते थे।

अस्पृश्यता का तात्पर्य है 'जो छूने योग्य नहीं है।' अस्पृश्यता एक ऐसी धारणा है जिसके अनुसार एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को छूने, देखने और छाया पड़ने मात्र से अपवित्र हो जाता है। सवर्ण हिन्दुओं को अपवित्र होने से बचाने के लिए अस्पृश्य लोगों के रहने के लिए अलग से व्यवस्था की गई, उन पर अनेक नियोग्यताएं लाद दी गई और उनके सम्पर्क से बचने के कई उपाय किए गए। अस्पृश्यता के अन्तर्गत वे जातीय समूह आते हैं जिनके छूने से अन्य व्यक्ति अपवित्र हो जाएं और जिन्हें पुनः पवित्र होने के लिए कुछ विशेष संस्कार करने पड़े। इस सम्बन्ध में डॉ. के.एन. शर्मा ने लिखा है – "अस्पृश्य जातियां वे हैं जिनके स्पर्श से एक व्यक्ति अपवित्र हो जाए और उसे पवित्र होने के लिए कुछ कृत्य करने पड़े।

हट्टन ने कुछ ऐसी नियोग्यताओं का उल्लेख किया है जिनके आधार पर अस्पृश्य जातियों के निर्धारण का प्रयत्न किया गया है। आपने उन लोगों को अस्पृश्य माना है जो

- (अ) उच्च स्थिति के ब्राह्मणों की सेवा प्राप्त करने के अयोग्य हों,
- (ब) सवर्ण हिन्दुओं की सेवा करने वाले नाइयों, कहारों तथा दर्जियों की सेवा पाने के अयोग्य हों,
- (स) हिन्दु मन्दिरों में प्रवेश प्राप्त करने के अयोग्य हों,
- (द) सार्वजनिक सुविधाओं (पाठशाला, सड़क तथा कुआं) का उपयोग में लाने के अयोग्य हों और
- (य) घृणित पेशे से पृथक् होने के अयोग्य हों।

सारे देश में अस्पृश्यों के प्रति एक-सा व्यवहार नहीं पाया जाता और न ही देश के विभिन्न भागों में अस्पृश्यों के सामाजिक स्तर में समानता पाई जाती है। अतः हट्टन द्वारा दिए गए उपर्युक्त आधार भी अन्तिम नहीं है। डॉ. डी.एन. मजूमदार के अनुसार — “अस्पृश्य जातियां वे हैं जो विभिन्न सामाजिक एवं राजनीतिक निर्योग्यताओं से पीड़ित हैं, जिनमें से बहुत सी निर्योग्यताएं उच्च जातियों द्वारा परम्परागत रूप से निर्धारित और सामाजिक रूप से लागू की गई हैं।

दलितों (अनुसूचित जातियां/अस्पृश्यों) की निर्योग्यताएं

दलित जातियों की स्थिति को जानने के बाद अब हम उनकी कुछ प्रमुख समस्याओं एवं निर्योग्यताओं पर विचार करेंगे। निर्योग्यताओं का तात्पर्य है — किसी वर्ग अथवा समूह को कुछ अधिकारों या सुविधाओं को प्राप्त करने के अयोग्य मान लेना। भारत में दलित जातियों (अनुसूचित जातियों) की अनेक निर्योग्यताएं रही हैं। इन निर्योग्यताओं के कारण इन्हें जीवन में आगे बढ़ने और अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर नहीं दिया गया। ये निर्योग्यताएं इनके लिए बहुत बड़ी बाधा के रूप में सिद्ध हुई। इन्हें दासों के समान जीवन बिताने के लिए मजबूर किया गया और सब प्रकार की सुख-सुविधाओं से वंचित रखा गया। यहां बता देना आवश्यक है कि दलितों या अस्पृश्यों की ये निर्योग्यताएं 19वीं शताब्दी के अन्त तक ही मौजूद रही हैं, 20वीं शताब्दी के आरम्भ से ही सुधार आन्दोलनों तथा बाद में स्वतन्त्र भारत में सरकारी प्रयत्नों के परिणामस्वरूप इनमें काफी कमी आई है। स्मृतियों, पुराणों तथा धर्मग्रंथों में दलितों (अस्पृश्यों) की निर्योग्यताओं का उल्लेख निम्न प्रकार से किया गया।

(I) दलितों की धार्मिक निर्योग्यताएं

1. दलितों (अस्पृश्यों) को अपवित्र माना गया और उन पर कई निर्योग्यताएं लाद दी गई। इन लोगों को मन्दिर में प्रवेश, पवित्र नदी-घाटों के उपयोग तथा पवित्र स्थानों पर आने तथा अपने ही घरों पर देवी-देवताओं की पूजा करने का अधिकार नहीं दिया गया। इन्हें वेदों तथा अन्य धर्मग्रंथों के अध्ययन की आज्ञा भी नहीं दी गई।

2. दलितों को सब प्रकार की धार्मिक सुविधाओं से वंचित कर दिया गया। दलितों अर्थात् अस्पृश्यों को पूजा, आराधना, भगवत भजन तथा कीर्तन आदि का कोई अधिकार नहीं दिया गया। ब्राह्मणों को उनके यहां पूजा, श्राद्ध तथा यज्ञ कराने की आज्ञा नहीं दी गई।

3. दलितों को जन्म से ही अपवित्र माना गया है और इसी कारण इनके शुद्धिकरण के लिए संस्कारों की व्यवस्था नहीं की गई है। हिन्दुओं के शुद्धिकरण हेतु धर्मग्रंथों में सोलह प्रमुख संस्कारों का उल्लेख मिलता है। इनमें से अधिकांश को पूरा करने का अधिकार दलितों को नहीं दिया गया है।

(II) दलितों की सामाजिक निर्योग्यताएं

1. दलितों को सवर्ण हिन्दुओं के साथ सामाजिक सम्पर्क रखने व उनके सम्मेलनों, गोष्ठियों, पंचायतों, उत्सवों आदि में भाग लेने की आज्ञा नहीं दी गई थी। उन्हें उच्च जाति के हिन्दुओं के साथ खान-पान का सम्बन्ध रखने से वंचित रखा गया था।

2. दलितों (अस्पृश्यों) को अन्य हिन्दुओं के द्वारा काम में लिए जाने वाले कुओं से पानी नहीं भरने दिया जाता, स्कूलों में पढ़ने और छात्रावासों में नहीं रहने दिया जाता था। इन लोगों को उच्च जातियों द्वारा काम में ली जाने वाली वस्तुओं के उपयोग की भी आज्ञा नहीं थी। उदाहरण के रूप में ये पीतल तथा तांबे के बर्तन काम

में नहीं ले सकते थे, अच्छे वस्त्र तथा सोने के आभूषण नहीं पहन सकते थे।

3. दलितों या अस्पृश्यों को शिक्षा प्राप्त करने की आज्ञा नहीं दी गई थी। इन्हें चौपालों, मेलों तथा हाटों में शामिल होकर अपना मनोरंजन करने का अधिकार नहीं दिया गया था। परिणाम यह हुआ कि समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग निरक्षर रह गया।

4. आश्चर्य की बात तो यह है कि स्वयं दलितों (अस्पृश्यों) में भी संस्तरण की प्रणाली अर्थात् ऊँच-नीच का भेद पाया जाता है। ये लोग तीन सौ से भी अधिक उच्च व निम्न जातीय समूहों में बंटे हुए हैं जिनमें से प्रत्येक समूह की स्थिति एक-दूसरे से ऊँची अथवा नीची है।

(III) दलितों की आर्थिक निर्योग्यताएं

1. दलितों को वे सब कार्य सौंपे गए जो सवर्ण हिन्दुओं द्वारा नहीं किए जाते थे। आर्थिक निर्योग्यताओं के कारण दलितों की आर्थिक स्थिति इतनी दयनीय हो गई कि उन्हें विवश होकर सवर्णों के झूठे भोजन, फटे पुराने वस्त्रों तथा त्याज्य वस्तुओं से ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ी। दलितों (अस्पृश्यों) को मल-मूत्र उठाने, सफाई करने, मरे हुए पशुओं को उठाने तथा उनके चमड़े से वस्तुएं बनाने का कार्य सौंपा जाता। ये लोग गांवों में अधिकतर भूमिहीन श्रमिकों के रूप में कार्य करते थे। इन लोगों पर यह निर्योग्यताएं लाद दी गई थी कि वे अपने परम्परागत पेशे को छोड़कर किसी अन्य पेशे को नहीं अपना सकते।

2. दलितों को सम्पत्ति सम्बन्धी निर्योग्यता से भी पीड़ित रहना पड़ा है। इन्हें भूमि अधिकार तथा धन-संग्रह की आज्ञा नहीं दी गई। दलितों को दासों के रूप में अपने स्वामियों की सेवा करनी पड़ती थी, चाहे प्रतिफल के रूप में उन्हें कितना ही कम क्यों न दिया जाए।

3. दलितों का आर्थिक दृष्टि से शोषण हुआ है। उन्हें घृणित से घृणित पेशों को अपनाने के लिए बाध्य किया गया, बदले में इतना भी नहीं दिया गया कि वे भरपेट भोजन कर सकें। उनकी महत्वपूर्ण सेवाओं के बदले में समाज ने उन्हें झूठा भोजन, त्याज्य वस्तुएं व फटे-पुराने वस्त्र दिए।

(iv) दलितों की राजनीतिक निर्योग्यताएं

दलितों को राजनीति के क्षेत्र में सब प्रकार के अधिकारों से वंचित रखा गया था। उन्हें शासन के कार्य में किसी भी प्रकार का कोई हस्तक्षेप करने, कोई सुझाव देने, सार्वजनिक सेवाओं में नौकरी प्राप्त करने या राजनैतिक सुरक्षा प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं दिया गया था। दलितों के लिए सामान्य अपराध के लिए भी कठोर दण्ड की व्यवस्था थी।

दलितों की उपर्युक्त निर्योग्यताएं मध्यकालीन सामाजिक व्यवस्था से विशेष रूप से सम्बन्धित रही हैं। वर्तमान संदर्भ में ये निर्योग्यताएं इतिहास की बातें बनकर रह गई हैं। वर्तमान में दलितों (अस्पृश्य जातियों, अस्पृश्यों) की समस्या प्रमुखतः सामाजिक एवं आर्थिक है न कि धार्मिक एवं राजनीतिक। काफी लम्बे समय से सब प्रकार के अधिकारों से वंचित, निरक्षर तथा चेतनाशून्य होने के कारण इनकी स्थिति में सुधार होने में कुछ समय लगेगा। इनके प्रति लोगों की मनोवृत्ति में धीरे-धीरे बदलाव आएगा व कालान्तर में ये सामाजिक जीवन की मुख्य धारा में प्रवाहित हो सकेंगे। दलितों या अस्पृश्यों की निर्योग्यताएं नगरों में समाप्त प्रायः होती जा रही हैं, परन्तु ग्रामों में आज भी दिखाई पड़ती है। इनका मुख्य कारण यह है कि ग्रामों में सामाजिक परिवर्तन की गति धीमी है।

यह सत्य है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् दलित या अस्पृश्य कहे जाने वालों लोगों की कोई नियोग्यताएं दूर की गई, लेकिन यहां हमें इस बात को भी ध्यान में रखना है कि जब तक इन लोगों पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाएगा तथा उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति को ऊँचा नहीं उठाया जाएगा तब तक ये लोग देश में उपलब्ध सामान्य सुविधाओं का लाभ नहीं उठा पायेंगे। गांधीजी का भी यही मत था कि जब तक हम दलितों (हरिजनों) को अपने भाइयों जैसा नहीं मानते तब तक हम विश्व-बन्धुत्व की बात नहीं कर सकते। दलितों (अनुसूचित जातियों) की एक नवीन समस्या यह है कि इनमें भी वर्गभेद पनपने लगा है। जिन परिवारों के सदस्यों ने उच्च शिक्षा ग्रहण कर उच्च पद प्राप्त कर लिए हैं अथवा सरकार से ऋण अथवा अन्य सुविधाएं प्राप्त कर अपनी आर्थिक स्थिति सुधार ली है वे स्वयं लोगों से पृथक् व उच्च समझने लगे हैं। ऐसे लोगों को अपनी जाति, समाज और राष्ट्र के व्यापक दृष्टिकोण से सोचने तथा कार्य करने की दिशा में आगे बढ़ने की आवश्यकता है।

दलित या अनुसूचित जातियों के अधिकतर लोग गांवों में कृषि, श्रमिकों तथा औद्योगिक क्षेत्रों एवं नगरों में कारखानों में अथवा अन्यत्र श्रमिकों के रूप में कार्यरत हैं। कभी-कभी कुछ लोगों के द्वारा इन लोगों के साथ आज भी छोटै-छोटे कारणों को लेकर अमानवीय व्यवहार तक किया जाता है, इन पर अत्याचार तक किए जाते हैं। यदि ये लोग ऐसी घटनाओं का विरोध करते हैं तो गांव में इनका सामाजिक बहिष्कार तक कर दिया जाता है। इस प्रकार की घटनाएं मध्यप्रदेश, बिहार, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश तथा कुछ अन्य राज्यों में समय-समय पर घटित हो चुकी है। इनके पीछे प्रमुख कारण भूमि सम्बन्धी झगड़े, न्यूनतम मजदूरी से कम दर पर मजदूरी का भुगतान, ऋणग्रस्तता, बेगार, सार्वजनिक स्थानों को काम में लेने की मनाही आदि रहे हैं। अन्य शब्दों में शोषण से मुक्ति पाने की मांग ही इन घटनाओं के लिए मुख्यतः उत्तरदायी हैं।

सामाजिक हिंसा

सामाजिक हिंसा स्वयं में एक व्यापक अवधारणा है। जब हम समाज की संरचना के हिंसक होने के संदर्भ में विवेचन करते हैं तो उसमें आर्थिक राजनैतिक, धार्मिक प्रायः सभी आयाम शामिल होते हैं। संकीर्ण अर्थों में भी यदि हम सामाजिक हिंसा को समझे तो समाज का स्वरूप इसके लिये उत्तरदायी है जिसमें वर्ण, जाति, लिंग आदि को श्रेष्ठ या हीन माना जाता है। किसी समाज के सदस्यों के प्रति अस्पृश्यता की भावना या तिरस्कारपूर्ण व्यवहार सामाजिक संरचना में हिंसा के तत्वों का समावेश करता है। प्राचीन काल से ही भारतीय सामाजिक संदर्भों में किसी न किसी प्रकार के शोषण, अन्याय एवं हिंसा का समावेश रहा है। किन्तु आधुनिक समाजशास्त्री सामाजिक ढांचे में आर्थिक और राजनैतिक तत्वों को सामाजिक हिंसा का प्रमुख कारण स्वीकारती है तथा इस प्रकार की हिंसा उन्मूलन के लिये ऐसी आर्थिक व्यवस्था का समर्थन करते हैं जिसमें समाज के सभी सदस्यों की मूलभूत आवश्यकता की गरिमापूर्ण पूर्ति होती रहती है। एक ऐसी आर्थिक संरचना ही समाज में हिंसा का उन्मूलन करा सकती है। जिसमें उत्पादन एवं वितरण के केन्द्रों पर समाज के सदस्यों का अधिकार है। संसाधनों के उपभोग में विषमता का अभाव होता है तथा आर्थिक गतिविधियों का आधार वास्तविक कल्याण एवं शुभ लाभ हो। इसी प्रकार सामाजिक हिंसा के उन्मूलन हेतु राजनीतिक संरचना में भी व्यापक सुधार की अपेक्षा रहती है। यद्यपि लोकतांत्रिक प्रणाली को सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक प्रणाली के रूप में स्वीकार किया जाता है तथापि इस राजनीतिक व्यवस्था में भी निश्चित रूप से कई प्रकार के दोषों का समावेश हो जाता है। वास्तविक अहिंसक राजनीतिक प्रणाली उसे माना जा सकता है जिसमें केवल बहुमत के चिंतन को महत्व न देकर राज्य के सभी नागरिकों के हितों का चिंतन किया जाये। जिसमें सर्व के कल्याण की भावना निहित हो तथा तदनु रूप कार्यक्रमों का नियोजन किया जाये। अहिंसक राजनैतिक प्रणाली एक ऐसी प्रणाली है जिसमें सत्ता का केन्द्रीकरण न होकर समाज के

निम्न स्तर तक के व्यक्ति तक सत्ता के अधिकारों का प्रवाह हो। इसी प्रकार भारतीय संदर्भ में कई प्रकार की ऐसी विशिष्ट समस्याएं हैं जो यहां के सामाजिक स्वरूप को विषाक्त करती रहती हैं। सामाजिक समस्याओं के संदर्भ में शिक्षा का अभाव, जातिवाद, लैंगिक विषमता, स्त्रियों के प्रति उपेक्षित व्यवहार, धार्मिक असहिष्णुता, प्रातंवाद, क्षेत्रवाद, भाषावाद, आदि कई प्रकार की समस्यायें सामाजिक हिंसा को अवकाश देती रहती हैं। इसके अतिरिक्त वाणिज्यिक क्षेत्र से संबंधित तस्करी, कालाबाजारी, भ्रष्टाचार आदि समस्यायें समाज को विषम स्वरूप में डाल देती हैं। अतः सामाजिक हिंसा का स्वरूप केवल मूर्त हो यह आवश्यक नहीं है इसका स्वरूप अमूर्त भी हो सकता है अतः सामाजिक हिंसा के उन्मूलन हेतु इन हिंसक एवं अमूर्त तत्वों का उन्मूलन आवश्यक है।

राज्य द्वारा हिंसा

सामान्यतः राज्य का एक संस्था के रूप में अस्तित्व होने पर ही भारी वैचारिक मतभेद पाया जाता है। जहां एक ओर अरस्तु जैसे विचारक राज्य को श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के लिये स्वाभाविक संस्था के रूप में अनिवार्य मानते थे तो वही गांधी मार्क्स जैसे विचारक राज्य को संगठित हिंसा का प्रतीक मानते हुए इसको समाप्त करने की वकालत करते हैं। क्योंकि व्यक्ति को वे नैतिक प्राणी मानते थे और उसकी समस्याओं को राज्य द्वारा भौतिक समाधान के रूप में अनुचित मानते हैं। सम्भवतः कारण गांधी, **Tolosty** आदि विचारकों को दार्शनिक अराजकतावादी कहा गया तथा मार्क्स को केवल अराजकतावादी।

वर्तमान में राज्य द्वारा कानून एवं न्याय की स्थापना हेतु तथा सत्ता की सुरक्षा हेतु पुलिस एवं सेना जैसे साधनों का प्रयोग किया जाता है जिनकी प्रकृति मूल रूप से हिंसक ही है। वैसे भी राज्यों द्वारा अन्तराष्ट्रीय संबंधों में हिंसा को पूर्णतः व्याप्त नहीं माना गया है। जापान जैसा देश जो कि युद्ध की समाप्ति तथा शांति की स्थापना के लिये अपने संविधान में एक सम्पूर्ण अध्याय समर्पित किये हैं वे भी सुरक्षात्मक दृष्टि से युद्ध के निषेध के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। गांधी आधुनिक प्रजातंत्रीय व लोककल्याणकारी स्वरूप वाले राज्यों को भी प्रकृति से हिंसक मानते हैं। उन्होंने इन पाश्चात्य उदारवादी लोकतंत्र को मनुष्य की उर्वरता के लिये बाधक माना तथा इसे मानवीय आत्मप्रेरणा के हनन का कारण माना। संरचनात्मक हिंसा के इन आयामों के अतिरिक्त समाज में हिंसा के अन्य स्वरूप भी देखने को मिलते हैं जिसमें व्यक्ति का व्यक्ति के प्रति, व्यक्ति का राज्य के प्रति, राज्य का व्यक्ति के प्रति, शहरी समाज का ग्रामीण समाज के प्रति आदि हिंसा देखने को मिलती है। प्रकृति में व्यक्तियों के मध्य अनेक असमानताएं पाई जाती हैं जैसे बौद्धिकता, सम्पन्नता, पदशक्ति एवं उच्च स्थिति आदि। इन क्षमताओं को वह व्यक्ति असमानता के आधार पर राज्य के सदस्यों का शोषण करता है। राज्य की संरचना यद्यपि अमूर्त होती है तथापि इसको संचालित करने वाले तत्व मूर्त होते हैं तथा इन्हीं संचालित काम वाले तत्व यथा व्यक्तियों का मूल्य अभिमुखीकरण सकारात्मक दिशा में होना आवश्यक है ताकि हिंसक राज्य के स्वरूप एवं राज्य द्वारा हिंसा पर रोक लगाई जा सके।

जातीय हिंसा

सामान्यतः व्यक्ति अपनी जाति के प्रति स्वाभाविक निष्ठाएं रखता है किन्तु यह निष्ठा जब श्रेष्ठता का भाव बन जाता है तब कट्टरता जन्म लेती है। तथा व्यक्ति है। तथा व्यक्ति अन्य जातियों के प्रति सहिष्णु होने लगता है। ध्यान देने योग्य यह तथ्य है कि ये जातिवाद पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ता जाता है। आज केवल ग्रामीण अशिक्षित व्यक्ति ही नहीं अपितु शहरी तथा बौद्धिक वर्ग में भी जातीय प्रभुत्व रहती है तथा युवा पीढ़ी का समाजीकरण

निरन्तर इसी दिशा में होता जा रहा है। भारत के अनेक राज्यों में जातियों के झगड़े सर्वजात हैं। दक्षिण भारत के तमिलनाडू तथा राजस्थान, यूपी, बिहार, हरियाणा, आदि स्थानों में जाति संबंधी विभिन्न प्रकार के हिंसक परिस्थितियों का उद्भव देखा है।

जातिवाद

जाति-व्यवस्था से सम्बन्धित एक गंभीर समस्या के रूप में जातिवाद पाया जाता है। जातिवाद एक संकुचित मनोभाव है जो व्यक्तियों को अपनी जाति विशेष के स्वार्थों की दृष्टि से सोचने के लिए प्रेरित और अपनी जाति के हितों को सर्वोपरि समझने के लिए प्रोत्साहित करता है, सम्पूर्ण समाज और राष्ट्र से भी अधिक महत्व जाति को देता है। आज जातिवाद के कारण ही जातियाँ आन्तरिक दृष्टि से शक्तिशाली होती जा रही हैं। जाति के नाम पर स्कूल, कॉलेज, धर्मशाला, अस्पताल, मन्दिर एवं अनेक संगठन चलाये जाते हैं। इन संगठनों का उद्देश्य अपनी ही जाति के लोगों को विशेष सुविधायें प्रदान कर उनकी सामाजिक प्रतिस्थिति को ऊँचा उठाते हुए, जातीय-समूह को सामाजिक संस्तरण में उच्च स्थान प्रदान करवाना है। वर्तमान में जातिवाद का प्रभाव जीवन के सभी क्षेत्रों—सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक में दिखाई पड़ता है। आज व्यक्ति को सामाजिक प्रतिष्ठा एवं उच्च प्रस्थिति प्रदान करने की दृष्टि से जन्म और जाति का महत्व कम हो गया और इनका स्थान शिक्षा, सम्पत्ति, उच्च नौकरी एवं राजनैतिक शक्ति आदि ने ले लिया है। ऐसी दशा में अपनी जाति के लोगों की उच्च सामाजिक स्थिति बनाए रखने अथवा जातीय समूह के रूप में सामाजिक संस्तरण में स्थिति को ऊँचा उठाने की दृष्टि से यह आवश्यक हो जाता है कि अपनी ही जाति के लोगों को अधिकाधिक मात्रा में शिक्षा, उच्च नौकरियाँ, धन एवं राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने के अवसर प्रदान किये जाएँ। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु करीब-करीब सभी जातियाँ प्रयत्नशील हैं तथा विभिन्न जातीय संगठनों के निर्माण में लगी हुई हैं।

अपनी ही जाति के स्वार्थ को सर्वप्रमुख समझकर, उसी के प्रति अपने नैतिक कर्तव्य का पालन करना तथा अपनी जाति के स्वार्थों के आगे अन्य जातियों के सामान्य स्वार्थों की अवहेलना करना ही जातिवाद है। जातिवाद के अन्तर्गत व्यक्ति अपनी ही जाति की उन्नति और कल्याण के सम्बन्ध में सोचता एवं व्यवहार करता है, ऐसा करने में चाहे अन्य जातियों, सम्पूर्ण समाज एवं राष्ट्र का अहित ही क्यों न हो। व्यक्तियों का यह संकुचित दृष्टिकोण ही जातिवाद का पोषक है। जातिवाद वह संकुचित भावना है जो प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जाति के सदस्यों को ही प्राथमिकता देने को प्रेरित करती है। जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति अपने से उच्च जाति के सदस्यों को आदर देता और उन्हें अपनी जाति वालों की तुलना में बड़ा समझता रहा है। लेकिन जातिवाद ने व्यक्ति की निष्ठा को उसकी जाति अथवा उपजाति तक सीमित कर दिया है। जातिवाद से प्रभावित व्यक्ति न केवल भावनाओं की दृष्टि से बल्कि व्यवहार की दृष्टि से भी अपनी जाति के स्वार्थ, हित और कल्याण की चिन्ता करता है। वह अपनी भावनाओं एवं क्रियाओं को स्वजाति में ही केन्द्रित कर देता है। इसके परिणामस्वरूप वह अपनी ही जाति के लोगों को शिक्षा, नौकरी, व्यापार और उद्योग के क्षेत्र एवं राजनीति में प्राथमिकता और संरक्षण देता है। ऐसा करने से जाति-विशेष में आन्तरिक दृढ़ता बढ़ती है, एकता पनपती है, परन्तु अन्य जातियों के प्रति घृणा के भाव भी उत्पन्न होते हैं, उनके न्यायपूर्ण हितों की अवहेलना होती है तथा उनके साथ संघर्षात्मक सम्बन्ध भी उत्पन्न हो जाते हैं।

जातिवाद के परिणाम

जातिवाद के परिणामस्वरूप अनेक गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। जातिवाद प्रजातंत्र के स्वस्थ विकास में बाधक है। लोकसभा, विधानसभाओं, नगर परिषदों और पंचायतों के चुनाव में कई लोग जातिवाद का लाभ उठाते और जाति के नाम पर वोट मांगते हैं। जब जाति विशेष के आधार पर ऐसे व्यक्ति चुनाव में सफलता प्राप्त कर लेते हैं तो वे अपनी जाति के हितों को प्रधानता देते हैं और समाज अथवा राष्ट्र के हितों की अवहेलना करते हैं। जातिवाद न केवल प्रजातंत्र के लिए खतरा है बल्कि औद्योगिक कुशलता के लिए भी बाधक है। अपनी जाति के आधार पर अयोग्य व्यक्ति उच्च नौकरियाँ प्राप्त कर लेते हैं। वे विभिन्न उद्योगों, व्यवसायों एवं सरकारी नौकरियों में प्रविष्ट हो जाते हैं। ऐसी दशा में योग्य एवं कुशल व्यक्तियों को अवसर नहीं मिल पाता। यह स्थिति, औद्योगिक कुशलता के लिए खतरा उपस्थित कर रही है।

जातिवाद लोगों के नैतिक पतन के लिए भी उत्तरदायी है। जातिवाद की संकुचित भावना के वशीभूत हो उच्च पदों पर आसीन कई लोग अपनी जाति के व्यक्तियों के साथ पक्षपात करते एवं उन्हें विशेष सुविधायें प्रदान करते हैं। वे सम्पूर्ण समाज के हितों की चिन्ता न कर, अपनी जाति के लोगों को ही सब प्रकार की सुख-सुविधाएं उपलब्ध कराने का प्रयत्न करते हैं। जातिवाद की यह संकुचित धारणा व्यक्ति का नैतिक पतन कराती है और भ्रष्टाचार को प्रोत्साहित करती है।

जातिवाद राष्ट्रीय एकता के मार्ग में भी बाधक है। वर्तमान समय में व्यक्ति की सामुदायिक भावना अत्यन्त संकुचित हो गई है। वह जाति अथवा उपजाति के सीमित दायरे में सोचता है। जहां समाज ऐसे सैकड़ों-हजारों छोटे खण्डों में विभक्त हो, जिसके सदस्य सम्पूर्ण समाज एवं राष्ट्र के दृष्टिकोण से न सोचकर जातिगत कल्याण की दृष्टि से सोचते हैं वहां स्वस्थ राष्ट्रीयता का विकास एवं एकता सम्भव नहीं है। लोग इस तथ्य को भूल जाते हैं कि जाति राष्ट्र से बढ़कर नहीं है। जातिवाद के कारण संवैधानिक प्रावधानों को ठीक प्रकार से पालन नहीं हो पाता। राष्ट्रीय दृष्टिकोण से यह सारी परिस्थिति श्रेयस्कर नहीं है। जातिवाद के निराकरण के लिए संगठित कार्यक्रम आवश्यक है।

जाति व्यवस्था से हानियां

यह सत्य है कि जाति-व्यवस्था ने विभिन्न दृष्टिकोणों से अनेकानेक महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किए हैं, परन्तु इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि आज की परिवर्तित परिस्थितियों में यह व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के विकास के मार्ग में बाधक बनी हुई है यद्यपि बहुत से लोग इसके उन्मूलन की बात करते हैं। जाति-व्यवस्था के परम्परागत कार्य आज हिन्दू समाज को विघटित कर रहे हैं। पणिक्कर का कथन है – “यदि जातियां उपजातियों में विभाजित होने की बजाय चार आदर्शात्मक विभागों (वर्णों) में एकीकृत होती तो समाज का यह विनाशकारी विभाजन कभी नहीं होता।” परन्तु वास्तविकता यह है कि हिन्दू समाज सैकड़ों जातियों, उपजातियों में विभक्त हो गया है। जाति-व्यवस्था में वर्तमान में निम्नलिखित दोष पाए जाते हैं—

1. निम्न जातियों का शोषण एवं धर्म-परिवर्तन — जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत जहां एक ओर उच्च जातियों को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हैं, वहीं दूसरी ओर निम्न जातियां अनेक निर्योग्यताओं से पीड़ित हैं। उच्च जातियों ने मनमाने ढंग से अपने अधिकारों का प्रयोग किया है, निम्न जातियों के करोड़ों लोगों के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार किया है। इन सबका परिणाम यह हुआ कि निम्न जातियों के बहुत से लोगों ने बाध्य होकर अपना धर्म परिवर्तन कर लिया, मुसलमान या ईसाई बन गए। यह स्थिति समाज के स्वस्थ विकास की दृष्टि से ठीक नहीं हैं।

2. अस्पृश्यता के लिए उत्तरदायी— एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को कितना निम्न अथवा हीन समझ करता है, इसका एक ज्वलन्त उदाहरण जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत पायी जाने वाली अस्पृश्यता की धारणा है। जातीय संस्तरण में निम्नतम स्थान प्राप्त अस्पृश्यों को छूना और यहां तक कि उन्हें देखना तक उच्च जातियों के व्यक्तियों के लिए पाप समझा गया। अछूतों पर अनेक नियोग्यताएं लाद दी गईं, उन्हें सामान्य मानवीय अधिकारों से वंचित रखा गया। अस्पृश्यता वास्तव में हिन्दू समाज के लिए एक अभिशाप है, मनुष्य के प्रति मनुष्य के हृदय में संचित घृणा की चरम अभिव्यक्ति है।

3. सामाजिक समस्याओं के लिए उत्तरदायी— जाति-व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण विशेषता के रूप में यहां जाति-अन्तर्विवाह का नियम प्रचलित है। इस नियम पालन से अनेक सामाजिक समस्याएं उठ खड़ी हुई हैं। इसने कुलीन-विवाह, बाल-विवाह, दहेज-प्रथा, विधवा-विवाह पर प्रतिबन्ध, बेमेल विवाह आदि अनेक गम्भीर समस्याओं को जन्म दिया है। यदि समाज में जाति अन्तर्विवाह कर कठोर नियम नहीं होता और अन्तर्जातीय विवाहों का सामान्यतः प्रचलन होता तो ये सामाजिक समस्याएं नहीं पनप पाती।

4. समाज का हजारों स्वार्थ-समूहों में विभाजन— सामाजिक व्यवस्था को स्थिरता प्रदान करने के प्रयत्नों में जातिगत नियमों की रक्षा के नाम पर अनेक कुरीतियों और रूढ़ियों का पालन किया जाने लगा। समाज में पाखण्ड, कर्मकाण्ड और अन्धविश्वासों को धर्म का आवश्यक अंग मान कर महत्ता प्रदान की गई। फलस्वरूप व्यक्ति सम्पूर्ण समाज की दृष्टि से विचार ही नहीं कर पाया और भारतीय सामाजिक जीवन सैकड़ों-हजारों छोटे-छोटे स्वार्थ-समूहों में बंट कर छिन्न-भिन्न हो गया। व्यक्ति का दृष्टिकोण अत्यधिक संकुचित और कार्य-क्षेत्र बहुत सीमित हो गया।

5. अकर्मण्यता एवं भाग्यवाद की पोषक— जाति-व्यवस्था ने व्यक्तियों को अकर्मण्य एवं भाग्यवादी बना दिया है। प्रत्येक व्यक्ति की जाति, उसकी सामाजिक स्थिति एवं उसका व्यवसाय जन्म के आधार पर निश्चित होते हैं। इसके लिए सब कुछ पूर्व निर्धारित है, उसे तो केवल परम्परागत मार्ग पर चलना होता है। ऐसी दशा में उसे विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसका परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति आलसी एवं अकर्मण्य बन जाता है। वह समझता है कि इस जीवन में जो कुछ है, पूर्व जन्म के संस्कारों एवं कर्मों के कारण है। इसका स्वाभाविक प्रभाव यह पड़ता है कि वह भाग्यवाद में विश्वास करने लगता है। यह परिस्थिति समाज की प्रगति में बाधक है।

6. आर्थिक विकास में बाधक— औद्योगीकरण के विकास के पूर्व तक जाति-व्यवस्था स्थिर श्रम-विभाजन की नीति अपना कर समाज को विशेषीकरण का लाभ प्रदान करती रही, लेकिन वर्तमान में यह आर्थिक विकास के मार्ग में बाधा उपस्थित कर रही है। जाति-व्यवस्था में जन्म के आधार पर व्यवसाय निर्धारित होने से व्यक्ति की आर्थिक कुशलता में कमी आती है। वह अपनी रुचि एवं योग्यता के अनुसार स्वतंत्रतापूर्वक किसी भी व्यवसाय को नहीं अपना सकता। ऐसी दशा में समाज व्यक्ति की कार्य क्षमता का पूर्ण लाभ नहीं ले पाता तथा उत्पादन पूर्ण मात्रा में नहीं हो पाता।

7. औद्योगिक संस्थानों में संघर्षपूर्ण समूहों का निर्माण— जाति-व्यवस्था के आधार पर पनपने वाले जातिवाद ने विभिन्न औद्योगिक संस्थानों में संघर्षपूर्ण समूहों के निर्माण में योग दिया है। जाति के आधार पर पनपने वाले ये छोटे-छोटे परस्पर विरोधी समूह अथवा गुट उत्पादन की कमी के लिए उत्तरदायी है। व्यक्ति अपने गुट अथवा जातीय समूह के स्वार्थ की दृष्टि से सोचता है, फलस्वरूप अयोग्य व्यक्तियों को आगे बढ़ने का अवसर मिलता है। आर्थिक विकास की दृष्टि से यह स्वस्थ परिस्थिति नहीं है।

8. राष्ट्रीयता के विकास में बाधक— आज लोगों में राष्ट्रीय दृष्टिकोण का अभाव पाया जाता है। जाति-व्यवस्था के कारण समाज अनेक खण्डों एवं उपखण्डों में बंट गया है। विविध जातियों तथा उपजातियों ने इसे छोटे-छोटे भागों में बांट दिया है इन सब समूहों में ऊँच-नीच का एक संस्तरण और उतार-चढ़ाव की एक प्रणाली पाई जाती है। ये हजारों प्रतियोगी समूह व्यक्तियों में एकता, समानता एवं 'हम' की भावना को पनपने ही नहीं देते। व्यक्ति अपनी जाति अथवा उपजाति के संकुचित दृष्टिकोण से सोचता है। ऐसी दशा में समग्र राष्ट्र का चित व्यक्ति के सम्मुख उपस्थित नहीं होता, राष्ट्रीयता नहीं पनप पाती, फलतः राष्ट्रीय एकता का अभाव पाया जाता है।

9. प्रजातंत्र के लिए गम्भीर चुनौती— जाति-व्यवस्था और प्रजातंत्र परस्पर विरोधी मूल्यों पर आधारित है। जाति-व्यवस्था में जन्म के आधार पर ही किसी को ऊँचा तथा किसी को नीचा समझा जाता है। इसमें अनेकानेक सामाजिक भेदभाव और रूढ़िवादिता पाई जाती है। एक जाति द्वारा दूसरी का शोषण पाया जाता है। इसके विपरीत प्रजातंत्र समानता, स्वतंत्रता एवं न्याय पर आधारित व्यवस्था है। ऐसी दशा में परस्पर दो विरोधी व्यवस्थाओं का एक साथ चलना कठिन प्रतीत होता है। आज स्वस्थ प्रजातंत्र के मार्ग में जाति-व्यवस्था बाधा प्रस्तुत कर रही है। व्यक्ति जाति के संकुचित दृष्टिकोण से सोचता है। राष्ट्रीय दृष्टिकोण का उसमें अभाव पाया जाता है। जाति के नाम पर वोट मांगे और दिये जाते हैं। आज ग्रामीण क्षेत्रों में पंचायती राज संस्थाओं के विकास से रानीति में जाति का प्रभाव बढ़ा है, प्रो. श्रीनिवास के अनुसार—प्रभुत्वशाली जाति के एक इशारे मात्र पर उसके सभी सदस्य व्यक्ति विशेष को वोट देते हैं। आज जाति का नेता अपनी जाति के वोटों की संख्या के आधार पर चुनाव लड़ने वाले विभिन्न प्रत्याशियों के साथ सौदेबाजी करता है। वर्तमान में प्रशासन, सेवाओं एवं चुनाव में जातिगत भावनाओं का सर्वत्र बोलबाला है। यह परिस्थिति स्वस्थ प्रजातंत्र के लिए गम्भीर चुनौती है, बाधा है।

जाति-व्यवस्था से सम्बन्धित अनेक दोषों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। इसके दोषों पर प्रकाश डालते हुए मैन्वर लिखते हैं कि जब हम नीचे से ऊपर की ओर देखते हैं, तो इस व्यवस्था की दो प्रमुख विशेषताएं सामने आती हैं। प्रथम, व्यवस्था के निम्नतम स्तर के लोगों के दृष्टिकोण से जाति आर्थिक शोषण की प्रभावशाली व्यवस्था रही है। द्वितीय, इस व्यवस्था का अन्य कार्य हित या उद्देश्य की एकता के आधार पर बनने वाले वर्गों के निर्माण को रोकना रहा है। आपके अनुसार, जाति शोषण की एक व्यवस्था है, न कि अन्तरनिर्भरता और पारस्परिकता की व्यवस्था। इस व्यवस्था के दोषों के आधार पर बहुत से विद्वान यह मत व्यक्त करते हैं कि जाति केवल एक शृंखलित सामाजिक संस्था है जो अपनी सेवाओं के पश्चात् वर्तमान में भारत के वातावरण को दूषित कर रही है। अतः वे इसे जड़ से समाप्त कर देने की बात करते हैं, लेकिन जाति-व्यवस्था से जहां व्यक्ति, समाज और देश को अनेक हानियां हुई हैं, वहां इससे प्राप्त लाभों को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में हट्टन के विचारों को व्यक्त करना उचित है। उन्होंने जाति-व्यवस्था द्वारा सम्पन्न किए जाने वाले कार्यों को दृष्टि में रखते हुए कहा है कि जाति एक अच्छी संस्था है जिसने अपनी उपयोगिता सिद्ध कर दी है, उसको जड़ से समाप्त न कर, उसमें सुधार किया जाना चाहिए। डॉ. मजुमदार एवं मदान का कथन है, "इस व्यवस्था की हानिकारक सहवर्ती प्रथाओं—अस्पृश्यता, एक जाति का दूसरी द्वारा शोषण और ऐसे ही अन्य दोषों को समाप्त कर देना चाहिए, न कि सम्पूर्ण व्यवस्था को।

राष्ट्र के प्रति हिंसा

व्यक्ति सामाजिक प्राणी है तथा समाज में रहते हुए राजनीतिक क्रियाकलाप उसे प्रभावित करते हैं। किन्तु

राज्य शून्य में निवास नहीं करता। उसे अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का निर्वाह करना होता है। प्रत्येक राष्ट्र द्वारा अपने आर्थिक, सामरिक व राजनीतिक हितों की पूर्ति हेतु प्रयास किया जाता है। प्रायः देखा जाता है कि राष्ट्रों का पड़ोसी राष्ट्रों के साथ सीमा संबंधी विवाद, नदी जल विवाद तथा वर्तमान आर्थिक परिदृश्य बाजार संबंधी विवाद पाये जाते हैं। प्रत्येक राष्ट्र जहाँ अपने नागरिकों में राष्ट्रवादी भावनाओं का संचार करता है वही अन्य राष्ट्रों को प्रतिरोधि मानते हुए उनके साथ संघर्षों को न्यायोचित ठहराया जाता है। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि जहाँ पारिवारिक व सामाजिक संबंधों में हिंसा का त्याग माना जाता है वही अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में किसी अन्य राष्ट्रों के विरुद्ध हिंसा को श्रेय एवं प्रेम मानते हैं। उग्र राष्ट्रवादी द्वारा इस प्रकार राष्ट्र के खिलाफ विरुद्ध हिंसा को प्रोत्साहन दिया जाता है। यह भी हमारे राजनीतिक व्यवस्था के हिंसात्मक होने का उदाहरण है।

लिंग आधारित हिंसा

प्रत्येक समाज के स्त्री पुरुष दोनों घटक पाये जाते हैं। जहाँ समाज इस चीजों की पारस्परिकता पर ही टिका हुआ है। वही लिंग आधारित भेदभाव व हिंसा हमारी व्यवस्था में व्याप्त है। प्राचीन काल में मातृसत्तात्मक समाज प्रचलित था किन्तु कालांतर में समाज का स्वरूप पुरुष प्रधान हो गया है। नारी एवं पुरुष की जैविकीय संरचना में अंतर पाया जाता है। इसीलिए स्त्री पुरुष के कार्य क्षेत्र भी अलग-अलग निर्धारित किये गये हैं। किन्तु स्त्री के कार्य को मान्यता न मिलने एवं भावात्मक शोषण के साथ-साथ विभिन्न प्रकार की हिंसक घटनाएं समाज में व्याप्त हो गई हैं। इन मुद्दों को लेकर कई नारी आन्दोलनों जन्म लिये हैं जो समाज में लिंग आधारित भेदभाव को समाप्त करने की चाह में पुरुष वर्ग का सीधा निशाना बनाते हैं। किंतु वही अब समाज में कुछ पुरुष संगठन भी बनने लगे हैं जो कि स्त्रियों द्वारा प्रताड़ित किये जाने की शिकायतों को लेकर बने हैं। लैंगिक भेदभाव के कारण से उत्पन्न हुआ यह प्रतिद्वंद्विता का भाव भय और अविश्वास को जन्म देता है, इस कारण परिवार एवं समाज में तनाव एवं हिंसा जन्म लेती है।

शहरी समुदाय द्वारा हिंसा

संरचनात्मक हिंसा के कारकों में शहरी जीवन को आज महत्वपूर्ण कारक माना जा सकता है। आज की तीव्र गति युक्त जीवन शैली में भोगवादी संस्कृति व बाजार आधारित अर्थव्यवस्था ने सभी को एक दूसरे का प्रति बना दिया है। निरंतर बढ़ता हुआ अविश्वास व भय हिंसा को जन्म देता है वही हिंसा पुनः भय व अविश्वास को जन्म देती है। इस प्रकार ऐसा चक्र बन जाता है जो संरचनात्मक हिंसा को निरंतर अवकाश देता रहता है।

समाज में विभिन्न प्रकार के समूह व समुदाय पाए जाते हैं। समाजशास्त्र में 'समुदाय' के सम्बन्ध का एक विशिष्ट अर्थ समझा जाता है। डेविस ने समुदाय की व्याख्या करते हुए दो आधार आवश्यक बताए हैं। पहला, भौतिक आधार व दूसरा सामाजिक आधार। भौतिक आधार के अन्तर्गत क्षेत्रीय समीपता व सामाजिक आधार के अन्तर्गत सामाजिक जीवन की सम्पूर्णता पर विचार किया जाता है।

क्षेत्रीय समीपता के अन्तर्गत हम देखते हैं कि एक विशिष्ट भू-भाग में विभिन्न प्रकार के व्यक्ति रहते हैं। ये व्यक्ति एक दूसरे से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष अन्तःक्रिया करते हैं। एक ही क्षेत्र में व्यक्तियों के कई आवासीय झुण्ड बन जाते हैं जिनके लिए एक-दूसरे से परस्पर मिलना अधिक आसान होता है। ऐसे व्यक्ति उन्हीं आवासीय झुण्डों में अपनी अधिकांश खेलने-मिलने, बातचीत करने इत्यादि क्रियाओं को सम्पन्न करते हैं। जहाँ यह भू-भाग अधिक सीमित होता है एवं संचार के साधन धीमे होते हैं और लोगों की संख्या कम होती है वहाँ प्रथमिक सम्पर्क

अधिक सम्भव हो पाते हैं। इसके विपरीत, समुदाय में व्यक्तियों की संख्या अधिक होने पर एवं संचार के साधन अधिक तीव्र होने पर ऐसे समुदायों की संरचना द्वितीयक हो जाती है।

इसी प्रकार की भौगोलिक समीपता मनुष्य की व्यवस्था व सामाजिक अन्तःक्रिया के प्रतिमानों को व्यापक रूप से प्रभावित करती है। हम लोग अपने शहर अथवा गांव के घरों, सड़कों, गलियों, रहने के मकानों इत्यादि को देखें तो हमें स्पष्ट होगा कि इन सबका विभाजन एक महत्वपूर्ण सामाजिक प्रतिमान प्रस्तुत करता है। उदाहरण के तौर पर, एक ही जाति अथवा एक ही वर्ग के लोग एक ही भू-भाग में रहते हैं। बाजार व रहने के स्थान अलग-अलग है। अतः क्षेत्रीय विभाजन की प्रक्रिया सामाजिक जीवन को प्रभावित करती है।

सामाजिक सम्पूर्णता समुदाय की दूसरी विशेषता है। डेविस के अनुसार समुदाय, वह सबसे छोटा क्षेत्रीय समूह है जो कि सामाजिक जीवन के सभी पक्षों को सम्मिलित करता है। दूसरे शब्दों में, समुदाय वह स्थानीय समूह है जो कि एक पूर्ण समाज माना जा सकता है। भीड़, व्यापार, मन्दिर, गोत्र इत्यादि के लिए दूसरे समूह की आवश्यकता होती है जिससे सम्पर्क रखकर, ऐसे समूह अथवा संस्थाएं अपने कार्यों को सम्पन्न करते हैं लेकिन समुदाय के अन्तर्गत मनुष्य अपनी अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेता है। समुदाय किसी विशिष्ट समूह अथवा संस्था को नहीं कह सकते अपितु वह विभिन्न संस्थाओं व समूहों के सम्मेलन का संयोग है। मैकीवर ने समुदाय को परिभाषित करते हुए 'समुदाय चेतना' के तत्त्व को अधिक महत्व दिया है अर्थात् समुदाय के सभी सदस्य परस्पर 'हम की भावना' से प्रेरित होते हैं तथा उनमें समुदाय के सदस्य होने की भावना विद्यमान रहती है।

ग्रामीण एवं शहरी समुदाय : अन्तर के आधार

ग्राम एवं शहर की परिभाषा विभिन्न आधारों पर दी गई है। वैसे तो हम देखते हैं कि जब समूह किसी एक विशेष भू-भाग पर लगातार वर्षों से रहते आते हैं और उस भू-भाग को कोई एक नाम दे देते हैं तथा उस भू-भाग में नित्यप्रति जीवन को चलाने के सभी साधन उपलब्ध होते हैं, तो उसे ग्राम या शहर कहा जाता है। अतः गांव व शहर का (अ) कोई नाम होगा (ब) जनसंख्या होगी जोकि निरन्तर उस भू-भाग में रहेगी, यद्यपि व्यक्तियों की सदस्यता की निरन्तरता बनी रहती है क्योंकि जन्म, मृत्यु व स्थान परिवर्तन के क्रम में नवीन व्यक्ति स्थान लेते रहते हैं। (स) ऐसे भू-भाग में व्यक्तियों की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के संगठनात्मक साधन, जैसे पाठशाला, पंचायत, पटवारी, मन्दिर आदि गांव में व बैंक, बाजार, विश्वविद्यालय, सचिवालय आदि शहरों में होते हैं। (द) व्यक्तियों, संस्थाओं और संगठनों में व्यापक स्थायित्व व स्थिरता रहती है।

गांव व शहर के भेद को कुछ लोगों ने भौतिक आधार पर स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उदाहरण के तौर पर, अमेरिका में 2500 से अधिक जनसंख्या वाले भू-भाग शहर माने जाते हैं जबकि अर्जेंटीना में 1000 व इटली और स्पेन में 10,000 से ऊपर की आबादी वाले भू-भाग शहर कहलाते हैं। यह भेद इस बात को स्पष्ट करता है कि एक विशेष जनसंख्या को आधार मानने में कोई तार्किक संगति नहीं है। दूसरा आधार जो कि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण है, किसी भू-भाग में रहने वाले व्यक्तियों के मध्य परस्पर सम्बन्धों की प्रक्रिया व उस क्षेत्र की विभिन्न आर्थिक, सामाजिक, मानसिक, मनोवैज्ञानिक विशेषताएं हैं। यह बहुत सम्भव है कि दो हजार की आबादी वाले भू-भाग में ऐसी विशेषताएं पाई जाएं जो कि शहरों में दिखाई देती हैं, जबकि 7-8 हजार की जनसंख्या वाले भू-भाग में ऐसी विशेषताएं अधिक हों जो कि गांवों में दिखाई देती हैं। अतः शहर और गांव विशेषताओं के आधार पर वर्गीकृत किए जा सकते हैं।

1. सामाजिक विषमरूपता : विभिन्न संस्कृति, क्षेत्र व प्रजातियों के व्यक्ति नगरों में रहते हैं। नगरों में विभिन्न प्रकार के व्यवसाय उपलब्ध होते हैं जिन्हें भिन्न-भिन्न लोग अपनाते हैं। बड़े शहरों में भाषा, वेश-भूषा, विचार, संस्कृति, जीवन-स्तर, जीवन-शैली की दृष्टि से विभिन्न प्रकार के लोग दिखाई देते हैं।

2. द्वितीयक सम्बन्ध : शहरों का आकार इतना बड़ा होता है कि वहां के निवासियों में प्राथमिक सम्बन्ध नहीं हो पाते। व्यक्ति प्रायः अजनबियों के सम्पर्क में आता रहता है। इस कारण शहरों में अपरिचय बोध व्यापक रूप से पाया जाता है। व्यक्ति व व्यक्ति के सम्पर्क पूर्ण न होकर एक निश्चित क्षेत्र तक सीमित होते हैं। इन्हीं कारणों से शहरों में मानसिक धरातल पर अकेलेपन का बोध पाया जाता है।

3. नियन्त्रण के द्वितीयक साधन : शहर का जीवन अधिक यन्त्रवत् होता है, वहां व्यक्ति के सम्बन्ध उसके प्राथमिक समूह से इतने कम प्रभावित होते हैं कि उसका अधिकांश जीवन द्वितीय समूहों में विलीन रहता है। नगरीय जीवन में परम्पराओं व प्रथाओं के स्थान पर नियन्त्रण में औपचारिक साधन जैसे पुलिस, कोर्ट आदि अधिक सक्रिय हैं। गांव में हर व्यक्ति एक दूसरे को इतनी समीपता से जानता है कि औरों की स्थिति का बोध भी उसके व्यवहार को नियन्त्रित करता है। गांवों में परिवर्तन इतना धीमा होता है कि व्यक्ति परम्पराओं और प्रथाओं को मान्य समझकर अपने व्यवहार को उसी के अनुरूप ढालता है।

4. सामाजिक गतिशीलता : गांवों की तुलना में शहरों में सामाजिक गतिशीलता व्यापक पैमाने पर पायी जाती है। आर्थिक उपलब्धियों की सम्भावनाएं शहरों में इस कारण अधिक हैं क्योंकि उद्योग, व्यापार, उत्पादन एवं उपभोग की प्रक्रियाएं शहरों में अधिक परिमार्जित हैं। प्रतिस्पर्द्धा की प्रक्रिया शहरों में अधिक व्याप्त है। विभिन्न स्थानों से शहरों में आना अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारना होता है। अतः व्यक्ति अपनी सामाजिक प्रस्थिति को शहरों के सन्दर्भ में बढ़ा सकता है। इसका यह अर्थ नहीं कि शहरों में सामाजिक असमानताएं नहीं हैं लेकिन व्यक्तियों को अपनी प्रस्थिति को बढ़ाने के समुचित अवसर प्राप्त होते हैं। गांवों में सामाजिक गतिशीलता के समुचित अवसर व साधन उपलब्ध नहीं होते हैं। व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण प्रायः परिवार की प्रतिष्ठा पर निर्भर करता है।

5. ऐच्छिक समितियां : शहरों में ऐच्छिक समितियां अधिक संख्या में पाई जाती हैं और एक ही व्यक्ति, कई ऐच्छिक समितियों का सदस्य होता है। विभिन्न प्रकार की रुचियों के कारण व्यक्ति अलग-अलग समितियों का सदस्य होना पसन्द करता है। व्यावसायिक समितियों के अतिरिक्त मनोरंजनात्मक समितियों, कल्याणकारी समितियों, धार्मिक एवं अन्य प्रकार की समितियों की सदस्यता व्यक्ति ग्रहण करता है। वारनर के अनुसार समितियों की सदस्यता व्यक्ति की प्रस्थिति की सूचक भी है। इस प्रकार की सदस्यता को प्राथमिक समूह के अभाव की पूर्ति के लिए किया जाने वाला प्रयास माना जा सकता है। समय के प्रति व्यक्ति का एक विशेष दृष्टिकोण बन जाता है और अपने जीविकोपार्जन के उपरान्त व्यक्ति अपने को व्यस्त रखने के लिए इन समितियों में अपना समय व्यतीत करता है।

6. क्षेत्र विभाजन : शहरों में विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न स्थान होते हैं। अगर हम किसी शहर की और दृष्टिपात करें तो हमें ज्ञात होगा कि उनमें व्यापार के लिए, उद्योग के लिए, आवास के लिए, विद्यालयों के लिए अलग-अलग स्थान निर्धारित कर दिए जाते हैं। शहरों का निर्माण मानवीय कल्पना के आधार पर होता है अतः समाजशास्त्र व सम्बन्धित विषयों में नगर-नियोजन की विचारधारा को वर्तमान समय में अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। नगर-नियोजन की विचारधारा के अन्तर्गत इस बात पर बल दिया जाता है कि शहर

का नियोजन इस प्रकार से किया जाए जिससे कि व्यक्तियों को जीवन-यापन की सारी सुविधाएं सरल रूप से प्राप्त हो सकें एवं शहरों से उत्पन्न दुष्परिणामों को यथावत् कम किया जा सके। आधुनिक काल में वातावरण-दूषण से लेकर अपराध एवं वेश्यावृत्ति जैसी सामाजिक समस्याएं भी शहरों के साथ जुड़ी हुई हैं। टोकियो एवं न्यूयार्क जैसे शहरों के विशालकाय दानवीय विकास पर कई विचारकों ने गहरी चिन्ता व्यक्त की है। ममफर्ड ने अपनी पुस्तक 'कल्चर ऑफ सिटीज' में यह कहा है कि जैसे-जैसे शहरों का विकास होता है, सभ्यता का ह्रास होता है।

इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि वर्तमान काल में ग्राम व नगरीय संस्कृतियों के निरन्तर सम्मिश्रण से एक नये समुदाय की रचना की प्रक्रिया प्रवाहमान है जिसे संकरित समुदाय कहा जाता है। ये समुदाय न तो अपनी प्रकृति से नगरीय ही होते हैं और न ही ग्रामीण।

नगरीयता व नगरीकरण की अवधारणा

नगरीय शब्द से आशय नगर सम्बन्धी तथ्यों से है। यह एक विशेष प्रकार के समाज का द्योतक है। नगर समाज से आशय उस जनसंख्या से है जिसका आधारभूत कर्म कृषि व पशुपालन सम्बन्धी नहीं होता, बल्कि उद्योग, व्यापार, व्यवसाय तथा सेवा आदि से सम्बन्धित होता है। यह समाज पूरी तरह से आधुनिक है तथा ग्रामीण समाज से पृथक् या भिन्न है। इस समाज के अन्तर्गत समस्त नगरीय क्रियाकलाप आ जाते हैं, जो विज्ञान प्रदत्त तकनीकों पर आधारित तथा पल्लवित है। उद्योग, व्यापार, परिवहन, प्रचार वितरण तथा गीत, संगीत, फिल्में तथा साहित्यादि कर्म-क्षेत्र इस समाज में प्रमुख माने गये हैं। उपभोक्ता वस्तुओं व साधनों का निर्माण, प्रचार व वितरण करना, राजकीय व कम्पनीगत नौकरियां करना, कला, साहित्य व मनोरंजन कर्मों को प्रायोजित व प्रस्तुत करना नगरीय समाज की विशेषताएं हैं। आधुनिक शोध, प्रयोग व निर्माण सम्बन्धी विशिष्ट कर्म नगरीय कहलाते हैं। अतः नगर समाज से सम्बन्धित कार्यों व शिक्षाओं को स्वीकारना तथा प्रयोगना ही नगरीय व्यक्तियों का चरित्र हाता है। ये पुरातन पंथी ग्रामीण क्रियाकलापों को नहीं स्वीकारते।

नगरीयता — नगरों में व्याप्त जीवन-यापन के ढंगों को नगरीयता कहते हैं। यह समाजशास्त्र की द्वितीय प्राथमिक अवधारणा कहलाती है। जीवनयापन की प्रचलित विधियों को हम ग्रामीण व नागरीय दो भागों में बांट कर समझ सकते हैं। नगरीकरण ऐसी व्यवस्था तथा योजनाओं का अनुभव कराती है कि जो आधुनिक प्रभावों का प्रसार कराती है। नगरीय जीवन एक विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था होती है। नगरीय समाज व्यवस्था में एक व्यक्ति का अन्य व्यक्तियों से सम्बन्ध नहीं होता। वह अपने ढंग से सोचने, बोलने तथा करने व भोगने के लिए पूर्णतः स्वतंत्र होता है। वह किसी के आधीन या दूसरों से बाध्य नहीं होता। यहां अनेक प्रकार की आर्थिक क्रियाएं सम्पादित की जाती हैं। इन क्रियाओं में किसी प्रकार के प्राथमिक संबंध नहीं होते। इन क्रियाओं में विशेषीकरण देखा जाता है। नगरीय जीवन प्रकृतिक न होकर मानवकृत या कृत्रिम होता है। विद्युत का प्रयोग यहां की मूलभूत विशेषता मानी गयी है। यहां भूमि का मूल्य बहुत अधिक होता है। यहां की जनसंख्या अत्यधिक होती है। नगरीय समाज का आकार बड़ा तथा विविधतापूर्ण होता है। यहां जीवनोपयोगी वस्तुओं, साधनों व भोगों की अधिकता होती है। यहां एकल परिवारों की अधिकता होती है तथा यातायात, परिवहन, संचार, बिजली, चिकित्सा, शिक्षा, प्रशिक्षण, कला, साहित्य, फिल्म, प्रचार तथा व्यापार व उद्योग आदि की प्रमुखता, विविधता व अधिकता होती है। नित नयी तकनीक तथा फैशन तथा निर्माण आदि यहां की अन्य प्रमुख विशेषताएं होती हैं।

नगरीकरण या शहरीकरण

नगरों में रहन-सहन के ढंग को ही नगरीकरण कहा जाता है। यह समाजशास्त्र की तृतीय नगरीकरण की अवधारणा है। उद्योग, व्यापार की प्रमुखता को लेकर यह व्यवस्था अपना विकास करती है। नगरीकरण से स्पष्ट आशय कृषक समुदाय के लोगों का नौकरी, व्यापार, उद्यम तथा स्व:व्यवसाय आदि कर्मों को अपनाना व इनको स्वीकारना, व्यवहारना है अर्थात् पूर्व प्रचलित ग्रामीण कर्मों को छोड़कर नागरिक कर्मों को स्वीकारना तथा प्रयोग करना ही नगरीकरण है। ग्रामीण जनता की आधुनिक कर्म शिक्षाओं को प्राप्त करके नागरिक समाज की आधार भूमि बन जाती हैं वह परम्परागत कर्मों व शिक्षाओं से विमुख व उदासीन हो जाती है। यह सभ्यता के उन स्तरों को प्रस्तुत करता है, जहां कुछ समाज कभी नहीं पहुंच सकते अर्थात् ये आर्थिक, सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक प्रगति के सूचक होते हैं। यहां श्रमगत विविधता तथा विशेषीकरण का विकास होता है। यह एक गतिशील प्रक्रिया है। शहरीकरण व औद्योगिकरण की गति हर देश में एक-सी होती है। जैसे-जैसे शहरों में उद्योग, व्यापार, धंधे विकसित होते जाते हैं, वैसे-वैसे ही ग्रामीण जनता का शहरों की ओर आकर्षण व पलायन बढ़ता जाता है। आज शहरों में आवास की समस्या बेतहाशा इसीलिए बढ़ रही है। अर्थात् शहरीकरण की गति तीव्र हो गयी है। ब्रिटेन में 18वीं सदी में औद्योगिक व व्यापारिक क्रांति हुई थी। फलतः नगरीकरण का मूल कारण औद्योगिकरण ही है। संसार में नगरों की उत्पत्ति एक ऐतिहासिक घटना कही जा सकती है, मिस्र का मेम्फिस नगर सबसे अधिक प्राचीन कहा गया है, इसके बाद बेबीलोन व मिनेबाद के नगर हैं। भारत में हस्तिनापुर, कन्नौज, मथुरा, अयोध्या तथा द्वारिका और त्रिपुर आदि प्राचीन नगर थे। आधुनिक नगरों में भारत के प्रमुख नगर कलकत्ता, बम्बई, मद्रास तथा बेंगलोर और दिल्ली व कानपुर आदि हैं। आज नगरों का विस्तार ग्रामीण समजों व सभ्यताओं को खत्म करता व बदलता जा रहा है। भोगवादी संस्कृति का प्रचार होते रहने से आज के ग्रामीणों की रुचियां, इच्छाएं, अवश्यकताएं बदल गई हैं। आज ग्रामीण समाज व सभ्यता के संरक्षण की प्रबल आवश्यकता जन्म ले चुकी है। इस तरह बढ़ता नगरीकरण देश के लिए हानिकारक तथ्य है। ग्रामीण समाज का शोषण दयनीय स्थिति तक आ चुका है। अतः नगरीकरण का विरोध भी होने लगा है।

नगरीकरण के अनेकों कारण हैं और मूल कारण है पाश्चात्य सभ्यता के प्रति अंधानुकरण की प्रवृत्ति। आज पूंजीवादी तथा भोगवादी व्यवस्था के चलते अतिशय भोगवाद व दरिद्रता तथा बेकारी ने समाज के युवा वर्ग को कुंठित व हताश बना दिया है। आज हर युवा नगरीय समाज की सदस्यता लेना या इसे जीना, समझना व भोगना अपना प्रथम लक्ष्य मानता है। इसके प्रमुख कारण इस प्रकार हैं —

1. उच्च शिक्षा प्राप्ति का आकर्षण युवाओं को अपनी ओर सहज आकर्षित कर रहा है। आज उच्च शिक्षितों की सफलता, समृद्धि व प्रतिष्ठा को देखकर हर युवा चकाचौंध हो गया है। फलतः वह भी उच्च पदों व अवस्थाओं को पाने के लिए उच्च शिक्षा को हर प्रकार से प्राप्त करना चाहता है। उच्च शिक्षा ही उच्च पदों की पर्यायवाची बन गयी है। अफसोस यह है कि अब उच्च पद सीमित होकर रह गये हैं तथा हमारे उच्च शिक्षित विदेशों की ओर पलायन कर रहे हैं। अथवा शोषण व के हाथों कुचले जा रहे हैं।
2. ग्रामीण युवाओं में कृषि, पशुपालन आदि कर्मों के प्रति विरक्ति आ गई है। साथ ही ये लाभकारी व पर्याप्त संख्या में सुलभ नहीं हैं। अतः बेकारी व गरीबी की समस्याओं के समाधान हेतु ग्रामीण युवा शहरों की ओर रोजगार प्राप्ति की इच्छा-आशा लेकर सतत् व भारी मात्रा में पलायन कर रहे हैं। इससे नगरों की भीड़ बढ़ती जा रही है तथा अपराधों का दौर शुरू हो गया है।

3. यातायात के साधनों का विकास होने से ग्रामीण युवा कम समय व लागत में शहर आ जाते हैं, किन्तु यहां की विविधता तथा रौनक देखकर फिर यहीं के होकर रह जाते हैं तथा रोजगार ढूंढते हैं। श्रम-प्रधान कार्यों का अच्छा मूल्य पाकर ये यही परिवार बसा लेते हैं। इससे नगरीकरण की गति बढ़ती जा रही है।
4. स्वामी और सेवक के बीच बढ़ती दूरी ने अर्थ को प्रमुख महाशक्ति बना दिया है। अतः धन को पाने के लिए महत्वाकांक्षा बढ़ती जा रही है। इस महत्वाकांक्षा को पूरा करने के लिए गलत व बुरी नीतियों को लेकर ग्रामीण शोषित, पीड़ित व उपेक्षित युवा शहरों की ओर भागते हैं। बाद में यही लोग शहरों में जुआ, शराब, व्यभिचार व ठगी, चोरी आदि कर्मों में लगकर अपार काली पूंजी कमाते व संस्थाबद्ध होते चले जाते हैं। ये लोग गरीब ग्रामीण युवाओं को भाड़े पर अपराध कराने के लिए अपने अघोषित समूह बना लेते हैं। अतः बुरे लोगों का भी तेजी से नगरीकरण हो रहा है।

सामाजिक प्रभाव

1. सामाजिक भावना का क्षरण — ग्रामीणों में समूहवादी भावना तथा बुद्धि पर्याप्त मात्रा में पाई जाती थी। ईमानदारी, मेहनत, विश्वास व साहस आदि की प्रचुरता रहती थी, किन्तु स्वामी और सेवक तथा मजदूर के त्रियक सम्बन्धों में बढ़ती घृणा व दूरी ने इन गुणों या भावनाओं को तिरोहित कर दिया है। अब सब व्यक्ति स्वार्थी, झूठे, आलसी तथा निराश और दुराचारी बन गये हैं। ये शोषण का बदला शोषण करके ही देना ठीक मानने लगे हैं। अतः सामूहिक बुद्धि व भावना का विलोप हो चुका है। भ्रष्टाचार आज का मूल आचार है। कोई किसी को लाभ, प्यार, सम्मान, विश्वास व सहयोग नहीं देना चाहता। फलतः सामूहिक गति जड़ व विखण्डित हो गयी है।

2. धर्म भावना में क्षरण — नगरों में इंसान वैज्ञानिक यथार्थवादी शिक्षा व सिद्धान्तों पर ज्यादा विश्वास रखता है। वह सुनी व देखी बातों को सत्य या विश्वसनीय नहीं मानता तथा शंका व तर्क को व्यवहारता है। फलतः यही दृष्टिकोण या स्वभाव वह धर्मशास्त्रों व गुरुओं के वचनों व चरित्रों के प्रति अपनाता है। अतः धर्म के घोषित उपदेश यथासत्य, क्षमा, अहिंसा, तप, त्याग, प्रेम, श्रद्धा, भक्ति तथा एकता व समानता आदि सब तिरोहित व तिरस्कृत हो रहे हैं। इससे समाज में व्यभिचार या स्वेच्छावाद या व्यक्तिवाद का अहंकारी तथा अंध विरोध चरित्र जन्मा है। अतः इसने मानवीय एकता, राष्ट्रीय एकता तथा न्याय भक्ति आदि को भी त्याग दिया है। फलतः आपसी फूट व हिंसा के चलते विकास कम व विनाश ज्यादा हो रहा है।

3. पारिवारिक नियंत्रण में कमी — एकांकी परिवारों की अधिकता व प्रमुखता के चलते शहरी परिवारों के बच्चे व युवक नियंत्रण मुक्त होते रहने से उच्छंखल तथा विकृत हो रहे हैं। पति-पत्नी दोनों नौकरियों पर चले जाते हैं। बालक-युवक क्या करता है ? कहां बैठता-रहता है ? क्या खाता-पीता है ? यह उसी के अबोध व अल्पज्ञ विवेक पर निर्भर होता है। अतः बालक व युवक गलत निर्णयों को लेकर व्यभिचारी व भ्रष्ट तथा अपराधी तक बन बैठते हैं। नशे, जुआ, सैक्स तथा चोरी आदि कुकर्म सीख कर स्वयं व घर को तबाही में पटक देते हैं। शहरी समाज में अच्छे लोग कम होते हैं तथा बुरे लोग बहुतायत में होते हैं। फलतः ऐसे परिवारों के बालक व युवक शोषकों के शोषण का शिकार होते चले जाते हैं।

4. उच्च शिक्षा का प्रभाव — उच्च शिक्षा का और उच्च पदों का अभेद देख, समझ कर आज का हरेक युवा उच्च शिक्षा पाने को प्रथम महत्व देता है। इससे विश्वविद्यालयों पर भार बढ़ता जा रहा है। अवस्थाएं

हो रही हैं। कृषि, पशुपालन तथा श्रम प्रधान कर्म उपेक्षित व कम होते जा रहे हैं। फलतः कर्मगत असंतुलन बढ़ता ही जा रहा है। इस कर्मगत असंतुलन ने अर्थव्यवस्था को तबाह करना शुरू कर दिया है। सब आदेशों, उपदेशों की रोटी खाना पसंद करने लगे हैं। अभ्यास, श्रम, सेवा, शोध तथा निर्माण कर्म उपेक्षित हो गये हैं। फलतः राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था दरिद्र बनती जा रही है।

5. नारी दिशा में परिवर्तन — नागरिक परिवारों की नारियां आधुनिक शिक्षा, सोच, फैशन के रंग में रंग कर अपने आपको स्वच्छंदतावादी बनाकर परम्परागत नियमों सिद्धान्तों, चरित्रों को छोड़ कर उन्मुक्त भोगवादी बनती जा रही हैं। अब वह गृहवधु नहीं बनना चाहती, वह नगर वधु व राष्ट्र वधु तथा विश्व वधु तक बनने की इच्छा रखने लगी है। अनैतिक यौन सम्बन्ध, नग्नता, कामुकता तथा आर्थिक मोह ने नारी को आधुनिकता का पाठ पढ़ाकर पारिवारिक स्त्री व इसके चरित्रों को नष्ट-भ्रष्ट करके रख दिया है। आज नारी वह सब करना चाहती है, जो पुरुष करते हैं। खासकर बुरे पुरुष, क्योंकि यही दबंग, बैखोफ तथा अधिक सफल व प्रतिष्ठित होते हैं। ये अपराध, भ्रष्टाचार तथा ठगी आदि से सफलतम धनी बन जाते हैं। अतः जैसा ये चाहते हैं, वैसा ही नारी चाहती है। नारी बहुत बदल गयी है। झूठी, लोभी व चालाक हो गई है, नारी समान गुण, कर्म व भाव इसमें कहीं नहीं रह गये हैं। पूंजीवाद व भोगवाद की अंधी हवस ने इन पारिवारिक धर्म मूल्यों को उपेक्षित व अनाकर्षक बना डाला है। नैतिक मूल्यों से ज्यादा मूल्य धन-साधनों व भोगों का हो गया है। किन्तु ऐसा सब बहुत बड़े स्तर पर नहीं हुआ है। पारिवारिक संस्कारों का प्रभाव अभी बाकी है।

6. विवाह संस्था में परिवर्तन — अब शहरी परिवारों में प्रेम विवाहों तथा अनैतिक यौन सम्बन्धों का फैशन चल पड़ा है। अतः परिवार की सहमति, अनुमति तथा पसंद का चलन समाप्त हो गया है। फलतः जितनी जल्दी व खुशी से ये सम्बन्ध पनपते हैं, उतनी जल्दी तथा कटुता से ये खत्म भी हो जाते हैं। अतः अब तलाक की प्रथा बढ़ रही है। नारी व नर के अहं टकराने से बालक वर्ग उपेक्षित व दमित हो रहा है। आज की शहरी नारी व नर स्थाई प्रेम व विश्वास में आस्था, श्रद्धा नहीं रखता। वह हर स्वार्थ या लाभ को ऊपर रखके इन रिश्तों को छोड़, बदल व तोड़ देता है। बढ़ती नग्नतापूर्ण फैशन ने पुरुषों को अनावश्यक रूप से व्यभिचारी बना कर विवाहित रिश्तों विवाहित रिश्तों को अपवित्रकर दिया है। अतः शहरी गृहस्थ संस्था टूटती जा रही है।

7. व्यापारिक मनोरंजन — शहरों में अत्यधिक परिश्रम व चिंतन के कारण इंसान मानसिक विरक्ति का शिकार हो जाता है तथा मनोरंजन की तीव्र मांग करता है। फलतः सिनेमा, जुआघार, मदिरालय, अनैतिक क्लब तथा गीत-संगीत व अन्यान्य आकर्षक तत्त्वों की भरमार होने से वह इनमें शांति की तलाश करता है। इस शांति व ऊर्जा की प्राप्ति में बहुत धन व्यर्थ खर्च हो जाता है। इससे शहरी परिवार की आर्थिक स्थिति कमजोर व खण्डित हो जाती है। कर्ज लेने व चुकाने की असमर्थता, जीवन को चिंता व भय से खोखला कर देती है। जुआ, लॉटरी, सट्टा आदि का प्रचलन बढ़ता है। चोरी, ठगी बढ़ती है।

8. आवास की समस्या — नगरीकरण की तीव्र गति के चलते उपलब्ध आवासीय स्थानों का अभाव हो रहा है। कीमते व किराये की दरें आसमान छूती प्रतीत होती हैं। फलतः नवविवाहित शहरी गृहस्थों के सामने आवास व स्थान की समस्या आड़े आ जाती है। यह अभाव उसे चिंता व निराशा में डालकर गलत दिशाओं में प्रेरित करता है। यथा ठगी, आर्थिक जालसाजी, भ्रष्टाचार तथा अवैध लाभकारी कार्य आदि उसके लिए आकर्षक व महत्वपूर्ण बन जाते हैं। इससे आर्थिक अपराधों में वृद्धि होती जा रही है।

9. किशोरों व युवाओं में बढ़ती विकृतियां — आज के शहरी युवक तथा किशोर व युवतियां आर्थिक

पूर्ति के लिए छोटी-छोटी फैक्ट्रियों व कम्पनियों में साथ-साथ कार्य करते हैं। फलतः आससी प्यार, विश्वास बढ़ाने से इनमें अवैध योन सम्बन्ध पनप जाते हैं। इससे इनका सामाजिक जीवन भ्रष्ट व नष्ट होने लगता है। समय से पूर्व ही लगातार भूलों से ये खुद को मादक द्रव्यों व पदार्थों की भेंट चढ़ा देते हैं या फिर कृत अपराधों के लिए जेलों में सड़ते रहते हैं। अनैतिक यौन सम्बन्धों को नगरीय समाज में भी हेय दृष्टि से स्वीकारा जाता है। अतः युवाओं का जीवन संघर्षपूर्ण तथा विकृतिपूर्ण हो जाता है।

10. आर्थिक प्रभाव — नगरों में बढ़ते मशीनीकरण के कारण मानव के हाथ-पांव बेकार हो गये हैं। इनसे काम छीन लिया गया है। कुटीर या गृह उद्यमों को उपेक्षित, असंगठित व नष्ट कर दिया गया है। फलतः बेकारी, गरीबी तथा आर्थिक अपराध तेजी से बढ़ रहे हैं। इनका समाधान सरकारों के पास नहीं है। फलतः शहरी युवा समाज शिक्षित व कर्मकुशल होकर भी बेकारी व गरीबी का बुरी तरह शिकार हो गया है। यह एक विश्वव्यापी सामाजिक त्रासदी है।

राजनैतिक प्रभाव

1. प्रशासन की बढ़ती समस्याओं में अत्यन्त वृद्धि होने से राज्य प्रशासन की नीतियों तथा योजनाओं में परिवर्तन आ गया है।

2. श्रमिक संघ — बढ़ते हुए औद्योगीकरण के कारण श्रमिकों तथा बाबुओं तथा अधिकारियों के पृथक्-पृथक् संघ बनते चले गये हैं। ये संगठन अति शक्तिशाली होकर राजनीति को अपनी और झुकाने में सफल हो जाते हैं। फलतः असंगठित परिवारों व वर्गों को राजनैतिक लाभ पूर्णतः नहीं मिल पाते तथा वे कर चुकाकर भी अपेक्षित लाभों व सुविधाओं से वंचित रह जाते हैं। वर्ग-संघर्ष बढ़ रहा है।

3. सांस्कृतिक जीवन पर प्रभाव — आज पश्चिमी सभ्यता, संस्कृति, भाषा तथा वेशभूषा का प्रचुर प्रचार, प्रसार व उपयोग होने लगा है। इससे हमारा स्वदेशी परिवार धर्म, ग्राम धर्म, नगर धर्म नष्ट हो रही है। हमारी सभ्यता, संस्कृति, भाषा, वेशभूषा का तिरस्कार व त्याग हो रहा है। आत्मसुख की अदम्य इच्छा, आशा व भावना ने लोगों को सर्व विरोधी व सर्व शोषक बना दिया है। अतः सब लाभ में रहने के लिए व दूसरों को धोखे से छलने व गिराने में लग गये हैं। मैत्री, सहयोग, क्षमा, संयम तथा न्यायदृष्टि का विनाश व लोप हो गया है। सामूहिक बोध व भावनाएं नष्ट हो गयी हैं। सामाजिक त्यौहारों तथा पर्वों का कोई आकर्षण, महत्त्व व मूल्य नहीं रह गया है।

इन सभी कारणों से नगरीय समाज तेजी से भ्रष्ट, पतित व रिक्त होता गया है। आज हमारे लिए बढ़ती नगरीकरण की इच्छा या प्रवृत्ति एक घातक समस्या व विकृति बन चुकी है। हमें इस अंधी बढ़ती प्रवृत्ति को रोकना व हतोत्साहित करना अवश्य ही पड़ेगा।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं संरचनात्मक हिंसा प्रत्यक्ष कर्ता द्वारा नहीं की जाती वरन् वह समाज के ढांचे में व्याप्त है। इसने व्यवस्था का ही ऐसा बना दिया है कि हम उसमें समहित है तथा यह हिंसा जीवन में प्रत्येक आयाम चाहे वह राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आदि में कभी प्रत्यक्ष रूप से तो कभी अप्रत्यक्ष रूप से झलकती है।

अभ्यास हेतु प्रश्न

(अ) बहुवैकल्पिक/लघुत्तमात्मक उत्तर

1. नालंदा शब्दकोष के अनुसार समाज शब्द के अर्थ कितने रूपों में व्यक्त किया जा सकता है।
(अ) 3 (ब) 5 (स) 7
2. 'समाजशास्त्र का अतीत काफी प्राचीन या लम्बा है' किसने कहा है?
(अ) रोबर्ट बियरस्टेड (ब) जान गालटूंग (स) थामस ग्रीन
3. 'सोसाइटी' नामक पुस्तक के लेखक कौन है?
(अ) मैकाइवर एवं पेज (ब) फिफनर (स) जान गालटूंग
4. 'सोशियोलोजी फॉर इण्डिया' के लेखक कौन है?
5. समाजशास्त्र की कितनी शाखाएं हैं?
(अ) 15 (ब) 20 (स) 18
6. अष्टांगिक मार्ग का प्रतिपादन किस परम्परा में किया गया है?
(अ) वैदिक (ब) बौद्ध (स) जैन
7. 'हिन्द स्वराज्य' के लेखक कौन है?
(अ) गांधी (ब) विनोबा (स) जयप्रकाश नारायण
8. नगरीकरण का क्या अर्थ है?
9. 'धन से केवल उच्च जीवन स्तर ही नहीं उच्च जीवन भी खरीदा जा सकता है' किसका कथन है ?
10. आश्रम व्यवस्था के प्रतिपादक कौन थे?

(ब) लघु उत्तर

1. समाज के अर्थ व स्वरूप को स्पष्ट करें।
2. डॉ. सत्येन्द्र त्रिपाठी के अनुसार समाजशास्त्र के कितने विषय-क्षेत्र हैं?
3. कौटिल्य के आदर्श समाज की व्याख्या करें।
4. गांधी के अनुसार वर्ण व्यवस्था का क्या रूप है?
5. आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार समाज व्यवस्था के आधार क्या हैं?
6. संरचनात्मक हिंसा की अवधारणा को स्पष्ट करें।
7. जाति व्यवस्था की क्या हानियां हैं ?
8. नगरीकरण के प्रभाव को लिखिए।
9. वैचारिक हिंसा की अवधारणा को लिखें।

(स) निबंधात्मक प्रश्न

1. अहिंसा एवं शांति के समाजशास्त्र के अवधारणा की विकास को लिखें।
2. मध्यकालीन अहिंसक समाज संरचना के विचारों को प्रकट करें।
3. संरचनात्मक हिंसा का क्या अर्थ है?
4. संरचनात्मक हिंसा के अन्तर्गत सामाजिक हिंसा की विवेचना करें।
5. गांधी द्वारा प्रतिपादित समाज का स्वरूप स्पष्ट करें।

इकाई-2

शांति को सामाजिक चुनौतियां

भूमिका

अहिंसा एवं शांति के समाजशास्त्र के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर अनेकानेक संभाव्य चुनौतियां इस अध्याय की विषयवस्तु रहेगी जिसके अन्तर्गत निम्न बिन्दुओं पर विचार होगा :

- (अ) वैश्विक स्तर की शांति को चुनौतियां : आतंकवाद, मादक पदार्थों का सेवन, लिंग भेद एवं महिलाओं के प्रति हिंसा, कट्टरवाद, जनसंख्या विस्फोट आदि।
- (ब) भारतीय स्तर की शांति को चुनौतियां : जातिवाद आदि।

उद्देश्य :

1. वैश्विक स्तर के अन्य अनेक समकालीन समस्याओं एवं चुनौतियों का परिचय पाना।
2. वैश्विक स्तर की समस्याओं के निदान हेतु उपयुक्त समाधान पर विमर्श करना।
3. भारतीय परिप्रेक्ष्य में बाधक समस्याओं का अध्ययन करना।
4. इन समस्याओं के निराकरण हेतु बिन्दुओं को प्रस्तुत करना।

आतंकवाद एक ऐसी समस्या है जिसका भारत में हम तीन दशकों से अधिक से सामना कर रहे हैं। इससे पहले नागा और मिजों विद्रोहियों से निबटते समय हमने उत्तर-पूर्वी भारत में विद्रोह की समस्या और बंगाल में नक्सलवादियों के आतंकवाद का सामना किया था। आज आतंकवाद को ऐसी समस्या माना जाता है जो न केवल राष्ट्रीय किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को भी अस्थिर कर सकती है। हाल के समय में आतंकवाद को आतंकवादी तकनीकों से व्यक्तियों द्वारा वांछित-लक्ष्यों तथा उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये एक महत्वपूर्ण साधन बनाया है, वे इस प्रकार हैं। उद्देश्य की विशुद्धता में दृढ़ विश्वास, कट्टर निष्ठा, आत्म-बलिदान की इच्छा, तानाशाही की भावना, और विदेशों से वित्तीय एवं भौतिक सहायता।

अवधारणा

आतंकवाद क्या है? विशेषज्ञों की मान्यता है कि इसकी एक एकल परिभाषा संभव नहीं है 1936 और 1981 के मध्य 109 परिभाषएं दी गयी थीं और कुछ अब भी दी जा रही है। फिर भी आतंकवाद की जो सामान्य

धारणा है (जो यद्यपि अस्पष्ट है) उसके अनुसार “आतंकवाद हिंसा का या हिंसा की धमकी का उपयोग है तथा लक्ष्य-प्राप्ति के लिए संघर्ष/लड़ाई की एक विधि व रणनीति है एवं अपने शिकार में भय पैदा करना इसका प्रमुख उद्देश्य है। यह क्रूर है और मानवीय प्रतिमानों का पालन नहीं करता। इसकी रणनीति में प्रचार एक आवश्यक तत्व है।

आतंकवाद, विद्रोह, गृह-युद्ध, क्रांति, गुरिल्ला युद्ध, अभित्रास (भयभीत करना) और उग्रवाद जैसे शब्द बहुधा एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग किये जाते हैं और इनका उपयोग मुक्त रूप से होता है। इन सब में हिंसा सर्वसामान्य है। आतंकवाद अभित्रास की एक संगठित पद्धति है। मोटे तौर पर उसे यह कह कर परिभाषित किया जाता है कि यह एक हिंसक व्यवहार है जो समाज या उसके बड़े भाग में राजनैतिक उद्देश्यों से भय पैदा करने के इरादे से किया जाता है। इसको (एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज) परिभाषित किया जाता है कि “यह एक ऐसा तरीका है जिसके द्वारा एक संगठित समूह अथवा दल अपने प्रकट उद्देश्यों की प्राप्ति मुख्य रूप से हिंसा के योजनाबद्ध उपयोग से करता है।”

आतंकवादी कार्यवाहियों का लक्ष्य वे व्यक्ति होते हैं जो कर्ता के रूप में अथवा सत्ता के प्रतिनिधि की तरह ऐसे समूह के उद्देश्यों की परिपूर्ति में बाधा डालते हैं। एक ‘आतंकवादी’ वह है जो अपने संगठन द्वारा निर्धारित किये गये दण्ड को उन व्यक्तियों पर लागू करता है जो क्रांतिवादी कार्यक्रम में बाधा पहुंचाने के लिये दोषी माने जाते हैं। आतंकवादी धमकी नहीं देता है अपितु मृत्यु या विध्वंसकता उसके कार्य के कार्यक्रम का भाग है। यदि उसे बन्दी बना लिया जाता है तो वह अपनी निर्दोषता को सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करता, अपितु वह अपने सिद्धान्तों को प्रचारित करता है। यद्यपि आतंकवाद, विद्रोह और क्रांति के दीर्घकालीन उद्देश्य एक से हैं, अर्थात् विद्यमान शासन अथवा व्यवस्था को समाप्त कर देना, परन्तु उनके, अल्पकालिक उद्देश्य रणनीति या प्रणाली भिन्न हो सकती है।

एक मत यह है कि उपरोक्त परिभाषाएं उस आतंकवाद से संबंधित हैं जो राज्य के विरोधियों द्वारा अपनाया जाता है। एक दूसरा आतंकवाद होता है जो राज्य के तंत्र द्वारा अपनाया जाता है। आतंकवाद की कला के बड़े कार्यान्वित करने वालों, जैसे हिटलर, स्टालिन, माओ, याहिया खान, मुसोलिनी और फ्रैंको को इन परिभाषाओं को मद्देनजर रखते हुये आतंकवादी नहीं कहा जा सकता। राज्य के द्वारा किया गया आतंकवाद उस हिंसा का उल्लेख करता है जो इतर कानूनी तरीकों पर आधारित होता है फिर भी यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि राज्य द्वारा की गई सब हिंसाएं आतंकवाद नहीं होतीं। वास्तव में, एक संगठित राज्य को कभी-कभी कुछ उद्देश्यों के लिये हिंसा का प्रयोग करना पड़ता है। प्रजातान्त्रिक राज्य सामान्यतया अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए कानूनी तंत्र का उपयोग करते हैं। केवल सर्वसत्तात्मक राज्य ही आतंक का उपयोग करते हैं। परन्तु सभी सर्वसत्तात्मक राज्य आतंकवादी नहीं होते। उसी प्रकार प्रजातान्त्रिक राज्य भी कभी-कभी आतंक का उपयोग कर सकते हैं।

आतंकवाद की सामान्य परिभाषा में हिंसा की वे सभी किस्में सम्मिलित नहीं हैं जिनका संगठित समूह प्रयोग करते हैं। वह हिंसा जो विशुद्ध व्यक्तिगत उद्देशों के कारण की जाती है, आतंकवाद से अलग है। इसमें डकैती और लूटमार जैसे संगठित अपराध भी नहीं आते। परन्तु वे सब हत्याएं और डकैतियां जो नक्सलवादियों जैसे सैद्धान्तिक गुटों के द्वारा की जाती हैं, आतंकवाद के क्षेत्र में आती हैं।

आतंकवाद को अभित्रास और विद्रोह से भी अलग किया गया है। अभित्रास में अभित्रास करने वाला फिरौती प्राप्त करने के लिये चोट की धमकी देता है परन्तु आतंकवाद और विद्रोह में आतंकवादी और विद्रोह वास्तव में हिंसा का उपयोग करते हैं। आतंकवाद व्यक्तियों के बीच की लड़ाई नहीं है, अपितु वह सामाजिक समूहों एवं राजनैतिक शक्तियों के बीच संघर्ष हैं उसका व्यक्तियों को व्यक्ति होने के नाते से डराने से कोई सरोकार नहीं है। आतंकवादी उन व्यक्तियों को दण्डित करते हैं जिन्हें उनका संगठन उस कार्यक्रम में बाधा पहुंचाने का दोषी मानते हैं, जिसका लक्ष्य अवांछित सामाजिक या सरकारी प्रणाली को हटाना है। पॉल विल्किंसन के अनुसार, “राजनीति में आतंकवाद ब्लैकमेल, जबरदस्ती और अल्पसंख्यकों के संकल्प को बहुसंख्यकों के निर्णय के विरुद्ध और उसके ऊपर लागू करने का हथियार है।”

आतंकवाद उत्तेजित भीड़ व सामूहिक हिंसा से भी भिन्न है। सामूहिक हिंसा अनियोजित व अनियन्त्रित होती है। वह ऐसे तात्कालिक कारण से हो सकती है जो तर्क संगत तक नहीं हो और किसी निश्चित कार्यक्रम पर आधारित नहीं हो। आतंकवाद का एक निश्चित लक्ष्य होता है और वह नियोजित होता है। उसका उद्देश्य सरकारी सत्ता के मनोबल को गिराना और उसकी शक्ति को कमजोर करना होता है। फिर भी कभी-कभी आतंकवाद सामूहिक हिंसा को भी अपना तरीका बना सकता है।

आतंकवाद और विद्रोह में यह अन्तर है कि विद्रोही को स्थानीय जनता के एक बड़े भाग का समर्थन होता है, जब कि एक आतंकवादी के लिये यह आवश्यक नहीं है। इसके अतिरिक्त विद्रोही उस देश का नागरिक होता है जो अपने देश की संवैधानिक सरकार के विरुद्ध विद्रोह करता है और गुरिल्ला युद्ध के द्वारा सरकार को हटाने के लिये संघर्ष करता है, जब कि दूसरी ओर आतंकवादी उस देश का, जहां वह क्रियाशील है, नागरिक हो सकता है या नहीं भी हो सकता है।

उपरोक्त परिभाषाएं आतंकवाद की छः मूल परिभाषाई तत्वों को प्रस्तुत करती हैं। इनमें ये सम्मिलित हैं :

1. भय का प्रयोजन, यानि, मूल लक्ष्य (व्यक्ति/समूह) के मस्तिष्क में भय उत्पन्न करना,
2. सहायक या तात्कालिक पीड़ित,
3. मुख्य लक्ष्य (जनसमुदाय या व्यापक समूह और अन्य),
4. सहायक लक्ष्य की परिणामस्वरूप मृत्यु और संपत्ति की हानि या नाश,
5. हिंसा, और
6. राजनैतिक उद्देश्य।

आतंकवाद कई रूपों में प्रकट होता है —बाजार, रेल्वे, बस स्टैंड या बस में अपरिष्कृत व घर का बनाया हुआ बम, हैन्ड ग्रेनेड या अन्य विस्फोटक को रखने से लेकर महत्वपूर्ण व्यक्तियों का अपहरण और हत्या तक। आतंकवादियों का मुख्य उद्देश्य उनसे बदला लेना है जिन्हें वे अवरोध अथवा शत्रु अथवा अत्याचारी समझते हैं।

आतंकवाद के पांच प्रकार बताये गये हैं —

1. राज्य द्वारा प्रयोजक आतंकवाद जो अधिकांश एक कमजोर राज्य द्वारा प्रयोग किया जाता है।
2. गुट द्वारा प्रायोजक आतंकवाद जो एक सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय अभिव्यक्ति है जो राज्य प्रतिरोध या पृथक्तावादी आन्दोलन के एक अंग के रूप में पैदा होता है।
3. अपराध—सम्बन्धित आतंकवाद जो आतंक फैलाने के लिए हिंसा को एक साधन के रूप में प्रयोग करता है और

जो प्रेरणा के लिए राजनैतिक सत्ता के स्थान पर धन का उपयोग करता है।

4. नाकों आतंकवाद जो रूपयों के लिए मादक पदार्थों के धंधे को समर्थन देता है।
5. विवाद प्रेरित आतंकवाद जो परमाणु हथियारों पर निषेध, भूमि संघर्षों, औद्योगिक प्रतिष्ठानों, चुनावों में जीतने, आद विवादों से प्रेरित होता है।

विशेषताएं

आतंकवाद निरुद्देश्य और क्रूर उत्पीड़न, जोर-जबरदस्ती या जान-माल के नुकसान की तकनीक है। इसका प्रयोग ऐसे उपराष्ट्रीय समूहों द्वारा किया जाता है जो तनाव की भिन्न-भिन्न स्थितियों में काम करते हुए वास्तविक अथवा भ्रांतिमूलक लक्ष्यों को प्राप्त करना चाहते हैं। आतंकवाद की मुख्य विशेषताएं ये हैं –

1. यह राज्य या समाज के विरुद्ध होता है।
2. इसका राजनैतिक उद्देश्य होता है।
3. यह अवैध और गैरकानूनी होता है।
4. यह न केवल पीड़ित को अपितु सामान्य व्यक्तियों को डराने और उनमें भय एवं आतंक उत्पन्न करने की चेष्टा उन्हें पीड़ित एवं वश में करने के अभिप्राय से करता है।
5. जन साधारण में इससे बेबसी और लाचारी की भावना पैदा होती है।
6. वह बुद्धिसंगत विचार को समाप्त कर देता है।
7. इसमें लड़ने या भागने की प्रतिक्रिया होती है।
8. इसमें की गई हिंसा में मनमानापन होता है क्योंकि पीड़ितों का चयन बेतरतीब और अन्धाधुन्ध होता है।

उद्देश्य

आतंकवादियों के उद्देश्य प्रत्येक आन्दोलन के साथ बदल सकते हैं, परन्तु आतंकवाद के मुख्य उद्देश्य सभी आतंकवादी आन्दोलनों में एक ही होते हैं। ये हैं –

1. शासन को प्रतिक्रिया और अति प्रतिक्रिया दिखाने के लिये प्रेरित करना। सरकार/समाज को आतंकवादियों की मांग को मनवाने के लिये बाध्य करने हेतु प्रतिक्रिया की आवश्यकता होती है। अति-प्रतिक्रिया या अन्धाधुन्ध प्रतिक्रिया की आवश्यकता शासन द्वारा दमन किये जाने को दिखाने के लिये करनी पड़ती है जिससे कि जनता उस (शासन) से विमुख हो जाये और उस (जनता) की सहानुभूति उन्हें (आतंकवादियों को) प्राप्त हो जाये। सरकार द्वारा अति विशिष्ट व्यक्तियों (वी.आई.पी.ज) और सरकारी संस्थाओं की सुरक्षा के लिये सुरक्षा बलों का उपयोग साधारण जनता की सुरक्षा के लिये उपलब्ध सुरक्षा बलों को कम कर देता है जिससे जनता में असुरक्षा और लाचारी की भावना बढ़ जाती है और आतंक भी अधिक हो जाता है,
2. जनता के समर्थन को संगठित करना और संभावित समर्थकों को और अधिक आतंकवाद के लिये प्रेरित करना,, या/और अधिक व्यक्तियों को उसमें अधिक लिप्त करना। विदेशी क्षेत्र में आतंकवादी गतिविधियों का उद्देश्य मात्र आतंक बनाने के स्थान पर व्यक्तियों को प्रभावित करना होता है। इन स्थानों पर मुख्य उद्देश्य शक्ति प्रदर्शन होता है एवं शासन द्वारा जनता की सुरक्षा करने और व्यवस्था को कामय रखने में असमर्थता दर्शाना होता है,

3. विरोधियों और मुखबिरों को खत्म करना और आन्दोलन के लिये खतरे को दूर करना और अपने अनुयायियों के अनुसरण को सुनिश्चित करना।

4. अपने उद्देश्य और शक्ति का प्रचार करना एवं उसे अतिरंजित करना।

बलजीत सिंह के अनुसार, आतंकवाद के व्यापक उद्देश्य इस प्रकार हैं —

1. जनसमर्थन प्राप्त करना।

2. शासन की सैन्य एवं मनोवैज्ञानिक शक्ति को विघटित और ध्वंस करना।

3. आन्तरिक स्थिरता को तोड़ना और विकास को रोकना। यदि इस आधार को स्वीकृत किया जाता है कि राजनैतिक आतंक मुख्यतः सैन्य सामग्री के स्थान पर मानस को अपना लक्ष्य बनाता है तो चुनिन्दा महत्वपूर्ण परन्तु अलोकप्रिय अधिकारियों और राजनीतिज्ञों को जान से मारने से आतंकवादियों का मनोबल बढ़ सकता है, जनता में सहानुभूति उत्पन्न हो सकती है और शासन को दमन के ऐसे उपाय करने के लिए उकसा सकता है जिससे जनता और अधिक विमुख हो जाये।

जे. मेलिन ने राजनैतिक आतंकवाद के पांच मुख्य अल्पकालिक उद्देश्य सुझाये हैं —

1. सामान्य आतंकवादियों का मनोबल बढ़ाना,

2. आन्दोलन का प्रचार करना,

3. जनता की स्थिति भ्रान्तिमूलक एवं मनोवैज्ञानिक अलगाव,

4. विरोधी शक्तियों को हटाना और

5. सरकार को भड़काना।

उत्पत्ति और विकास

राजनैतिक आतंकवाद सत्ता के उपकरण के रूप में 1793 की फ्रांसिसी क्रांति के दौरान विकसित हुआ। आतंक से इस क्रांति में दो पहलुओं का समावेश हुआ एक समूह में चिन्ता की स्थिति, और उस उपकरण, जिसने भय और हिंसात्मक कार्यों को उकसाया, का लक्ष्य राज्य के राजनैतिक व्यवहार को प्रभावित करना था। फ्रांसिसी क्रांति के पश्चात, राजनैतिक आतंकवाद ने 1921 तक कोई उल्लेखनीय सफलता प्राप्त नहीं की, जबकि आयरलैण्ड में आ.आर.ए. ने उसका प्रयोग ब्रिटिश के विरुद्ध किया। द्वितीय विश्व युद्ध शुरू होने के बाद (1939 के बाद) राजनैतिक आतंकवाद अंतर्राष्ट्रीय परदे पर पुनः प्रकट हुआ। भारत के अतिरिक्त इसका प्रयोग अल्जीरिया, साइप्रस और कैन्या में राजनैतिक स्वाधीनता के लिये ऐसी गतिविधियों द्वारा किया गया जिनमें उत्पीड़न, तोड़-फोड़, अपहरण और हत्या सम्मिलित थी।

साठ के दशक में राजनैतिक आतंकवाद ने दूसरी अवस्था में पदार्पण किया। बलजीत सिंह के अनुसार, आतंकवाद में साठ के दशक में जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिणामक परिवर्तन हुए, वे थे। उसका राष्ट्रीय रूप और उसका एक आत्मनिर्भर रणनीति की तरह उभरना, यानि आतंकवादियों ने बड़े राजनैतिक कार्यक्षेत्र के बिना स्वतंत्र रूप से कार्य करने का प्रयास किया। यह संचार और आधुनिक नगरीय सभ्यता में क्रांति आने से संभव हो पाया। 1969 और 1975 के बीच, चालीस से अधिक देश आतंकवादी गतिविधियों से ग्रस्त थे (बलजीत सिंह, 1977:9)।

एलगजैंडर और फिन्गर का मत है कि आतंकवाद के प्रमुख कारण आधुनिक सभ्यता की प्रकृति में ही हैं और आधुनिक औद्योगिक प्रणाली में निहित हैं। इन्होंने आतंकवाद की उत्पत्ति और विकास के लिये निम्नांकित कुछ कारण दिये हैं :

1. आज का जटिल प्रौद्योगिकी समाज आतंकवाद के अकल्पित और बेरहम आक्रमणों का आसानी से शिकार हो सकता है, क्योंकि परिवहन केन्द्र, संचार सुविधाएं, कारखाने और कृषि मैदान समर्पित एवं कृत संकल्प आतंकवादियों के बेतरतीब आक्रमणों से सदैव बचाये नहीं जा सकते हैं।
2. अत्यधिक परिष्कृत हथियार जैसे प्रक्षेपणास्त्र और सुदूर नियन्त्रण शस्त्र विभिन्न आतंकवादी आन्दोलन के लिये प्राप्त करना अब अपेक्षाकृत सरल है। भविष्य में आतंकवादी समूहों की पहुंच संभवतः रासायनिक एवं अणु शस्त्रों और मृत्यु एवं विनाश के उपकरणों तक भी हो जायेगी।
3. आधुनिक युद्ध क्षमताओं के साथ शक्तिहीन आतंकवादी समूह उपराष्ट्रीय समूहों में परिवर्तित हो गये हैं और उनकी इतनी भयानक शक्ति हो गई है कि वे राज्यों के अन्दर राज्य बनाने के योग्य हो गये हैं जिससे वैध सरकारों के शासन करने या बने रहने की शक्ति कमजोर हो गई है (श्रीलंका में लिट्टे, भारत में खालस्तान कमांडो, और इजराइल में पी.एल.ओ. ऐसे शक्तिशाली उपराष्ट्रीय समूहों के कुछ उदाहरण हैं)।
4. संचार और परिवहन अवसरों ने आतंकवाद के अन्तर्राष्ट्रीय जाल को कुछ अंश तक केन्द्रीयकृत संगठनात्मक संरचना के आधार पर विकसित किया है। सैद्धान्तिक रूप से जुड़े हुए समूहों और समान राजनैतिक स्वार्थों वाले समूहों के बीच सहयोग ने ऐसे संबंध बनाये हैं जिनके वित्तीय सहायता, प्रशिक्षण, सैन्य सामग्रियों की आपूर्ति, संगठनात्मक सहायता और संयुक्त आक्रमण सम्मिलित हैं। 'मित्रता' का यह प्रतिरूप अन्तराष्ट्रीय हिंसा के क्षेत्रों का अनिवार्यता से विस्तार कर रहा है।
5. संचार के माध्यमों में आई क्रांति के द्वारा आतंकवादी केवल तात्कालिक पीड़ितों को ही अपनी हिंसा का निशाना नहीं बना पाते बल्कि उसकी दिशा को अधिक व्यक्तियों की ओर भी मनोवैज्ञानिक उत्पीड़न और ब्लैकमेल के लिये मोड़ सकते हैं। संचार माध्यमों के द्वारा प्रसार होने वाली सूचनाएं भी आतंकवादी तकनीकों और प्रेरणाओं को अन्य आतंकवादी समूहों को निर्यात करती है।

इन कारकों के अतिरिक्त, दूसरे कारक जिन्होंने आतंकवाद को काफी मात्रा में योगदान दिया है ये हैं –

1. निर्बल राष्ट्रों की शक्तिशाली राष्ट्रों को अशक्त करने की इच्छा। उनकी यह इच्छा उन्हें शक्तिशाली राष्ट्रों के उप-राष्ट्रीय समूहों की आतंकवादी गतिविधियों को समर्थन देने के लिए प्रेरणा देती हैं। इसके अलावा आतंकवादी समूहों को धार्मिक एवं सांस्कृतिक आधार पर धनवान अनिवासियों द्वारा भी वित्तीय सहायता से समर्थन देने का प्रोत्साहन मिलता है,
2. आतंकवादियों द्वारा तस्करी और मादक पदार्थों के व्यापार के तरीकों का उपयोग करने की सम्भाव्यता और इस प्रकार आधुनिक हथियारों को खरीदने के लिये पैसा जमा करना,
3. पूर्व और पश्चिम के बीच और वामपंथी और दक्षिणपंथी विचारधाराओं के बीच संघर्ष,
4. सारे संसार के समूहों में धार्मिक, भाषाई, प्रजातीय और राष्ट्रीय चेतना का बढ़ना,
5. अपनी स्वतंत्रता और आत्मनिर्णय के वैध अधिकार के लिये संघर्ष कर रहे अल्पसंख्यकों में वंचन और कुण्ठा की भावनाएं और
6. नागरिकों द्वारा अपने देशों में सत्तारूढ़ दमनात्मक सरकारों और तानाशाहों के विरोध में वृद्धि।

राजनैतिक आतंकवादियों द्वारा अपनाई गई रणनीतियां और चालें सामान्यतया तीन समूहों को अपना निशाना बनाती है। जनसाधारण, सत्तारूढ़ सरकार, और स्वयं आतंकवादी संगठन।

परिप्रेक्ष्य

आतंकवाद को विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में देखा है। हम इस प्रकार के चार परिप्रेक्ष्यों की पहचान कर सकते हैं — ऐतिहासिक, राजनैतिक, समाजशास्त्रीय और वैधानिक।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का केन्द्र बिन्दु आतंकवाद की उत्पत्ति, विकास और उसकी विभिन्न अवस्थाओं में गुणात्मक परिवर्तन होता है। बलजीत सिंह एक प्रोफेसर विद्वान ने जिसने आतंकवाद के विश्लेषण के लिये इस उपागम का प्रयोग किया है।

राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में राजनैतिक आतंकवाद को राजनैतिक हिंसात्मक आन्दोलन माना जाता है, जो राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राजनैतिक समूह (समूहों) द्वारा संगठित किया जाता है।

वैधानिक परिप्रेक्ष्य में राज्य के कानून और अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद से निबटने के लिये सहयोग पर केन्द्रित करता है।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में आतंकवाद के विश्लेषण के लिये जौर्डन पाइस्ट इनको केन्द्र बिन्दु बनाता है —

1. आतंकवाद में आतंकवादियों, उनके निशाने, शिकार, आदि के रूप में लिप्त सहभागियों के प्रकार,
2. भाग लेने वालों के उद्देश्यों,
3. वास्तविक अन्तरक्रिया की स्थितियाँ,
4. प्रत्येक किस्म के भागीदार के पास संसाधनों के प्रकार,
5. आतंक के लिये उपयोग में लाई गई रणनीतियाँ (हत्याएँ, अपहरण, बम विस्फोट, लूट और हाई जैकिंग), और
6. आतंकवादी प्रक्रिया का परिणाम (मृत्यु, चोटें, सम्पत्ति का विनाश)।

जन समर्थन

आतंकवादियों की विचारधारा, लक्ष्य और प्रणाली के जनसमर्थन की प्रकृति और सीमा क्या है ? कई बार ऐसा होता है कि जनता एक विशेष विचारधारा को स्वीकार कर लेती है, परन्तु लक्ष्य को नहीं करती या लक्ष्य को स्वीकार कर लेती हैं, परन्तु आतंकवाद के प्रस्तावकों की रणनीतियों को नहीं। जब कोई लक्ष्य से भी सहमत है तो भी यह आवश्यक नहीं कि वह आन्दोलन को समर्थन दे या एक सीमा से आगे जाये। इस प्रकार जनसमर्थन की मात्रा और गुणवत्ता एक आतंकवादी आन्दोलन से दूसरे आतंकवादी आन्दोलन से भिन्न होती है। वर्मा ने जनसमर्थन की विशेषताओं के कुछ सूचक दिये हैं। ये हैं विचारधारा या प्रकरण को समर्थन देना, प्रणाली से सहमत होना, पैसा और सामग्री का देना, रैलियों में भाग लेना, हथियार और गोलाबारूद की आपूर्ति करना, आश्रय या शरण देना, मौखिक या लिखित (मिडिया आदि में) समर्थन, और आन्दोलन में सक्रिय भागीदारी (हिंसात्मक समर्थन) वर्मा ने इन सूचकों को आरोही क्रम में क्रमबद्ध भी किया है और अर्धसैनिक संघर्ष की तीन किस्में बतलाई हैं, आतंकवाद, विद्रोह और क्रांति। विद्रोह या गुरिल्ला युद्ध की विशेषता यह होती है कि इसमें विद्रोहियों या गुरिल्लों की संख्या कम होती है और इन्हें जनसंख्या के एक बड़े भाग का समर्थन प्राप्त होता है। यह उस समय होता है जब कि उद्देश्य उपनिवेशी शासन को हटाना होता है या विदेशी शासक का प्रतिरोध करना होता है। क्रांति की विशेषता यह होती है कि इसमें भाग लेने वाली की बड़ी संख्या होती है और जनविद्रोह होता है।

भारत में आतंकवाद ने युवाओं को अधिक आकर्षित किया है, विशेषताया, बेरोजगार, विभ्रान्त और आदर्शवादी

युवाओं को। जब तक ऐसे उद्देश्य रहते हैं, जो तीव्र भावनाओं को उत्तेजित करते हैं तब तक आदर्शवादी युवा एक उद्देश्य के लिये आतंकवाद के रोमांचक स्वप्नों को देखने के लिये प्रेरित होंगे। जब एक राष्ट्र निहित स्वार्थों में लिप्त भ्रष्ट नेतृत्व के कारण अपने उद्देश्य से विमुख हो जायेगा तो कुण्ठाएं और वंचन आक्रामक युवकों को उग्र प्रवृत्तियों की ओर ले जायेंगे, जैसे नक्सलवाद, या पंजाब राज्य की समस्याएं, या कश्मीर की समस्याएं। ऐसे आतंकवादी समूहों, जिन्होंने भारत के बाहर युवाओं को आकर्षित किया है, के कुछ उदाहरण हैं, आयरलैण्ड में आई.आर.आर.ए. जोर्डन में ब्लैक सेप्टेम्बरिस्ट्स, जर्मनी में मीन कॉफ, श्रीलंका में लिट्टे, और जापान में रेड आर्मी।

समर्थन का आधार

आतंकवाद की सफलता काफी हद तक उसके समर्थन के आधार पर निर्भर होती है जिसमें केवल राजनैतिक एवं सामाजिक समर्थन ही सम्मिलित नहीं होता अपितु पैसे, हथियार और प्रशिक्षण का समर्थन भी होता है। आतंकवादी विभिन्न स्रोतों से पैसा प्राप्त करते हैं, जैसे आदमियों से 'दान' एवं कर, बैंक की डकैतियों, मादक वस्तुओं की तस्करी और क्रय से और बन्धक व्यक्तियों और अपहरण किये हुए विमानों से फिरौती एकत्रित करके। व्यक्तियों से प्रायः हथियार लूटे जाते हैं या पुलिस चौकियों से छीने जाते हैं, या विदेशों से खरीदे जाते हैं। उदाहरणार्थ पी.एल.ओ. विद्रोही अरब राज्यों, चीन और रूस से हथियार प्राप्त करते हैं। भारत में खालिस्तानी आतंकवादी और कश्मीरी उग्रवादी प्रशिक्षण और हथियार कइ पड़ोसी देशों से प्राप्त कर रहे हैं। दक्षिण भारत में कुछ राज्य अभी हाल ही में श्रीलंका में हुए दंगों के पश्चात सक्रिय हो गये हैं तमिलों के जातीय संबंध भारत में श्रीलंका के तमिलों के प्रति स्थानीय सहानुभूति प्रदान करते हैं।

भारत में आतंकवाद

आतंकवाद के चार प्रकार जिनका हम अपने देश में आज सामना कर रहे हैं, वे हैं — कश्मीर में उग्रवादियों का आतंकवाद, बंगाल, बिहार, आन्ध्रप्रदेश में नक्सलवादी आतंकवाद, और असम में उल्फा और बोडो आतंकवाद। इससे पूर्व हमने नागालैंड (1951), मिजोरम (1966), मणिपुर (1976), त्रिपुरा (1980) और गोरखा लैंड का बंगाल, पंजाब (1980-90) में इस समस्या का सामना किया था। खालिस्तानी उन्मुखी सिख आतंकवाद पृथक्वाद द्वारा एक मजहबी राज्य के स्वप्न पर आधारित था। नागालैंड और मिजो आतंकवाद पहचान की संकट-स्थिति पर आधारित था, मणिपुर और त्रिपुरा का आतंकवाद परिवेना की स्थिति पर आधारित था, और बंगाल, बिहार और आन्ध्र प्रदेश के नक्सलवादी आतंकवाद का आधार वर्ग विद्वेष है। यदि पंजाब में सिख आतंकवाद परिवेदना की स्थिति या सिखों के पहचान की संकट-स्थिति पर आधारित होता, तो उससे राजनैतिक वार्ता और संवैधानिक साधनों से निबटा जा सकता था, परन्तु जब तक वह देश से पृथक होकर और उसके बंटवारे से एक मजहबी राज्य के लक्ष्य पर आधारित था तो सरकार को उसका प्रतिआतंक युक्तियों से सामना करना पड़ा।

पंजाब में आतंकवाद का 1984-85 में एक खतरनाक स्थिति में पर्दापण हुआ। इससे पहले 1982-83 के दौरान बहुत से निर्दोष व्यक्ति, अधिकांश हिन्दू, अन्धाधुन्ध मारे गये। इसके बाद की अवस्था में हिन्दुओं के साथ-साथ सिख भी मारे गये। पूजा-स्थलों को शस्त्रागारों में बदल दिया गया। मई 1985 में देहली, हरियाणा और उत्तरप्रदेश में कई ट्रान्जिस्टर बम विस्फोट हुए जिनमें बहुत जाने गई। वी.आई.पी.ओ. को मारने के षडयंत्र हुए। संत लोंगोवाल, अकाली दल के अध्यक्ष की 20 अगस्त, 1985 में एक गुरुद्वारा के अन्दर हत्या कर दी गई।

बस में यात्रा करते चुनिन्दा गैर-सिख यात्रियों की हत्या, एयर इंडिया बोईंग 'कनिष्क' का विस्फोट और लगभग 300 निर्दोष भारतीयों का जान से मारा जाना, राजनैतिक नेताओं, पत्रकारों, फौज और पुलिस अफसरों और निर्दोष व्यक्तियों की 1984 और 1992 के बीच हत्या, 114 हिन्दू रेल यात्रियों का लुधियाना के पास द्रोवल रेलवे स्टेशन पर जून 1991 में जान से मार देना, पंजाब और उसके बाहर दोनों स्थानों पर बैंको का लूटना, चुनाव लड़ने वाले 24 प्रत्याशियों का जून, 1991 में (जिन्हें बाद में फरवरी, 1992 तक स्थगित कर दिया गया) एक प्रत्याशी प्रति दिन की दर से जान से मारना, आतंकवादियों की वे सब गतिविधियां थीं जिनकी प्रत्येक व्यक्ति द्वारा भर्त्सना की गई।

आतंकवादी पंजाब विधान सभा में जून 1991 में होने वाले चुनावों के विरुद्ध थे। कांग्रेस (आई) और दक्षिणपंथी दलों ने चुनावों का बहिष्कार किया था। केवल सिख संगठन और भारतीय जनता पार्टी ही चुनाव लड़ रही थी। पंजाब में अकाली दल सात गुटों (मान, बादल, लोंगोवाल, कैप्टेन अमरेन्दर सिंह, बाबा जोगेन्दर सिंह, फेरूमन और राजदेव समूहों) में बंटा हुआ था। अखिल भारतीय सिख विद्यार्थी फ़ेडरेशन (ए.आई.एस.एफ.) भी छह समूहों में बंटी हुई थी, प्रत्येक एक दूसरे के विरुद्ध थे (सोहन सिंह, जफरवाल, मनोचहल, उस्मानवाला और भुट्टा)। इस प्रकार मतदाता उलझन में थे। चुनाव में राष्ट्रीय और पृथक्तावादी शक्तियों के बीच एक संघर्ष होना था। स्वतंत्र चुनाव असंभव थे, क्योंकि उम्मीदवारों को डराने और जान से मारने की आतंकवादी युक्तियां अपनाई जा रही थी। चन्द्रशेखर के नेतृत्व वाली सरकार चुनाव कराने पर अटल थी। परन्तु केन्द्र में कांग्रेस सरकार के सत्ता में आने के एक दिन पहले चुनाव स्थगित कर दिये गये। आतंकवादियों का सिखों के लिये स्वशासित स्वायत्त राज्य, जहां सिख स्वतंत्रता के प्रकाश का अनुभव कर सकते, की मांग पूरी नहीं हो सकी।

खालिस्तान उन्मुख आतंकवादियों द्वारा अपनाई गई रणनीतियां और चालें थी –

1. अपने आदेश निकाल कर शासन की सत्ता को कमजोर करना और विरोधियों को जान से मार कर अपनी शक्ति का परिचय देना,
2. अपने को सिखों एवं सिख धर्म के प्रति रक्षक के रूप में स्थापित करना,
3. निर्दोष व्यक्तियों को जान से मारना, बैंकों एवं दुकानों को लूटना और आतंक उत्पन्न करना,
4. हिन्दुओं को दूसरे राज्यों में बसने के लिये बाध्य करना और सिखों को पंजाब में बसने के लिये अवसर मुहैया करना,
5. तस्कारों के साथ पंजाब में पैसा जुटाने के लिये सम्बन्ध स्थापित करना।

आज पंजाब में व्यक्तियों की आत्मा आतंकवाद से थक चुकी है। अब कोई गुस्सा नहीं है, यद्यपि सताने वाला आतंक का भय है जो एक मानसिक स्थिति बन गया है। बाबे राज (आतंकवादियों के लिये स्थानीय बोली में) में व्यक्तियों ने आतंक को अंतर्निविष्ट कर लिया था और उसके साथ रहना सीख लिया था। निरीह ग्रामीण अपनी सुरक्षा के लिये, अपने बच्चों की सुरक्षा के लिये, अपने खेतों की सुरक्षा के लिये और अपने मवेशियों, दुकानों और संपत्ति की सुरक्षा के लिये इन आदेशों की अनुपालना करते थे। पंजाब में आम आदमियों को पीड़ा यह थी कि न केवल आतंकवादियों ने उत्तरोत्तर रूप से राज्य को बन्धक बना लिया था, अपितु प्रशासन ने अपने भ्रष्ट व्यवहार से प्रशासनिक प्रणाली में विश्वास खो दिया था और पुलिस राज की निरंकुशता दिनों दिन बढ़ती हुई दिखाई देती थी। ऐसी अराजकता में आम आदमियों की पीड़ा दब कर रह गई थी।

मार्च 1993 से मार्च 1994 तक एक वर्ष में पुलिस और सरकार द्वारा अपनाये गये उपायों के कारण पंजाब में आतंकवाद अब समाप्त हो गया है। परन्तु विभिन्न अकाली दल गुट अब भी पृथक् पंजाबी प्रान्त की मांग दुहराते

ही रहते हैं। मई 1994 में छः अकाली दल गुटों के विलय के बाद (आकाली दल पंथिक, काबुल, मान, मंजिल और तलवंडी) एक नई पार्टी “शिरोमणि अकाली दल” के नाम से अकाल तख्त के मार्ग दर्शन में स्थापित की गयी। नई पार्टी ने “ऐतिहासिक अमृतसर घोषणा” में सिखों के लिए ऐसे पृथक क्षेत्र (राज्य) गठित करने की अकालियों की पुरानी मांग दोहराई, जिसमें सिख कौम आजादी महसूस कर सकें, निर्बाध रूप से अपने धार्मिक विचारों का प्रचार कर सकें और पंजाबी संस्कृति का उत्थान कर सकें। यह घोषणा 1973 की आनन्दपुर साहब घोषणा से मिलती जुलती है। इसके अनुसार अगर भारतीय राज्यसंघ में स्वायत्तशासी राज्यों का राज्य मंडल सफल न हो सका, तब सिख एक पृथक सिख राज्य के लिए लड़ाई लड़ेंगे। मगर एक अकाली दल गुट (बादल) के विरोध के कारण यह गठन राजनीति के क्षेत्र में प्रभावी नहीं माना जाता है। लेकिन इस प्रकार की घोषणा को राष्ट्र के लिए सर्वनाशी होने के कारण सरकार को गम्भीरता से लेना होगा।

नक्सलवादी आतंकवाद का प्रादुर्भाव बंगाल में 1967 में हुआ। 1969 में इसे बढ़ावा मिला जब सी.पी.आई. (एम.एल.) का चीन, जो कि भारत को कमजोर करना चाहता था, के उकसाने पर जन्म हुआ। नक्सलवादी विचार को सैद्धान्तिक समर्थन अप्रैल 1969 में हुई चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की नवीं कांग्रेस से प्रोत्साहन प्राप्त हुआ जब कि माओ के विचारों को मार्क्सिज्म लेनिनिज्म की चरम सीमा कहा गया। इन विचारों का उपयोग करते हुए नक्सलवादी नेता, चारु मजूमदार ने घोषणा की थी कि चीन का चेयरमैन हमारा चेयरमैन है। बंगाल से नक्सलवादी आन्दोलन भूमिहीन श्रमिकों की और से संघर्ष बिहार में फैला। फिर भी चारु मजूमदार के वर्ग शत्रुओं के संहार के नारे को किसान वर्ग और शिक्षित मध्यम वर्ग से अधिक समर्थन प्राप्त नहीं हुआ, यद्यपि कई आदर्शवादी युवा नक्सलवादी पुरुषों और स्त्रियों ने जमींदारों, साहूकारों और पुलिस अधिकारियों को जान से मारना प्रियकर समझा। 1969 और 1972 के बीच नक्सलवादी आतंककारियों द्वारा 1,711 व्यक्ति मारे गये। 696 मामले पैसा लूटने के और 8,857 मामले अन्य प्रकार की हिंसा के हुए। सरकार की जोरदार कार्यवाही से (यानि केन्द्रीय आरक्षित पुलिस बल और सीमा सुरक्षा बल के द्वारा) पश्चिम बंगाल में 384 आतंकवादी मारे गये और 6,000 से अधिक को जेल हुई। आन्दोलन बदनाम भी हो गया क्यों कि पेशेवर अपराधी इसमें सम्मिलित हो गये। 1972 के पश्चात नक्सलवादी आन्दोलन बंगाल और बिहार से आन्ध्रप्रदेश, केरल, उड़ीसा, तमिलनाडु और त्रिपुरा में फैला गया। आन्ध्रप्रदेश में 1969-72 के दौरान आतंकवादियों ने 102 हत्याएँ की और 148 लूट के मामलों में लिप्त हुए।

आन्ध्र प्रदेश और बिहार में 1988 और 1991 के बीच स्थिति और भी अधिक खराब थी, यद्यपि सब मिलाकर अब भी शोषित निर्धन, और जनजातियाँ अपने को पूर्व-जमींदारों, साहूकारों और शोषकों से बचाने हेतु नक्सलवादी आतंकवाद का अनुसरण करते हैं। सरकार इस नक्सलवादी आतंकवाद से केवल कानून और व्यवस्था की समस्या की तरह ही निबटती है।

कश्मीर में उग्रवादियों के आतंकवाद ने 1988 से एक नया रूप धारण कर लिया है। उग्रवादी कश्मीर में और देश में राजनैतिक अस्थिरता पैदा करना चाहते हैं। उन्होंने अपनी अलग पहचान पर बल देने के लिये एक रक्त युद्ध छेड़ दिया है। पड़ोस के देश, जो घाटी में अशांति के जारी रहने पर दृढ़ संकल्प है, आतंककारियों को प्रशिक्षण और हथियार दे रहे हैं। कश्मीरी नागरिकों को भी इतना मत-आरोपण किया जा रहा है कि वे भी पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों की ज्यादतियों के बारे में बात करते हैं। उग्रवादियों के लिये कश्मीरी नागरिकों द्वारा सरकार की आलोचना का अर्थ है कि वे उन्हें समर्थन देने के लिए अत्याधिक सहमत हैं। दूसरी ओर हिन्दुओं को उग्रवादियों द्वारा कश्मीर छोड़ने पर बाध्य किया गया। प्रेस गिल्ड ऑफ इंडिया की एक रिपोर्ट में दावा किया

गया है कि 1988 और 1991 के बीच लगभग दो लाख हिन्दू कश्मीर छोड़ गये। हिन्दू दावा करते हैं कि कट्टरवादी और उग्रवादी कश्मीर घाटी में सरकार के प्रत्येक क्षेत्र में घुस गये हैं और उनका शासन चलता है, वह सरकार की हुकूमत नहीं परन्तु जम्मू कश्मीर लिबरेशन फ्रन्ट की हुकूमत है। उनका कहना है कि पाकिस्तान समर्थक शक्तियों ने घाटी पर प्रभुत्व जमा लिया है और एक प्रकार से शासन ठप हो गया है और आतंकवादी चाहते हैं कि वे घाटी को छोड़ जाएं। मुसलमानों का दावा है कि वे निर्दोष हैं और उन्हें अनावश्यक रूपसे तंग किया जा रहा है।

कुछ स्रोतों का दावा है कि उग्रवादियों को सऊदी अरब, ईरान, पाकिस्तान और लिबिया से सहायता प्राप्त हो रही है। केन्द्रीय गृहमंत्री की पुत्री का अप्रैल 1991 में अपहरण, दो स्वीडिश इंजीनियरों का अप्रैल 1991 में (जो अन्त में 6 जुलाई, 1991 को बच निकले) आठ इजरायली पर्यटकों का 27 जून, 1991 को, और बन्दी उग्रवादियों की रिहाई की मांग अक्टूबर-नवम्बर 1993 में हजरतबल दरगाह में चालीस व्यक्तियों को बन्धक के रूप में 32 दिन तक बन्द रखने, उन नई रणनीतियों की और संकेत करती है जो उग्रवादी आज अपना रहे हैं। इस प्रकार वर्तमान सरकार को उग्रवादियों से लड़ने की समस्या का ही केवल सामना करना नहीं पड़ रहा है, अपितु सैनिक शक्तियों की कुछ ज्यादितियों के लिये लोगों के रोष का भी सामना करना पड़ता है।

असम में आतंकवाद 1980 से आगे उभरा। असमियों ने पहले से ही विदेशियों को निकालने और उनके नाम निर्वाचन सूचियों से हटाने का मामला उठा दिया था। जब सरकार ने कोई कार्यवाही नहीं की तो फरवरी 1983 के चुनावों में उग्र आन्दोलन हुए जिनमें 5,000 लोगों की जाने गई। ए.ए.एस.यू. के आन्दोलन के पश्चात जब असम गण परिषद सत्ता में आई तो यह सोचा गया कि राज्य का विकास होगा। परन्तु दलबन्दी से ए.जी.पी. टूट गई। दि यूनाइटेड माइनोरिटीज फ्रन्ट (यू.एम.एफ.) और यूनाइटेड लिबरेशन फ्रन्ट ऑफ आसाम (यू.एल.एम.ए.) दो आतंकवादी संगठनों के रूप में उभरे। दि ऑल बोडो स्टूडेंट्स यूनियन (ए.बी.एस.यू.) ने भी एक अलग राज्य की मांग की, जिसके परिणामस्वरूप बहुत हिंसा भड़की, उल्फा ने हत्या, लूटमार, और अपहरण के आन्दोलन को तेज कर दिया। आतंकवादी गतिविधियों ने न केवल गैर-असमियों में परन्तु असम के लोगों में भी आतंक फैला दिया। सैनिक कार्यवाही जिसका नाम आपरेशन बजरंग था जो पृथक्तावादी उग्रवादी संगठन के विरुद्ध की गई, ने इस सीमा तक उसको दबा दिया कि उग्रवादी गतिविधियों ने जून, 1991 के चुनावों में भी कोई बाधा नहीं डाली। यह आशा की जाती थी कि नई कांग्रेस सरकार जिसका 30 जून 1991 को गठन हुआ था, ए.ए.एस.यू., ए.जी.पी., यू.एम.एफ, उल्फा, और ए.एस.डी.सी. संगठनों को उखाड़ फेंकेगी अथवा उन्हें निर्बल कर देगी और नई सरकार राज्य में उग्रवादी संगठनों की आतंकवादी गतिविधियों को रोक देगी। परन्तु राज्य के विभिन्न भागों में 1 जुलाई, 1991 को 14 व्यक्तियों का अपहरण जिसमें ओ.एन.जी.सी. के छह अधिकारी सम्मिलित थे ने इन आशओं को धूमिल कर दिया। कदाचित सरकार को बहुत लंबे समय तक उग्रवादियों को आतंकवादी का सामना करना पड़ेगा। फरवरी 1993 में असम राज्य में 'बोडोलैण्ड आटोनामस काउंसिल स्थापित करके बोडो आतंकवाद समाप्त करने का प्रयास किया गया। परन्तु अब फिर पाकिस्तान की गुप्तचर संस्था आई.एस.आई. ने बोडो उग्रवादियों को भड़काना आरम्भ किया है तथा स्वतंत्र बोडोलैण्ड के लिए विभिन्न अपहरण, बलपूर्वक वसूली और हिंसात्मक विध्वंसी क्रियाओं में उन की सहायता कर रही है।

पंजाब, कश्मीर व असम के अलावा कुछ और प्रान्तों में भी आतंकवादी गतिविधियां पायी गई हैं। बम्बई में मार्च, 12, 1993 को आतंकवादियों ने ग्यारह व्यापारिक दृष्टि से प्रमुख व भीड़ वाले स्थानों पर तीन घंटों में विभिन्न बम-विस्फोटों द्वारा भय व आतंक पैदा किया था। इनमें 235 व्यक्ति मारे गये तथा 214 घायल हुए थे।

सम्बन्धित व्यक्तियों की गिरफ्तारी पर बहुत से हथियार व गोला-बारूद मिले थे तथा पड़ौसी राज्य के अन्तर्सेवा गुप्तचर संस्था एवं इसी देश द्वारा समर्थित दुबई में बसे हुए तस्करों का इसमें गहरा हाथ पाया गया था। इसी प्रकार का बम विस्फोट कलकत्ता में मार्च 16, 1993 को हुआ था, जिसमें 86 व्यक्ति मारे गये थे। इसके उपरान्त भी गुजरात, देहली, राजस्थान, बेंगलोर, दक्षिण भारत, महाराष्ट्र आदि में कई विध्वंसक आतंकवादी गतिविधियां हुईं।

भारत सरकार की सूचनाओं के अनुसार इस बात के पक्के सबूत हैं कि पड़ौसी देश अलगाववादियों और आतंकवादियों को बढ़ावा देने के लिए काठमांडू, ढाका और चटगांव (बांग्लादेश) एवं कनाडा में अड्डे बना कर उनकी गतिविधियां संचालित कर रहा है। पंजाब की समस्या पर यद्यपि काबू पा लिया गया है, परन्तु कश्मीर के समान ही उत्तरपूर्व के नागालैण्ड, मिजोरम, मणिपुर, अरुणाचल प्रदेश की स्थिति बिगड़ती जा रही है। इन क्षेत्रों के आतंककारियों को बांग्लादेश की सीमा में प्रशिक्षण दिया जा रहा है। दूसरी ओर, उत्तरप्रदेश के तराई क्षेत्र की गतिविधियों को काठमांडू में शह मिल रही है। बिहार में नेपाल और बांग्लादेश की सीमा से हो कर गुप्तचर संस्था की गतिविधियां संचालित की जा रही हैं। अतः यह अति आवश्यक हो गया कि पड़ौसी देश द्वारा प्रशिक्षित आतंककारियों की इन गतिविधियों को रोकने के लिए हमारी सरकार कुछ नयी प्रभावशाली योजनाएं बनाये जिनमें पुलिस, सी.बी.आई. इन्टेलिजेंस ब्यूरो, नारकोटिक्स कंट्रोल ब्यूरो, रेवेन्यू इन्टेलिजेंस और सीमा-पुलिस की सहभागिता हो।

भारत में आतंकवाद विश्लेषण का एक परिप्रेक्ष्य

उपयुक्त तथ्यों के आधार पर भारत में आतंकवाद के विश्लेषण सम्बन्धी एक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया जा सकता है। भारत में आतंकवाद के दो पहलू प्रमुख हैं पहला 'राजनैतिक आतंकवाद' जिसमें देश में पाये जाने वाले मतभेद को द्वेषपूर्ण पड़ौसी देश अपने स्वयं के देश के संघर्षों को छिपाने व नागरिकों का ध्यान बंटाने के लिए अथवा भारत के साथ संघर्ष के कारण अपने समर्थन से प्रेरित कर रहे हैं। इसके मुख्य उदाहरण हैं नागाओं और मिजो को चीन की सहायता तथा सिखों और कश्मीरी मुसलमानों को पाकिस्तान का सहयोग। इस पक्ष पोषण ने पुलिस और अर्द्ध-सेना शक्तियों के अतिरिक्त भारत की कुल सेना शक्ति में लगभग आधी को फंसा रखा है। दूसरा, इस्लामी शक्तियों का आतंकवाद। इस्लामी अर्थेन्दु सऊदी अरब से इंडोनेशिया तक फैला हुआ है। ये राज्य भारत को अपने बीच एक बेजोड़ राज्य समझते हैं। 1970 में योम किप्पूर युद्ध और 1980 में पाकिस्तान के जेड ए.भुटो के इस्लामी बम की घोषणा के बाद यह इस्लामी धारणा ईरान की क्रांति से और अधिक बढ़ गयी। इन इस्लामी देशों में रुढ़िवादी शक्तियों ने भारत के अलावा मिश्र, अलजीरिया, आदि देशों के लिए भी खतरा पैदा किया। 1991 का गल्फ युद्ध, रूस का पतन, पूर्वी यूरोप में साम्यवादी विचारधारा की समाप्ति, अमरीकी सरकार की पाकिस्तान के पक्ष में और भारत-विरोधी नीतियां आदि ने विसैद्धान्तिक केन्द्रीय एशियाई गणराज्यों को जन्म दिया। इसके पूर्व जब समाजवादी देशों में आतंकवाद वस्तुतः अनुपस्थित था, समाजवाद के पतन के उपरान्त दक्षिण एशियाई खण्ड में टर्की, ईरान, सऊदी अरब, पाकिस्तान, आदि इस्लामी धार्मिक-सांस्कृतिक प्रभाव के कारण भारत को इस इस्लामी साम्राज्यवाद का सामना करना पड़ रहा है। अतः ये देश आतंकवादियों को शह देकर भारत को सदा कमजोर बनाने में लगे रहते हैं।

इंगलैण्ड के साथ प्रत्यर्पण संधि के उपरान्त कहा जाता है कि अब अमरीका, कनाडा, जर्मनी, और आस्ट्रेलिया से पाकिस्तानी आतंकवादियों को भारत के विरुद्ध समर्थन मिल रहा है। इन सब में अमरीका की भूमिका प्रमुख है। अमरीका में बुश प्रशासन के समय पाकिस्तान को लीबिया, क्यूबा, सीरिया, इराक, ईरान, और

उत्तरी कोरिया की तरह आतंकवादी राज्य घोषित करने के लिए सूचना अवधि में रखा गया था परन्तु बिल विलन्टन प्रशासन ने पाकिस्तान को 1994 के प्रारम्भिक महीनों में निर्दोष पत्र दे दिया। जब तक कश्मीरी, सिख, नागा, बोडो और लिट्टे आदि उग्रवादियों को इन बाहरी देशों का समर्थन मिलता रहेगा, भारत में आतंकवाद की समस्या गम्भीर रहेगी। अमरीका के जेम्स आर.रोच की टेररिजन पत्रिका के एक उल्लेख के अनुसार ये देश (अमरीका, चीन, पाकिस्तान, सऊदी अरब, श्रीलंका आदि) अपना रवैया बदलेंगे इसकी सम्भावना दिखाई नहीं देती। अतः भारत को आतंकवाद के विरुद्ध स्वयं ही लम्बी लड़ाई लड़नी पड़ेगी।

दूसरे देशों में आतंकवाद

आतंकवादी गतिविधियां विश्व के विभिन्न भागों में पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ, आयरलैंड में आई.आर.ए. (आइरिश रिपब्लिकन आर्मी) की आतंकवादी गतिविधियां ब्रिटिश आतंक के राज्य के विरुद्ध बदले के कार्य पर आधारित हैं। आतंकवादी आयरलैंड में अंग्रेजों का नियन्त्रण समाप्त करना चाहते हैं और आयरलैंड के एकीकरण और जनता के आत्म-निर्णय के अधिकार को संस्थापित करना चाहते हैं। इसी प्रकार, आतंकवाद श्रीलंका, इजराइल, स्पेन, जर्मनी, जापान, फिलिपिन्स, कनाडा, अर्जेंटीना, फ्रान्स, इटली, पुर्तगाल और लेटिन अमेरिका में है। महत्वपूर्ण आतंकवादी गुटों में कुछ ये हैं — श्रीलंका में लिट्टे, जापान में रेड आर्मी और चुकाकू का, फिलिपीन्स में हुकवाला हेप्स और मोरोज, जर्मनी में बादर-मीनकॉफ, तुर्की में करदिश पार्टी, यू.एस. में सिम्बायनीज लिबरेशन आर्मी, कनाडा में क्यूबेकोडस, और भारत में पंजाब में बब्बर खालसा और कश्मीर में हिजबुल मुजाहिदीन।

इन आतंकवादी समूहों द्वारा प्रयोग में लाई जाती आतंकवाद की वैधता को अनेक सामाजिक-आर्थिक और राजनैतिक कारकों से मापा जा सकता है और इस बात से भी कि क्या यह उनके राजनैतिक संघर्ष में संघर्ष के और सब अन्य तरीकों को असफल रूप से आजमाने के बाद आखरी हथियार माना गया। दूसरी और, आतंकवाद अपनी वैधता खो देता है, यदि यह सिद्ध हो जाता है कि उपलब्ध वैध तरीकों को आतंकवाद के उपयोग का सहारा लेने के पूर्व अनदेखा किया गया। हाल में, अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद भी लोकप्रिय हो गया है। एक देश के आतंकवादियों को दूसरे व्यक्तियों और समूहों, जो उनके उद्देश्य के प्रति सहानुभूति रखते हैं, का समर्थन प्राप्त हो सकता है, या यह दूसरे राज्य की सरकारों से मिल सकता है, जैसे कि अरब राज्यों द्वारा, फिलिस्तीनी समूहों को दिया गया समर्थन आदि।

सरकारी आतंकवाद के उदाहरण रूस, चीन और कम्बोडिया में मिलते हैं। रूस के आतंकों के तीन प्रसिद्ध उदाहरण 1905-07 में जार के शासन का आतंक, 1917-18 में बोल्शेविक आतंककारी शासन और 1934-35 में स्टेलिन के काल का आतंक। चीन के देशवासियों ने 1923 में चांग काई शेख के सफेद आतंक का सामना किया, 1950-53 में माओ के आतंक का जिसमें 10 से बीस मिलियन आदमी जान से मारे गये और 1966-69 में सांस्कृतिक क्रांति के दौरान आतंक जिसमें छात्र शक्ति और पीपुल्स लिबरेशन आर्मी का माओ की व्यक्तिगत प्रभुत्व को पुनर्जीवित करने के लिये उपयोग किया गया। कम्पूचिया में (जिसे पहले कम्बोडिया के नाम से जाना जाता था) सरकारी आतंक 1975 में हुआ जिसमें आठ मिलियन की कुल जनसंख्या में से दो मिलियन व्यक्तियों की हत्या कर दी गई। सरकारी आतंक के उदाहरण 1971 में पूर्वी पाकिस्तान में, 1983-85 में ईरान में और 1933-44 में नाजी जर्मनी में भी पाये गये हैं।

आश्चर्य यह है कि आतंकवाद विभिन्न देशों में अब भी उन्नतावस्था में है, यद्यपि संयुक्त राष्ट्रीय चार्टर, हेलसिंकी एक्ट अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों की घोषणा और जनेवा कन्वेंशनशन, 1977, में इसे न्यायबाह्य घोषित किया गया है। 1970 में एकत्रित आंकड़ों में पाया गया कि 80 प्रतिशत आतंकवादी क्रियाएं सम्पत्ति के विरुद्ध और 20 प्रतिशत व्यक्तियों के विरुद्ध होती हैं। 1980 में यह क्रियाएं 50-50 प्रतिशत थीं।

संयुक्त राज्य साधारण सभी ने दिसम्बर, 1985 में एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें उसने आतंकवाद के सभी कार्यों की भर्त्सना की गई। उसने सभी देशों का आह्वान किया कि वे दूसरे देशों में आतंकवादी कार्यों को संगठित करने, भड़काने, सहायता पहुंचाने या हिंसा लेने से अपने आपको रोकें या अपने प्रदेशों में ऐसी गतिविधियों को मौन स्वीकृति नहीं दें जो ऐसे कार्यों को करने की दिशा में हों। उसने सभी राज्यों से यह भी आग्रह किया कि वे एक दूसरे को सार्थक सूचनाएं देकर और ऐसे कार्यों में लिप्त व्यक्तियों को दंडित करें या उनका प्रत्यर्पण करें और इसके लिये आपस में संधि करें।

आतंकवाद के कारणों की सैद्धान्तिक व्याख्या

प्रसिद्ध समाजशास्त्री ने आतंकवाद के कारणों की सापेक्षिक वचन के सिद्धान्त पर व्याख्या की है। इस सिद्धान्त के अनुसार राजनैतिक हिंसा को उस अन्तर के परिणामस्वरूप माना जा सकता है जो कि व्यक्तियों के एक विशेष समुदाय की मूल्य-आशाओं और मूल्य क्षमताओं के बीच उत्पन्न होता है। गुर ने वंचनों के तीन प्रकार बतलाये हैं—

1. अवनति वंचन उस समय उत्पन्न होता है जब कि एक जनसंख्या विशेष के मूल्यों की क्षमताओं का ह्रास बहुत अधिक हो जाता है परन्तु मूल्य अपेक्षाएँ वही रहती हैं। बोल्शेविकों की रूस में 1917 में सामूहिक राजनैतिक हिंसा इस प्रकार के वंचन के कारण हुई। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् रूस के व्यक्ति असंतुष्ट थे और सरकार की युद्ध में रूस की संलग्नता को समाप्त करने में विफलता के कारण एक समूह (लेनिन और उसका दल) जो तत्काल शांति का आश्वासन देता था, लोगों में अति लोकप्रिय हो गया।
2. आकांक्षाओं का वंचन उस समय प्रकट होता है जबकि जनसंख्या विशेष की मूल्य क्षमताएं तो वहीं रहती हैं, परन्तु मूल्य अपेक्षाएं बढ़ जाती हैं। कश्मीर घाटी में आतंकवाद इस प्रकार के वंचन के कारण है। इसी प्रकार, असम में उल्फा आतंकवाद असमियों के प्रति जारी भेदभाव और पूर्वाग्रह के विरोध में तत्काल समानता की मांग का परिणाम है।
3. उत्तरोत्तर वंचन उस समय होता है जब मूल्य अपेक्षाओं में वृद्धि हो जाती है और मूल्य क्षमताओं में अवनति। खालिस्तानोन्मुखी आतंकवाद इसका सबसे अच्छा उदाहरण है।

आधुनिकता और जाति विस्फोट से तुलनात्मक वंचन की व्यापक भावनाएं जागृत होती हैं।

आतंकवाद का समाजशास्त्र

आतंकवाद किस प्रकार राजनैतिक ढांचे या सामाजिक संगठनों को विघटित करता है? आतंकवाद किस प्रकार सामाजिक परिवर्तन की गति को तेज करने के एक तरीके की तरह कार्य करता है? आतंकवाद किस प्रकार एक कुण्ठित अल्पसंख्यक समूह और सत्तारूढ़ राजनैतिक अभिजनों के बीच या ऐसा समूह जो वंचित महसूस करता है और ऐसा समूह जिसका बल प्रयोग पर एकाधिकार है, के बीच सामाजिक संबंध की व्याख्या करता है?

आतंकवाद का संपूर्ण समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य तभी संभव हो सकता है, जब कि हम बड़े पैमाने की राजनैतिक घटनाओं पर न केवल उनकी कुल संख्या बल्कि उनके प्रभाव के बारे में चर्चा करें, अर्थात् जब हम अपना ध्यान केवल मात्रात्मक वृहत्-राजनीति पर नहीं, अपितु गुणात्मक लघु-राजनीति पर भी केन्द्रित करें।

आतंकवाद जनसंख्याओं को हतोत्साहित एवं विघटित करता है और समाजों को छिन्न-भिन्न कर देता है, यद्यपि यह भी सही है कि कुछ स्थानों पर यह समाकलनात्मक तन्त्र के रूप में भी कार्य करता है और व्यक्तियों को एक सार्वजनिक लक्ष्य के लिये एक दूसरे से जोड़ता है। आतंकवाद से कानून और व्यवस्था की समस्या खड़ी हो सकती है, अर्थात् धार्मिक सम्बद्धता या उप-सांस्कृतिक अन्तरों के कारण एक समूह का दूसरे समूह द्वारा जान से मारने या अपहरण की, परन्तु यह सामाजिक तन्त्रों को विघटित नहीं करता। आतंकवाद ऐतिहासिक परिवर्तन को गति देने का एक विशिष्ट तरीका भी नहीं है। किसी भी आतंकवादी आन्दोलन ने कभी भी अपने लक्ष्य प्राप्त करने में सफलता नहीं पाई है। इसलिए आतंकवाद ऐतिहासिक घटनाओं की दिशा को निर्धारित नहीं करते।

आतंकवाद को समझने के लिये यह मापना आवश्यक है कि आतंकवादियों के अपने वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये कितनी हिंसा की, पुलिस और सुरक्षा बलों ने आतंकवाद को रोकने के लिये कितने बल का प्रयोग किया और किस प्रकार की हिंसा का प्रयोग किया। भारत में आतंकवाद को इस परिप्रेक्ष्य में देखने से यह विदित होता है कि एक वर्ष में बिहार में जान से मारे गये और अपहरण किये गये व्यक्तियों की संख्या पंजाब में आतंकवादियों द्वारा जान से मारे गये और अपहरण किये गये व्यक्तियों की संख्या से कहीं अधिक है। जब एक आतंकवादी सामाजिक न्याय के नाम से किसी व्यक्ति की जान लेता है, तो उसे एक स्तर पर सामाजिक स्पष्टीकरण की समस्या का सामना करना पड़ता है और दूसरे स्तर पर नैतिक दबाव का। आतंक के उपयोग से राज्य की सत्ता को उखाड़ने के परिणामों की भी बात उठ सकती है। यदि यह भी माना जाये कि हम राजनैतिक सामाजिक तन्त्रों की सामान्य प्रशासनिक गतिविधियों के अन्तरिम विघटन को स्वीकार कर लेते हैं, तो क्या हमें उन्हीं परिणामों का सामना नहीं करना पड़ता है जिनका सामना हम किसी सामाजिक या प्राकृतिक संकट के समय करते हैं? क्या आतंकवादियों द्वारा एक या दो या कुछ महत्वपूर्ण राजनैतिक नेताओं को जान से मारने से राजनीति का ढांचा बदल सकता है? सब मिलाकर, समाज में राजनैतिक प्रक्रिया में बाधा नहीं आती और न ही इस प्रकार की हत्याओं से उसमें अवरोध उत्पन्न होता है। इस प्रकार, मात्रात्मक रूप से आतंकवादियों द्वारा की गई हत्याएं भले ही महत्वपूर्ण न हो, परन्तु उनसे गुणात्मक मानसिक आघात तो होते ही हैं। आतंकवादियों द्वारा इंदिरा गांधी या राजीव गांधी की हत्याओं से हमें ऐसी समस्या का सामना करना पड़ा। परिणामस्वरूप हम आतंकवादी गतिविधियों को असफल न मानें, परन्तु उसके साथ-साथ हम उन्हें सीमित संख्या में होने के कारण सफल भी नहीं कह सकते हैं। समाजशास्त्रीय रूप से इस प्रकार आतंकवादी सामाजिक व्यवस्था को ध्वस्त न कर पायें, परन्तु वे प्रशासनिक अधिकारियों और सत्ताधारियों की वैध क्षमताओं को कमजोर करके उस व्यवस्था को प्रतीकात्मक रूप से शिथिल अवश्य कर देते हैं। हवाईजहाज पर चढ़ते समय एक व्यक्ति अपने सामान के परीक्षण के लिये या एक महत्वपूर्ण व्यक्ति से मिलने के लिये सुरक्षा के लिये किये गये उपायों को सहने के लिये राजी हो जाये, परन्तु फिर भी उसे यह पूर्ण अधिकार है कि वह इन सामाजिक कीमतों के बारे में प्रश्न उठाये। इस प्रकार के प्रतीकात्मक परिवर्तन जो आतंकवाद के परिणामों के कारण होते हैं, उत्तेजित भले ही करें परन्तु उनकी अल्पकालिक प्रकृति सामाजिक आंकलन के लिये निरपवाद रूप से महत्वपूर्ण है। इस प्रकार आतंकवाद का सामाजिक प्रभाव, जो कि दीर्घकालीन आधार पर समाज को संपूर्ण रूप से प्रभावित कर दे, किसी भी विश्लेषणात्मक माप की पद्धति में मुख्य केन्द्र बिन्दु होना चाहिए। इसलिये यह निष्कर्ष

निकाला जा सकता है कि यह मानना कि आतंकवाद समाज को विघटित करता है या व्यवस्था के जीवित रहने पर दुष्प्रभाव डालता है, बहुत सही नहीं होगा।

तथापि, आतंक को रोकने के लिये कुछ तन्त्रों की रचना आवश्यक है। आतंकवाद और राजनैतिक हिंसा आज भारतीय समाज के लिये अभिशाप हो गये हैं। दोनों देश को अराजकता और गर्त की ओर ले जा रहे हैं। आतंकवादी धर्म और क्षेत्र के नाम पर, भाषा और संस्कृति के नाम पर हत्या करते हैं। अब समय आ गया है जब कि व्यक्तियों, में विशेष रूप से युवाओं में, व्यापक कुण्ठा और वंचन की भावना को रोका जाये। एक और सरकार को बहुत कड़े रूप से आतंकवादियों से निबटना है और दूसरी और अल्पसंख्यकों को सुरक्षा प्रदान करनी है और सही प्रजातंत्र के चलने के लिये उपयुक्त वातावरण उत्पन्न करना है।

मादक पदार्थों का दुरुपयोग एवं व्यसन

मादक पदार्थों के दुरुपयोग को न केवल विथगामी व्यवहार के रूप में बल्कि एक 'सामाजिक समस्या' की तरह भी देखा जा सकता है। पहले दृष्टिकोण से इसे व्यक्ति के सामाजिक असमायोजन के प्रमाण के रूप में माना जाता है, जबकि दूसरे दृष्टिकोण से इसे वह सृविस्तृतस्थिति कहा जाता है जिसमें समाज के लिए घातक व क्षतिप्रद परिणाम मिलते हैं। कुछ पश्चिमी देशों में मादक द्रव्यों के सेवन को लम्बे समय से एक महत्वपूर्ण सामाजिक समस्या माना गया है, परन्तु भारत में केवल पिछले कुछ वर्षों से ही इसे घातक वदुःसाध्य सामाजिक समस्या समझा जाने लगा है। अब यह कहा जाता है कि भारत न केवल मादक द्रव्यों का सेवन भी भयोत्पादक रूप में बढ़ रहा है। एक अनुमान के अनुसार भारत में लगभग 2 लाख व्यक्ति हिरोइन दुरुपयोगियों की संख्या का 1989 में 5 लाख से बढ़कर 1990 में 10 लाख तथा 1993 में 12 लाख हो जाना स्पष्ट करता है कि मादक पदार्थों का सेवन कैसे गम्भीर समस्या बनती जा रही है। भारत के मादक द्रव्य तस्करों का घरेलु और अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में केवल हेरोइन का ही मासिक विक्रय 90 और 100 करोड़ रूपयों के बीच माना गया है। 1984 और 1990 के बीच अवैध द्रव्यों का जब्त करना 1,000 गुणा बढ़ गया था। केवल बम्बई में ही (जिसे देश का सब से बड़ा मादक-द्रव्यों के तस्करी का केन्द्र माना गया है) जनवरी 1990 और फरवरी 1994 के मध्य 24.36 करोड़ रुपये का नारकोटिक्स सेल द्वारा जब्त किया गया था। इसी अवधि में 6.42 लाख का अफीम बम्बई पुलिस द्वारा और 11.98 लाख का नारकोटिक्स सेल द्वारा जब्त किया गया था। वर्तमान में अवैध द्रव्यों का सेवन न सिर्फ सड़क के शरारती लड़कों में बल्कि निम्न वर्गीय, मध्य वर्गीय एवं उच्च वर्गीय युवाओं व मध्य-आयु के व्यक्तियों में भी पाया जाता है।

इसके बावजूद, भारत में मादक पदार्थों का दुरुपयोग अभी भी 'असामाजिक' व्यवहार न मान कर 'विपथगामी' व्यवहार ही माना जाता है। इसका अर्थ हुआ कि 'विपथगामी व्यक्ति' समाज के सामाजिक प्रतिमानों का उल्लंघन करता है, प्रतिमानों से विचलन उनकी वैधता को चुनौती दिये बिना करता है और बिना प्रतिमानों में परिवर्तन के लिए सुझाव देकर उनकी अवज्ञा के कारण मिलने वाले दण्ड से बचने का प्रयास करता है। विपथगामी केवल अपने वैयक्तिक हितों को पूरा करने में लगा रहता है। मर्टन ने प्रतिमान उल्लंघन के विभिन्न प्रकारों के महत्व को समझाने की दृष्टि से 'विपथगामी' और 'अ-अनुपालक' व्यवहार में अन्तर बताया है। अ-अनुपालक व्यक्ति प्रतिमाना (लक्ष्य और/या साधन) की वैधता पर आपत्ति करता है तथा वर्तमान प्रतिमानों को सार्वजनिक रूप से स्वीकार करके उन्हें नये प्रतिमानों द्वारा बदलने की सिफारिश करता है। दूसरी और 'विपथगामी' न तो प्रतिमानों की न्यायिकता को चुनौती देता है, और न पुराने प्रतिमानों को नये प्रतिमानों से बदलने

पर बल देता है। इसी अन्तर के आधार पर सामाजशास्त्री भारत में मादक पदार्थों के दुरुपयोग को 'विपथगामी व्यवहार' तथा मादक पदार्थों के सेवन करने वालों तथा व्यसनी को 'विपथगामी' मानते हैं, जो अ-अनुपालकों के विपरीत न तो सामाजिक स्थितियों के सुधार में न ही मानव जाति के लाभ में रुचि रखते हैं। पिछले डेढ़ दश में मादक पदार्थों के दुरुपयोग पर भात में अनेक अनुसन्धान किये गये हैं, परन्तु इनमें से अधिकांश 'समाजशास्त्रियों द्वारा नहीं, अपितु डाक्टरों और मनोरोग चिकित्सकों द्वारा किये गये हैं। 'द्रव्य' की 'अवधारणा' में अन्तर होने के कारण इनके निष्कर्षों में भी अन्तर मिलता है।

मूल अवधारणाएं

द्रव्य, द्रव्य दुरुपयोग, द्रव्य निर्भरता, द्रव्य व्यसन, और उपभोग स्थगन संलक्षण कुछ ऐसी अवधारणाएं हैं जिनकी स्पष्टता आवश्यक है। द्रव्य एक रसायनिक पदार्थ है, जिसके कुछ विशिष्ट शारीरिक और/अथवा मनोवैज्ञानिक प्रभाव होते हैं। यह व्यक्ति के साधारण शारीरिक प्रक्रियाओं व प्रकार्यों को बदलता है। परन्तु यह परिभाषा बहुत व्यापक है। चिकित्सीय संदर्भ में 'द्रव्य' एक वह पदार्थ है जो चिकित्सक द्वारा नुस्खे के रूप में नियत किया जाता है, जिससे वह अपने रासायनिक प्रकृति द्वारा जीवित प्राण की संरचना व प्रकार्यों पर आवश्यक प्रभाव डाल सके। मनोवैज्ञानिक व समाजशास्त्रीय संदर्भों में द्रव्य वह शब्द है, जो उस आदत निर्माण पदार्थ के लिए उपयोग किया जाता है, जो मस्तिष्क व स्नायुमण्डल को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। सुतथ्यतः यह एक रसायनिक पदार्थ को दर्शाता है जो शरीर के कार्य, मनःस्थिति, अनभवजन्यता व चेतना को प्रभावित करता है, जिसमें दुरुपयोग की क्षमता है, और जो व्यक्ति या समाज के लिए हानिकारक हो सकता है। इस परिभाषा के आधार पर द्रव्य का बारम्बार सेवन इतना खतरनाक समझा जाता है और कभी-कभी इतना अनैतिक व असामाजिक माना जाता है कि यह आम जनता में अनेक प्रकार के रोगयुक्त और प्रतिकूल मनोभाव जागृत करता है। परन्तु कुछ द्रव्य सापेक्षिक रूप से अघातक तथा व्यसन रहित होते हैं और उनमें हानिकारक शारीरिक प्रभाव भी नहीं पाये जाते हैं। ऐसे द्रव्यों का उपयोग हेरोइन, कोकीन व एल.एस.डी. जैसे अवैध द्रव्यों के उपयोग से तथा शराब, तम्बाकू, बार्बिट्युरेट व ऐम्फेटामाइन जैसे वैध द्रव्यों के सेवन से सुस्पष्ट विपरीत होता है, क्योंकि यह सभी अवैध और दुरुपयोग किये जानेवाले वैध द्रव्य इनके सेवन करने वाले व्यक्तियों पर स्पष्ट हानिकारक शारीरिक प्रभाव डालते हैं।

द्रव्य दुरुपयोग का अर्थ है अवैध द्रव्य का सेवन तथा वैध द्रव्य का अनुचित प्रयोग जिससे शारीरिक व मानसिक हानि होती है। इसमें गांजा व हशीश का धूम्रपान, हेरोइन, कोकीन व एल.एस.डी. का सेवन, मारफीन का इंजेक्शन लेना, शराब पीना, आदि सम्मिलित हैं। कभी-कभी इसे 'बुलन्द द्रुतगति पर होना' 'आमोद यात्रा' व 'आनन्दोत्कम्प' भी कहा जाता है।

द्रव्य निर्भरता द्रव्य का आदी होना व नित्य सेवन करना सूचित करता है। 'निर्भरता' शारीरिक भी हो सकती है और मानसिक भी। शारीरिक निर्भरता द्रव्य के बार-बार के सेवन से पैदा होती है, जब द्रव्य की उपस्थिति के कारण शरीर अपने को समायोजित करता है। परन्तु इस (द्रव्य) के बन्द कर देने से व्यक्ति दर्द, पीड़ा, उलझन, व्यथा व बीमारी का सामना करता है।

व्यसन शब्द अधिकांश शारीरिक निर्भरता दर्शाता है। अतः 'व्यसन' व 'शारीरिक निर्भरता' एक वह स्थिति है जिसमें शरीर को अपने कार्य संचालन के लिए द्रव्य का निरन्तर सेवन चाहिए। द्रव्य के बन्द कर देने से शरीर के कार्य निष्पादन में हस्तक्षेप होता है तथा द्रव्य में पाये जानेवाले विशिष्ट प्रतिरूप के

अनुसार बन्द होने के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। वंचना के प्रति पूर्ण प्रतिक्रिया को उपभोग स्थगन संलक्षण कहा जाता है।

द्रव्य का दीर्घ स्थायी सेवनकर्ता एक यह विचार विकसित करता है कि वह अपने द्रव्य की मात्रा को निरन्तर बढ़ाता जाये जिससे उसमें वह प्रभाव पैदा हो जो पहला डोज लेते समय हुआ था। इस तथ्य को 'सहनशीलता' कहा जाता है। यह (सहनशीलता) बाहरी पदार्थ की उपस्थिति में शरीर की अपने को अनुकूल करने की क्षमता को दर्शाती है। परन्तु सभी व्यक्तियों में सभी द्रव्यों के लिए सहिष्णुता विकसित नहीं होती, यद्यपि कुछ द्रव्यों के लिए (उदाहरणार्थ मार्फीन) व्यसनी सहनशीलता को शीघ्रतया गठित कर लेते हैं। प्रति-सहनशीलता का अर्थ है कि एक द्रव्य के लिए सहिष्णुता उसी प्रकार के अन्य द्रव्यों के लिए भी सहनशीलता पैदा करती है।

मनोवैज्ञानिक निर्भरता तब उत्पन्न होती है जब व्यक्ति द्रव्य पर उससे उत्पन्न होने वाले सुख की अनुभूति पर निर्भर करने लगता है। मनोवैज्ञानिक निर्भरता के लिए आदी होना शब्द भी प्रयोग किया जाता है। आदी होने और व्यसन में अन्तर यह है कि जितना व्यसन विवशताकारी है, उतनी आदत नहीं है। किसी द्रव्य के लिए व्यसन का अर्थ है कि शरीर उस द्रव्य के विषैले/नशीले प्रभावों पर इतना निर्भर हो जाता है कि उसके बिना वह रह नहीं सकता।

द्रव्य व्यसन के मुख्य लक्षण हैं —

1. द्रव्य लेते रहने की अत्यधिक इच्छा या आवश्यकता तथा उसे किसी भी तरीके से प्राप्त करना,
2. मात्रा बढ़ाने की प्रवृत्ति,
3. द्रव्यों के प्रभावों पर मनोवैज्ञानिक व शारीरिक निर्भरता,
4. व्यक्ति व समाज पर हानिप्रद प्रभाव।

दुरुपयोज्य द्रव्यों की प्रकृति व प्रभाव

दुरुपयोग द्रव्यों को छः श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है, शराब, शामक या शान्तिकर भ्रमोत्पादक पदार्थ और निकोटीन। शराब कुछ लोग सामान्य, सुख बोध व एक सामाजिक क्रिया के रूप में लेते हैं और कुछ इसे एक प्रेरणा/उत्तेजना के रूप में लेते हैं जिससे वे कार्य कर सकें। यह (शराब) एक शामक पदार्थ के रूप में भी कार्य करती है जो नसों को शान्त करती है या फिर एक संवेदनाहारी के रूप में भी कार्य करती है जो जीवन की पीड़ा को कम करती है। शराब तनाव शान्त करती है तथा आक्रमणकारी अवरोध को कम करती है। यह विवेक/निर्णय को कमजोर करती है व उलझन/द्विविधा पैदा करती है। शामक अथवा अवसादक केन्द्रीय स्नायुमण्डल को श्रेणी में आते हैं। चिकित्सीय दृष्टि से ये उच्च रक्तचाप, अनिद्रा व मिरगी के लिए तथा शल्य चिकित्सा के पूर्व और बाद में रोगियों के आराम व शिथिलीकरण के लिए काम में लाये जाते हैं। अवसादक पदार्थ के रूप में ये नसों और मांसपेशियों की क्रियाओं की गति कम करते हैं। छोटी मात्रा में ये सांस लेने व दिल की धड़कन को धीमा करते हैं तथा लेने वाले को शिथिलता का अनुभव कराने परन्तु बड़ी मात्रा में इनके प्रभाव शराब की मादकता से मिलते जुलते हैं, जिनके कारण इस्तेमाल करने वाला आलसी, निष्क्रिय, उदासीन व कभी-कभी चिड़चिड़ा व झगडालू भी बन जाता है। उसके सोचने, काम करने व ध्यान केन्द्रित करने की शक्ति

कम हो जाती है तथा उसका भावात्मक नियंत्रण कमजोर हो जाता है। **उत्तेजक** केन्द्रीय स्नायुमण्डल को क्रियाशील बनाते हैं, तनावों को कम करते हैं, हलके अवसाद का उपचार करते हैं, अनिद्रा पैदा करते हैं (व्यक्ति को जागते रखते हैं), सतर्कता बढ़ाते हैं, थकान और आलस्य व निष्क्रियता का निवारण करते हैं, तथा आक्रमणकारी अवरोध को कम करते हैं। जो उत्तेजक पदार्थ व्यापक रूप से उपयोग किये जाते हैं, वे हैं ऐम्फेटामाइन कैफीन और कोकीन। डाक्टर द्वारा निर्धारित ऐम्फेटामाइन का मध्यम डोज थकान को नियंत्रित करता है तथा फुरती, आत्म-विश्वास व कल्याण की अनुभूति पैदा करता है। परन्तु इसका भारी डोज अति भयावुरता चिड़चिड़ापन, सर-दर्द, पसीना निकलना, दस्त, व अस्पष्ट बोलना पैदा करता है। उत्तेजक द्रव्य अधिकांश मौखिक रूप से लिये जाते हैं, यद्यपि कुछ शिराभ्यन्तर इंजेक्शन द्वारा लिये जाते हैं। ये द्रव्य शारीरिक निर्भरता उत्पन्न नहीं करते यद्यपि ये मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यसनी होते हैं। ऐम्फेटामाइन का दीर्घकालिक भारी उपयोग बौद्धिक, भावात्मक, सामाजिक व आर्थिक विकास की विभिन्न मात्राएं पैदा करता है। इसका अचानक बन्द कर देना मानसिक बीमारी तथा आत्महत्याजन्य अवसाद पैदा करता है। **तन्द्राकर पदार्थ** शामकों की तरह केन्द्रीय स्नायुमण्डल पर अवसादक प्रभाव पैदा करते हैं। ये आनन्द, सामर्थ्य, हिम्मत व श्रेष्ठता की भावनाएं उत्पन्न करते हैं, भूख कम करते हैं, संकोचों को दूर करते हैं तथा सुझावग्राहिता बढ़ाते हैं। इस श्रेणी में अफीम, हेरोइन (स्मैक, ब्राउन शुगर, मारिजुआना, मारफीन, पैथेडीन, कोकीन सभी के अफीम के रूप) तथा कैनाबिस (चरस, गांजा, भांग) सम्मिलित किये जाते हैं। हिरोइन सफेद पाउडर है जो मार्फीन से बनाया जाता है, कोकीन कोकाबुश की पत्तियों से बनाया जाता है और गन्धहीन होता है, गांजा व चरस हेम्प पौधे से प्राप्त किये जाते हैं, और मारिजुआना कैनाबिस का एक विशेष रूप है। हिरोइन, मार्फीन, पैथेडीन और कोकीन या तो कश के रूप में लिये जाते हैं, या फिर तरल पदार्थ के रूप में इंजेक्शन द्वारा। अफीम और मारिजुआना धूम्रपान, नाक से ऊपर खींचने, या अन्तरग्रहण द्वारा लिये जाते हैं। **भ्रमोत्पादक पदार्थ** अनुभूति में विकृति (यानि कि व्यक्ति चीजों को उनके वास्तविक रूप में न देख-सुन कर उन्हें नये तरीके से ही देखता-सुनता है) व स्वप्न आकृतियां पैदा करते हैं। डाक्टर इनके सेवन की कभी सलाह नहीं देते। इस श्रेणी में मुख्य द्रव्य एल.सी.डी. है जो व्यक्ति द्वारा निर्मित रासायनिक पदार्थ है। यह इतना शक्तिशाली होता है कि एक तोले से इसके तीन लाख डोज बनाये जाते हैं। नमक के दाने से भी इसकी छोटी मात्रा मनुष्यों में अत्यधिक मनोरोगम्य प्रतिक्रियाएं पैदा कर सकती हैं। एल. एस.डी. को छोटे सफेद गोली के रूप में, क्रिस्टली पाउडर के कैप्सूल में, अथवा तरल पदार्थ में छोटी शीशी में उपलब्ध किया जा सकता है। अधिकांश एल.एस.डी. को मौखिक रूप से लिया जाता है, परन्तु इसे इंजेक्शन द्वारा भी लिया जाता है। एल.एस.डी. के औसत डोज का प्रभाव 8 से 10 घंटे तक रहता है। इसके सेवन को बन्द करने का प्रयास अतिभय, अवसाद, व स्थायी तीव्र मानसिक असंयम पैदा कर सकता है। **निकोटीन** में सिगरेट, बीड़ी, सिगार, चुरुट, नास व तम्बाकू सम्मिलित होते हैं। इनका कोई चिकित्सीय उपयोग नहीं होता। परन्तु शारीरिक निर्भरता का जोखिम इनमें अवश्य होता है। निकोटीन शिथिलन पैदा करती है, केन्द्रीय स्नायुमण्डल को उत्तेजित करती है, जागरण को बढ़ाती है तथा उबाऊपन को दूर करती है। परन्तु इसका, अधिक व भारी सेवन, दिल की बीमारी, फेफड़े का कैंसर, व श्वास नली शोथ पैदा कर सकता है। कानून इसे द्रव्य के रूप में वर्गीकृत नहीं करता। उत्तेजक, अवसादक, तन्द्राकर व भ्रमोत्पादक पदार्थों को मनोक्रियाशील पदार्थ भी कहा जाता है।

मादक द्रव्यों के दुरुपयोग की मात्रा व प्रकृति

अवैध द्रव्यों का सेवन तथा वैध द्रव्यों का दुरुपयोग देश में कितना फैला हुआ है? भारत की जनसंख्या

में तीन निम्नलिखित विभिन्न खण्डों में किये गये आनुभाविक अध्ययन द्रव्यों का प्रचलन दर्शाते हैं :

1. कॉलेज/विश्वविद्यालय व उच्च माध्यमिक स्कूलों के विद्यार्थियों
2. औद्योगिक श्रमिकों
3. ग्रामवासियों।

1991 में अन्तर्राष्ट्रीय नारकोटिक्स कंट्रोल बोर्ड द्वारा प्रकाशित की गयी एक संयुक्त राष्ट्रीय सर्वेक्षण रिपोर्ट के अनुसार 1990 में मादक-द्रव्यों का सेवन जब कुछ विकसित देशों में कम हुआ, कुछ विकासशील देशों में बढ़ गया। इस सर्वेक्षण के अनुसार रूस में द्रव्य दुरुपयोगियों की विशेष कर गांजा, चरस सेवन करने वालों की संख्या पिछले पांच वर्षों में लगभग दुगुनी होकर, 1,40,000 तक पहुंच गयी। यूरोप में हिरोइन का सेवन लगभग नगण्य रहा परन्तु कोकीन का सेवन बढ़ गया। उत्तर अमरीका और कैनाडा में गांजा व चरस और कोकीन की मांग काफी रही। 18-29 आयु समूह की महिलाओं में मादक द्रव्यों का सेवन भयोत्पादक रूप से बढ़ गया। अमरीका में 1990 में मादक द्रव्य दुरुपयोग का सामाजिक और आर्थिक खर्च प्रति वर्ष 60 बिलियन डालर आंका गया था। परन्तु साथ में आरोपणीय मृत्यु दर व अस्पतालों में भर्ती के आधार पर यह भी कहा गया कि हिरोइन और कोकीन का उपयोग कम होता जा रहा है। अफ्रीका में पिछले कुछ वर्षों में मादक द्रव्यों का सेवन पूरे महाद्वीप में फैल गया है। दक्षिण अफ्रीका में हिरोइन की आसानी से उपलब्धि के कारण इसका दुरुपयोग काफी अधिक हो गया है। पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में 1988-89 में 1987-88 की अपेक्षा अफीम का उत्पादन दुगुना हो कर लगभग 2,000 टन हो गया तथा 1990-91 में भी इतना ही ऊंचा स्तर रहा। चीन में दक्षिण सीमावर्ती क्षेत्रों में पाया जाने वाला हिरोइन का दुरुपयोग अन्य भागों में भी फैल रहा है। जापान में कोकीन का जब्त करना पांच गुणा बढ़ गया है। मलेशिया में हिरोइन का दुरुपयोग बहुत पाया जाता है तथा इसके व्यसनियों की संख्या लगभग एक लाख आंकी गयी है। ब्रैगकांक में हिरोइन के व्यापक दुरुपयोग के साथ एड्स भी फैल रहा है, परन्तु नये पंजीकृत दुरुपयोगियों की संख्या कम हो रही है। आस्ट्रेलिया में हिरोइन व्यसनियों की संख्या का अनुमान 90,000 और 1,30,000 के बीच लगाया गया है। दक्षिण एशिया में बंगलादेश में मादक द्रव्यों का सेवन इतना बढ़ गया है कि वहां की राजधानी ढाका में ही 50,000 दुरुपयोगियों की संख्या आंकी गयी है। भारत में भी प्रमुख शहरों में मादक पदार्थों के सेवनकर्ताओं की संख्या में वृद्धि मिल रही है।

मोटे आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि पूर्ण रूप से विचार किया जाये तो मादक द्रव्यों के दुरुपयोग की पूर्ववृत्ति उन व्यक्तियों में मिलती है—

1. जिनको मर्दानी भूमिका निभाने में कठिनाई है,
2. जिनमें प्रभावहीनता की भावना, असफलता की आशंका, व सामान्य अवसाद अधिक मिलता है,
3. जो आसानी से हताश व कुण्ठित हो जाते हैं एवं अधिकांश: व्याकुल रहते हैं, और
4. जो नैराश्य और चिन्ताओं को असहनीय पाते हैं।

द्रव्य दुरुपयोग की अभिप्रेरणा

मादक पदार्थों के दुरुपयोग के कारण क्या हैं ? कारणों को चार श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है —

1. मनोवैज्ञानिक कारण जैसे तनाव को कम करना, अवसाद को शान्त करना, अर्न्तबाधाओं को हटाना, कौतूहल को पूरा करना, खिन्नता और ऊब को दूर करना, तथा अनुभूति को तीव्र करना।
2. सामाजिक कारण, जैसे सामाजिक अनुभवों को सुसाध्य बनाना, मित्रों द्वारा स्वीकार किया जाना, तथा सामाजिक मूल्यों को चुनौती देना।

3. शारीरिक कारण, जैसे, जागते रहना, कामुक अनुभवों को उभारना, पीड़ा निवारण, और नींद पा लेना।
4. विविध कारण जैसे, अध्ययन को उत्कृष्ट बनाना, धार्मिक अन्तर्दृष्टि तेज करना, आत्म-समझदारी बढ़ाना तथा व्यक्तिगत समस्याएं हल करना, आदि।

विस्तृत विश्लेषण ने यह स्पष्ट करता है कि –

1. द्रव्य सेवन करने वालों में सर्वाधिक संख्या उनकी है जो आमोद-प्रमोद के प्रति समर्पित है तथा सनसनीखेज और तीव्र अनुभव की खोज में रहते हैं,
2. कुछ छुटकारा पाने के कारण व व्यथा कम करने के कारण द्रव्य लेते हैं, और
3. बहुत थोड़े से वे हैं जिन्होंने पीड़ा से छुटकारा पाने के लिए चिकित्सीय उपचार में जो द्रव्य लेने आरम्भ किये थे उनको उपचार समाप्ति बाद भी लेते रहते हैं।

इन निष्कर्षों के आधार पर हम मनोरोग-चिकित्सकों के इस विचार पर आपत्ति जता सकते हैं कि मादक द्रव्यों के सेवनकर्ता एक ऐसा व्यक्तित्व प्रदर्शित करते हैं जिस में प्रबल निर्भरता की आवश्यकताएं एवं अक्षमता व अपर्याप्तता की अधिघोषित अनुभूतियां पायी जाती हैं। यहां पर यह स्पष्ट करना तथ्य से दूर नहीं होगा कि आलफ्रेड लिन्डस्मिथ ने भी मनोरोगमय व्यक्तित्व अथवा मनोविकृतिमय प्रवृत्ति के सिद्धान्त की आलोचना की है। द्रव्य दुरुपयोग एक सीखा हुआ व्यवहार है जो व्यक्तियों द्वारा मित्रों जान-पहचान के लोगों परिवार के सदस्यों और अन्य लोगों से अन्तःक्रिया द्वारा सीखा जाता है। समझाने-बुझाने द्वारा, अचेतन अनुकरण द्वारा, और ध्यान प्रवण चिन्तन द्वारा। द्रव्य प्राप्त करने के निम्न साधनों हो सकते हैं :

1. मादक द्रव्य अधिकांशतः गैर-मेडिकल साधनों से (मित्र, परिचित व्यक्ति, परिवार के सदस्य आदि) प्राप्त किये जाते हैं,
2. मेडिकल साधनों से द्रव्य लड़कों की अपेक्षा लड़कियों द्वारा अधिक प्राप्त किये जाते हैं, और
3. गैर मेडिकल साधन में मित्र सब से अधिक उल्लेखित व्यक्ति पाया जाता है।

द्रव्य दुरुपयोग के कारणों के विश्लेषण की तरह 'द्रव्य-त्याग' के कारणों का विश्लेषण करना भी आवश्यक है, यानि कि, सेवन न करने वाले व्यक्ति मादक द्रव्य क्यों नहीं लेते ? जो पहले द्रव्य लेते थे उन्होंने मादक-द्रव्य लेना क्यों छोड़ दिया ? युवाओं के अध्ययन से द्रव्य-त्याग और द्रव्य लेना बन्द करने के निम्न कारण प्राप्त हुए व्यक्तिगत (49.3 प्रतिशत), शारीरिक (23.8 प्रतिशत), सामाजिक (22.3 प्रतिशत) और आर्थिक (4.1 प्रतिशत) व्यक्तिगत कारणों में निम्न कारण सम्मिलित थे रुचि/जिज्ञासा का अभाव, द्रव्य के लिए व्यक्तिगत अरुचि या घृणा और द्रव्य की असुलभता व अनोपलब्धता, शारीरिक कारणों में निम्न कारण सम्मिलित थे शारीरिक/मानसिक खतरों का जोखिम अथवा बिगड़ता हुआ स्वास्थ्य, द्रव्य पर निर्भरता का क्षतिभय, और 'आमोद यात्रा' पर रहने का खराब अनुभव, सामाजिक कारण थे मित्रों का दबाव, माता-पिता का प्रभाव, सामाजिक तिरस्कार का खतरा, धार्मिक कारण था नैतिक सिद्धान्त और आर्थिक कारण था व्यक्ति को या तो द्रव्य खरीदने के लिए पैसे नहीं थे या उसके लिए द्रव्य बहुत महंगे थे।

मादक द्रव्यों के सेवनकर्ताओं के अधिक परिवार 'सामान्य' नहीं होते हैं तथा पारिवारिक सम्बन्ध भी 'स्नेहपूर्ण' नहीं होते हैं। द्रव्य उपयोग और माता-पिता से दूर रहने के मध्य सम्बन्ध के परीक्षण से ज्ञात हुआ कि द्रव्य-सेवन में माता-पिता के साथ निवास उतना ही महत्वपूर्ण है जितना छात्रावास में आवास। दूसरे शब्दों में, द्रव्य दुरुपयोग में परिवार की पृष्ठभूमि महत्वपूर्ण है। बच्चों के मादक द्रव्यों के संसार में प्रवेश करने

के झुकाव में परिवार नियंत्रण की प्रकृति, माता-पिता द्वारा बच्चों पर अनुशासन, माता-पिता द्वारा बच्चों के मित्रों, अवकाश संबंधी क्रियाओं व उनके जीवनक्रम के भविष्य में रुचि लेना व माता-पिता में बच्चों के प्रति उत्तरदायित्वों की चेतना, बहुत उत्कृष्ट कारक हैं। परिवार के सदस्यों का शराब पीने, धूम्रपान करने व मादक द्रव्यों का सेवन करने सम्बन्धी व्यवहार बच्चों द्वारा द्रव्य लेने पर असर डालता है। यह कहा जा सकता है कि मादक द्रव्यों के सेवन में परिवार का पर्यावरण एक मुख्य कारक है। परिवार की तरह मित्र-समूह का दबाव भी मादक द्रव्य दुरुपयोग में प्रभावी है। मादक द्रव्य सेवनकर्ताओं में लगभग 81.0 प्रतिशत ऐसे मादक द्रव्य सेवनकर्ता थे जो मित्रों द्वारा ही मादक द्रव्य सेवन में दीक्षित किये गये थे। लगभग 31.0 प्रतिशत मादक द्रव्य सेवनकर्ता ऐसे थे जो मित्रों के साथ ही मादक द्रव्य लेते थे। लगभग 63 प्रतिशत मादक द्रव्य सेवनकर्ताओं को मादक द्रव्यों के बारे में पहला ज्ञान मित्रों से ही प्राप्त हुआ था और 17 प्रतिशत ने मादक द्रव्य का पहली बार सेवन मित्र के घर में किया था। इस सब में स्पष्ट है कि मादक द्रव्य सेवन सम्बन्धी व्यवहार पर मित्र-समूह संस्कृति का प्रमुख प्रभाव है।

विवेचित के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मादक द्रव्य दुरुपयोग के मुख्य कारण निम्न हैं — दोषपूर्ण पारिवारिक पर्यावरण, हीन मानसिक अवस्था, दमनात्मक सामाजिक व्यवस्था व सत्ता संरचना, जैसे, सामाजिक कारक, विचलित उप-संस्कृतियां (कच्ची बस्तियां, कालेज/छात्रावास उपसंस्कृति), मित्र-समूह दबाव, व्यक्तित्व कारक (निर्भर व्यक्तित्व), और आमोद-प्रमोद व परिहास का अनुसरण।

कारण सम्बन्धी सिद्धान्त

मादक द्रव्यों के दुरुपयोग के कारण-सम्बन्धी सिद्धान्तों को चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है, शारीरिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और समाजशास्त्रीय।

‘शारीरिक’ सिद्धान्त के अनुसार, व्यक्ति शारीरिक दोषों व रोगों के कारण एवं द्रव्य के रासायनिक लक्षणों पर शारीरिक अनुकूलन की वजह से मादक द्रव्यों का सेवन करते हैं। मोरडोन्स, स्लिकवर्थ, रैन्डाल्फ और निमविच वे विद्वान हैं, जिन्होंने मादक द्रव्यों का सेवन रासायनिक प्रतिक्रियाओं के संदर्भ में समझाया है। परन्तु यह सिद्धान्त यद्यपि 1910 और 1920 के दशकों में विस्तृत रूप से स्वीकार किया गया था, वर्तमान में इसे तब से अपर्याप्त माना जाता है जब से आनुभविक अध्ययनों ने मादक द्रव्य सेवनकर्ताओं के मनोवैज्ञानिक व समाजशास्त्रीय लक्षणों की द्रव्य-सेवन में भूमिका की ओर ध्यान दिलवाया है।

मनोवैज्ञानिकों ने मादक द्रव्य-सेवन व द्रव्य-निर्भरता को मुख्यतः, ‘प्रबलीकरण’ सिद्धान्त, ‘व्यक्तित्व’ सिद्धान्त, ‘शक्ति’ सिद्धान्त व ‘क्षीण स्व’ सिद्धान्त के आधार पर समझाया है। ‘प्रबलीकरण’ सिद्धान्त में अब्राहम विलकर ने बताया है कि मादक द्रव्यों की सुखद अनुभूतियां उनके उपयोग को बढ़ावा देती हैं। ‘व्यक्तित्व’ सिद्धान्त ने मादक पदार्थों के सेवन को मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति अथवा कुछ मनोवैज्ञानिक दोषों/कमजोरियों के लिए क्षतिपूर्ण करने के आधार पर समझाया है। यह (सिद्धान्त) मादक द्रव्य निर्भरता से जुड़े हुए कुछ विशिष्ट व्यक्तित्व सम्बन्धी लक्षणों की चर्चा करता है तथा द्रव्य-निर्भरता के कारण में निर्भर व्यक्तित्व सम्बन्धी लक्षणों की चर्चा करता है। चेन, नाइट और राबर्ट फ्रीड बेल्स जो इस सिद्धान्त के मुख्य समर्थक हैं, की मान्यता है कि निर्भर व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों को दूसरों से भावात्मक समर्थन व ध्यान चाहिए और इनके अभाव में वे उसे मादक द्रव्यों के सेवन से स्थानापन्न करते हैं। चेन ने न्यूयार्क में नारकोटिक्स के अध्ययन में पाया कि जिन व्यक्तित्व लक्षणों वाले व्यक्ति मादक पदार्थों को सेवन करते हैं, वे लक्षण हैं — निष्क्रियता, निम्न

आत्माभिमान, आत्म-निर्देशन की सीमित क्षमता, अन्य व्यक्तियों में अविश्वास, कुण्ठाओं और तनावों का सामना करने में कठिनाई, पौरुषी पहचान की अपर्याप्तता तथा बचपन के संघर्षों के समाधान की असफलता। डेविड मैक्लेलैण्ड ने 'व्यक्तित्व' सिद्धान्त को चुनौती देते हुए 'शक्ति सिद्धान्त' प्रस्तुत किया है जिसके आधार पर उसने द्रव्य दुरुपयोग (शराब) को व्यक्ति की शक्ति-आवश्यकता की अभिव्यक्ति के संदर्भ में समझाया है। हल्का और कभी-कभी शराब पीने वाले व्यक्ति को शराब पीने से बढ़ी हुई सामाजिक शक्ति की अनुभूति मिलती है, जबकि भारी शराबी को बढ़ी हुई व्यक्तिगत शक्ति की अनुभूति मिलती है। क्षीण स्व सिद्धान्त अथवा 'भय' सिद्धान्त में स्टैन्टन पीले ने कहा है कि मादक द्रव्यों का व्यसन आधुनिक जीवन की परिस्थितियों में भय और असुरक्षा की अनुभूतियों के कारण है।

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की मान्यता है कि परिस्थितियाँ अथवा सामाजिक पर्यावरण व्यक्ति को मादक द्रव्यों का व्यसनी बनाते हैं। सदरलैण्ड के विभिन्न सम्पर्क सिद्धान्त के आधार पर यदि मादक द्रव्य सेवन समझाया जाये, तो उसके अनुसार मादक द्रव्यों का लेना दूसरे व्यक्तियों से सीखा हुआ व्यवहार है, विशेष रूप से छोटे घनिष्ठ समूहों से। सामाजिक सीखने का सिद्धान्त जो कि विभिन्न सम्पर्क सिद्धान्त और प्रबलीकरण सिद्धान्त का विस्तृत रूप है, एकर्स और बर्जेस द्वारा प्रतिपादित किया गया था। 'प्रबलीकरण' सिद्धान्त यह मानता है कि मादक द्रव्यों पर निर्भरता मात्र एक प्रतिबद्ध सीखना है, सामाजिक सीख का सिद्धान्त सीखने की प्रक्रिया में कार्य करने वाले बल्युक्तकर्ता जोर देने वालों के सामाजिक स्रोतों का मूल्यांकन करता है। प्रबलीकरण उन व्यक्तियों के सम्पर्क से होता है जो मादक द्रव्य सेवन के पक्ष में होते हैं। तनाव सिद्धान्त व्यक्तियों पर उस जोरदार दबाव पर बल देता है जो उन्हें आन्तरीकृत प्रतिमानों से विचलित होने के लिए बाध्य करते हैं। मर्टन के अनुसार इस दबाव का स्रोत लक्ष्यों और साधनों के बीच संगति है। जो व्यक्ति अपने लक्ष्यों को वैध साधनों द्वारा प्राप्त नहीं कर पाते वे इतने हताश हो जाते हैं कि शराब और अन्य मादक द्रव्यों का सेवन करना आरम्भ कर देते हैं। मर्टन उन्हें 'पलायनवादी' कहता है। 'उप-संस्कृति' सिद्धान्त के अनुसार समाज में विभिन्न समूह विभिन्न प्रकार के प्रतिमानों से समाजीकृत होते हैं और 'विचलन' वह निर्णय है जो बाहरी समूह द्वारा थोपा जाता है। अतः जो व्यवहार विचलित दिखाई देता है, वह वास्तव में एक समूह द्वारा ग्रहण किये गये प्रतिमानों के प्रति अनुरूपता है जो (प्रतिमान) अन्य समूह द्वारा अस्वीकार किये गये हैं। इस प्रकार मादक द्रव्यों का सेवन युवा और व्यसनियों की उप-सांस्कृतिक मूल्यों में संघर्ष का परिणाम है।

मादक पदार्थों की तस्करी पर रोकथाम, व्यसनियों के उपचार एवं द्रव्य दुरुपयोग की रोकथाम के लिए उपाय

पिछले दो दशकों में भारत-मादक पदार्थों की तस्करी में वृद्धि की समस्या का सामना कर रहा है, विशेष कर हिरोइन और हशीश की मध्य-पूर्वी क्षेत्र से पश्चिमी देशों में पारगमन तस्करी की समस्या। इस पारगमन परिचलन के कारण बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता और मद्रास जैसे महानगर ड्रग्स की तस्करी के लिए सुविधायुक्त क्षेत्र बन गये हैं। 1988 में भारत में पूरे संसार में हिरोइन की सर्वाधिक मात्रा (लगभग 3,000 किला) पकड़ी गयी थी। यह मात्रा 1987 में जब्त की गयी मात्रा से 10 प्रतिशत अधिक, 1986 में पकड़ी गयी मात्रा से 60 प्रतिशत अधिक, 1985 में पकड़ी गयी मात्रा से तीन गुणा, 1984 में पकड़ी गयी मात्रा से 12 गुणा, और 1983 में पकड़ी गयी मात्रा से 18 गुणा अधिक थी। पकड़ी गई अफीम की मात्रा 1987 में 2,929 किलो, 1988 में 3,100 किलो, 1989 में 4,855 किलो, और 1990 में 1,427 किलो थी। जब्त की गई हशीश की मात्रा 1987 में 14,786 किलो, 1988 में 17,523 किलो, 1989 में 8,000 किलो, और 1990 में 5,0000 किलो थी। भारत में हिरोइन स्थानीय स्रोतों

से 70,000 रुपये एक किलोग्राम के भाव से खरीदी जाती है, जब कि तस्कर इसे 3.9 लाख रुपये एक किलोग्राम (अथवा, 15,000 डालर एक किलोग्राम) के भाव से बेचते हैं। भारत में एक वर्ष में सभी मादक पदार्थों का व्यापार लगभग 2,000 करोड़ रुपये का अनुमान लगाया गया है।

मादक पदार्थों की तस्करी का 'लाभ' अधिकांश इस प्रकार खर्च किया जाता है—

1. राजनीतिज्ञों की वित्तीय सहायता करने तथा अधिकारी तन्त्र, न्यायपालिका, पुलिस, जेल, व समाचार-पत्रों के मताग्रहों को विकसित करने के लिए,
2. रुपये को उन कवच निगमों में लगाने के लिए जो वैध व्यवसायी संगठनों को खरीद प्रभार कर लेते हैं,
3. आतंकवाद फैलाने हेतु हथियार खरीदने के लिए
4. आतंकवादी क्रिया के लिए गुप्तचर एजेंसियों द्वारा द्रव्य-तस्करों की सहायता लेना। वास्तविकता यह है कि यह सभी 'लाभ' प्रजातन्त्रीय प्रक्रिया के विनाश के लिए ही प्रयोग किया जाता है।

सरकार ने मादक पदार्थों की तस्करी की रोकथाम के लिए जो विभिन्न उपाय अपनाये हैं उनमें से एक था 1985 में नया कानून बनाना जिसका नाम था "द नारकोटिक ड्रग्स व साइकोट्रापिक सब्सटेंसिज एक्ट"। यह कानून नवम्बर 14, 1985 से लागू किया गया था। इस कानून के उल्लंघन के लिए दण्ड के रूप में दस वर्ष कठोर कारावास जो 20 वर्ष तक भी बढ़ाया जा सकता है, और एक लाख रुपये जुर्माना, जो दो लाख तक भी बढ़ाया जा सकता है, निर्धारित किया गया है। पुनः अपराध के लिए यह कानून 15 वर्ष का कठोर कारावास, जिसे 30 साल तक भी बढ़ाया जा सकता है, और 1.5 लाख रुपये जुर्माना, जिसे तीन लाख तक बढ़ाया जा सकता है, प्रस्तावित करता है। न्यायालयों को यह अधिकार भी दिया गया है कि यदि वे चाहें तो कारण स्पष्ट करते हुए निर्धारित सीमा से अधिक जुर्माना भी लागू कर सकते हैं।

इस कानून में व्यसनियों से संबंधित भी कुछ प्रावधान हैं। किसी नारकोटिक ड्रग अथवा मनोचिकित्सय पदार्थ को थोड़ी सी मात्रा में वैयक्तिक प्रयोग के लिए अवैध रूप में रखने के कारण एक साल का कारावास या जुर्माना या दोनों दिये जा सकते हैं। यह कानून अदालत को व्यसनी को छोड़ने का अधिकार भी देता है जिससे वह अस्पताल या सरकार द्वारा माननीय संस्था में निर्विषीकरण या व्यसनरहितता के लिए चिकित्सीय उपचार ले सके। इसके लिए कानून सरकार से यह आशा करता है कि व्यसनियों की पहचान, उपचार, शिक्षा, उत्तर-रक्षा पुनःस्थापन, व पुनः एकीकरण के लिए जितने केन्द्र स्थापित कर सकती है, उतने करे। परन्तु भारत में व्यसनरहितता प्रोग्राम सफल नहीं हो पाया है। पिछले सात वर्षों में प्रोग्राम में प्रगति सम्बन्धी रिकार्ड यह बताते हैं कि पंजीकृत व्यसनियों में से 65 प्रतिशत से 75 प्रतिशत का उपचार नहीं किया जा सका है यद्यपि 1993 के आरम्भ तक देश में कुल 254 केन्द्र व्यसनियों के परामर्श, व्यसनरहितता, उत्तर-रक्षा, व पुनःस्थापन के लिए थे। भारत सरकार के कल्याण मंत्रालय ने मादक द्रव्य दुरुपयोग की रोकथाम के लिए चेतना उत्पन्न करने हेतु स्वैच्छिक कार्यवाई संचालित करने के लिए एक नीति विकसित की है। बहुत से स्वैच्छिक संगठनों को लोगों को मादक द्रव्यों के व्यसन के घातक प्रभाव बताने के लिए वित्तीय समर्थन दिया जा रहा है। परामर्श और व्यसनरहितता सुविधाएं जुटाने के लिए भी फण्ड दिये जाते हैं। सामाजिक रक्षा राष्ट्रीय संस्थान भी सरकारी और गैर-सरकारी एजेंसियों के कार्यकर्ता को मादक द्रव्य दुरुपयोग की रोकथाम के लिए प्रशिक्षण देता है।

कुछ राज्य सरकारों ने विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के लिए विशेषकर छात्रावासियों के लिए, शराब और मादक द्रव्य दुरुपयोग के विरुद्ध एक विशेष सतर्कता पैदा करने हेतु प्रोग्राम बनाये हैं। स्वैच्छिक क्षेत्र में भी विभिन्न

शहरों में परामर्श और मार्गदर्शन केन्द्र स्थापित किये गये हैं। ये केन्द्र उपचार के स्रोतों के बारे में सूचना देने पुनःस्थापन में लगी एजेंसियों के साथ समन्वय स्थापित करने, तथ्य एकत्रित करने, ज्ञान फैलाने, प्रवर्तन एजेंसियों के साथ सम्पर्क रखने, तथा व्यक्तिगत व सामूहिक चिकित्सा के लिए आवश्यक मनोवैज्ञानिक सहायता देने का कार्य करते हैं।

मादक द्रव्य दुरुपयोग पर नियन्त्रण

मादक द्रव्यों के दुरुपयोग पर निम्न उपाय अपना कर नियन्त्रण किया जा सकता है—

- 1. मादक द्रव्यों के बारे में शिक्षा देना** — रोकथाम सम्बन्धी शैक्षणिक उपायों के लिए लक्ष्य जनसंख्या कालेज/विश्वविद्यालय के युवा छात्र, विशेष कर छात्रवासों में तथा माता-पिता के नियन्त्रण से दूर रहने वाले छात्र, कच्ची बस्तियों में रहने वाले लोग औद्योगिक श्रमिक, ट्रक-चालक व रिक्शा चालक होने चाहिए। शिक्षा देने की विधि ऐसी होनी चाहिए कि लोग अपने को सक्रिय रूप से उनमें जोड़े और मूल्यवान सूचना का मुक्त आदान-प्रदान हो सके। वह शिक्षा अधिक प्रभावशाली होगी जो व्यक्तियों को कृत्रिम सुख भ्रान्ति के बारे में अयर्थाथ और भ्रामक सूचना त्यागने में सहायक होगी तथा भावदशा-परिवर्तित द्रव्यों के शारीरिक व मनोवैज्ञानिक प्रभावों, उनके औषधीय लक्षणों और चिकित्सीय लाभों के बारे में अधिकृत तथ्य प्राप्त करने में मदद करेगी। माता-पिता यह शिक्षा देने में मुख्य भूमिका निभा सकते हैं।
- 2. चिकित्सकों की अभिवृत्तियों को बदलना** — डाक्टरों द्वारा बहुत से द्रव्यों के औषध-निर्देश देने संबंधी अभिवृत्तियों में परिवर्तन मादक द्रव्यों के दुरुपयोग नियंत्रण में बहुत सहायता कर सकता है। डाक्टरों को द्रव्यों के अतिरिक्त प्रभावों की अवहेलना न करने में विशेष सतर्कता अपनानी होगी। यद्यपि द्रव्य उपचार में सहायता करते हैं, किन्तु उन पर अधिक निर्भरता के खतरे बहुत गम्भीर हैं। एक बार जब रोगी को डाक्टर से पीड़ा व रोग की चिकित्सा के लिए औषध-पत्र मिल जाता है, तो वह डाक्टर से परामर्श करना बन्द कर देता है और जब भी वह उस पीड़ा/रोग को पुनः अनुभव करता है, तब वह पहले वाले निर्धारित द्रव्यो को अंधाधुंध व असीमता से लेता रहता है। इस प्रकार लोग चिकित्सक के स्थान पर औषध-प्रयोग पर अधिक निर्भर करने लगते हैं जो अन्ततः भयंकर होता है।
- 3. अनुपरीक्षण अध्ययन करना** — निर्विषीकरण प्रोग्राम के अन्तर्गत उपचार किये गये व्यसनियों का अनुपरीक्षण अध्ययन अति आवश्यक है।
- 4. षडयन्त्रियों को प्रतिरोधक दण्ड देना** : पुलिसकर्मी और अन्य कानून लागू करने वाले व्यक्ति जो मादक द्रव्य बेचने वालों के साथ षडयन्त्र में पाये जाते हैं, उन्हें प्रतिरोधक दण्ड देना बहुत जरूरी है।
- 5. माता-पिता की महत्वपूर्ण भूमिका** — बच्चों के मादक द्रव्यों के प्रयोग पर नियन्त्रण में माता-पिता की भूमिका महत्व की है। द्रव्य-व्यसन में क्योंकि माता-पिता की उपेक्षा, अधिक विरोध व वैवाहिक असामंजस्य प्रमुख कारण हैं, अतः माता-पिता को पारिवरिक पर्यावरण को अधिक प्रेरक व सामंजस्यपूर्ण रखने में अधिक सावधानी अपनानी चाहिए। व्यसन क्योंकि एक रात में ही पैदा नहीं होता और इसके उद्द्विकास की प्रक्रिया में अध्ययन व अभिरुचियों आदि क्रियाओं में रुचि की कमी, घबराहट की मुखाकृति आदि जैसी क्रियाएं दिखाई देने लगती है, अतः माता-पिता सतर्क रह कर इन चिन्हों का पता कर सकते हैं और बच्चों को द्रव्य दुरुपयोग से अलग करवा सकते हैं।

ड्रग सेवन विरोधी अभियान, मादक वस्तुओं को आपरेशन ब्लैक गोल्ड जैसे अभियानों से पुलिस द्वारा जब्त करना, ड्रग्स तस्करी करने वालों को गिरफ्तार करना, आदि जैसे उपाय उन युवकों में नशे का प्रचलन कम करेंगे जो हेरोइन, स्मैक, ब्राऊन शुगर, अफीम, गांजा, अदि के आदी हो कर अपना जीवन बरबाद कर रहे हैं। ड्रग्स की समस्या के समाधान के लिए ये उपाय निरर्थक नहीं होंगे।

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा

आजकल शायद ही कोई विषय सामाजिक विज्ञानों में शोधकर्ताओं, केन्द्रीय और राज्य सरकारों, योजना दलों और सुधारकों का ध्यान इतना आकृष्ट करता हो जितना कि महिलाओं की समस्याएं। महिलाओं की समस्याओं के अध्ययन के उपागम वृद्ध-विज्ञान (वृद्ध होने की प्रक्रियाओं का अध्ययन) के अध्ययन से लेकर मनोरोग विज्ञान और अपराध विज्ञान तक होते हैं। परन्तु महिलाओं से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण समस्या जिस पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है और जिससे बचा गया है, वह है महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की समस्या।

महिलाओं का उत्पीड़न

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की समस्या कोई नई नहीं है। समाज में महिलाएं इतने लम्बे काल से अवमानना, अत्याचार और शोषण का शिकार रही हैं जितने काल के हमारे पास सामाजिक संगठन और पारिवारिक जीवन के लिखित प्रमाण उपलब्ध हैं। आज शनैः शनैः महिलाओं को पुरुषों के जीवन में महत्वपूर्ण, प्रभावशाली और अर्थपूर्ण सहयोगी माना जाने लगा है, परन्तु कुछ दशक पहले तक उनकी स्थिति दयनीय थी। विचारधाराओं, संस्थागत रिवाजों, और समाज में प्रचलित प्रतिमानों ने उनके उत्पीड़न में काफी योगदान दिया है। इनमें से कुछ व्यावहारिक रिवाज आज भी पनप रहे हैं। स्वाधीनता के पश्चात हमारे समाज में महिलाओं के समर्थन में बनाये गये कानूनों, महिलाओं में शिक्षा के फैलाव और महिलाओं की धीरे-धीरे बढ़ती हुई आर्थिक स्वतन्त्रता के बावजूद असंख्य महिलाएं अब भी हिंसा की शिकार हैं। उनको पीटा जाता है, उनका अपहरण किया जाता है, उनके साथ बलात्कार किया जाता है, उनको जला दिया जाता है या उनकी हत्या कर दी जाती है। वे कौनसी महिलाएं हैं जिन्हें उत्पीड़ित किया जाता है? उनको उत्पीड़ित करने वाले और हिंसा के अपराधकर्ता कौन लोग हैं? महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के मूल कारण क्या हैं? कुछ विद्वानों ने जिन्होंने पाश्चात्य समाज में इन पहलुओं का अध्ययन किया है, इस समस्या की व्याख्या के लिये 'व्यक्तित्व' उपागम और 'परिस्थिति' उपागम का उपयोग किया है। परन्तु इन दोनों उपागमों के कई बिन्दुओं को लेकर उनकी आलोचना हुई है।

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की प्रकृति, विस्तार और विशेषताएं

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा का वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है—

1. अपराधिक हिंसा, जैसे बलात्कार, अपहरण, हत्या...
2. घरेलू हिंसा, जैसे दहेज संबंधी मृत्यु, पत्नी को पीटना, लैंगिक दुर्व्यवहार, विधवाओं और वृद्ध महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार.....
3. सामाजिक हिंसा, जैसे पत्नि/पुत्रवधु को मादा भ्रूण की हत्या के लिये बाध्य करना, महिलाओं से छेड़-छाड़, सम्पत्ति में महिलाओं को हिस्सा देने से इंकार करना, विधवा को सती होने लिये बाध्य करना, पुत्र-वधु को और अधिक दहेज लाने के लिए सताना।

बलात्कार

यद्यपि बलात्कार की समस्या सभी देशों में गंभीर मानी जाती है फिर भी सांख्यिकी रूप में भारत में यह पाश्चात्य समाज की तुलना में इतनी गंभीर नहीं है। उदाहरणार्थ, अमेरिका में बलात्कार के अपराधों की प्रति लाख प्रतिवर्ष दर लगभग 26 है, कनाडा में यह लगभग 8 है और इंग्लैण्ड में यह प्रति एक लाख जनसंख्या पर लगभग 5.5 है। इसकी तुलना में भारत में इसकी दर 0.5 प्रति एक लाख जनसंख्या है। हमारे देश में 1983 और 1988 के बीच हुए बलात्कार के मामलों की संख्या को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक चार घंटों में तीन बलात्कार होते थे, या प्रतिवर्ष 7,500 मामले होते थे। केन्द्रीय सरकार द्वारा जनवरी 27, 1993 को महिलाओं के विरुद्ध अपराध पर प्रस्तुत की गयी एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में प्रत्येक 54 मिनट में एक महिला का बलात्कार होता है। इसका अर्थ हुआ कि एक महीने में 800 तथा एक वर्ष में 9,600 बलात्कार होते हैं।

आयु के हिसाब से बलात्कार के शिकार की प्रतिशतता 16 से 30 वर्ष के आयु-समूह में सर्वाधिक है (64.1 प्रतिशत) जब कि 10 वर्ष से कम आयु के शिकार लगभग .6 प्रतिशत है, 10 और 16 वर्ष के बीच आयु के शिकार लगभग 20.5 प्रतिशत हैं, और तीस वर्ष से ऊपर के शिकार 12.8 प्रतिशत है। गरीब लड़कियां ही अकेली बलात्कार का शिकार नहीं होती, अपितु मध्यम वर्ग की कर्मचारियों के साथ भी मालिकों द्वारा लैंगिक अपमान किया जाता है। जेल में कैद महिलाओं के साथ अधीक्षकों द्वारा बलात्कार किया जाता है, अपराध संदिग्ध महिलाओं के साथ पुलिस अधिकारियों द्वारा महिला मरीजों के साथ अस्पताल के कर्मचारियों द्वारा, और रोजाना वेतनभोगी महिलाओं के साथ ठेकेदारों और बिचौलियों द्वारा। यहां तक कि बहरी और गूंगी, पागल और अंधी और भिखारियों को भी नहीं छोड़ा जाता। निम्न मध्यम श्रेणी से आई हुई महिलाएं जो कि अपने परिवारों का प्रमुख रूप से भरण पोषण करती हैं लैंगिक दुर्व्यवहार को खामोशी से और बिना विरोध किये सहन करती रहती हैं। यदि वे विरोध करती हैं तो उन्हें समाजिक कलंक और अपमान को सामाना करना पड़ता है इसके अतिरिक्त उन्हें पाप की पीड़ा और व्यक्तित्व के रोग भयंकर रूप से सताते हैं।

निम्नतः महिलाओं के विरुद्ध किये गये अपराधों की निम्नांकित महत्वपूर्ण विशेषताओं को उद्घाटित किया है।

1. बलात्कार सदैव पूर्णतया अपरिचित व्यक्तियों में नहीं होते,
2. प्रत्येक दस में से नौ बलात्कार परिस्थिति से संबंधित होते हैं,
3. लगभग तीन-पंचम बलात्कार (58 प्रतिशत) एकल बलात्कार होते हैं (जिनमें एक ही अपराधी होता है), और एक-पंचम (21 प्रतिशत) सामूहिक बलात्कार होते हैं,
4. प्रत्येक 10 बलात्कारों में नौ में किसी प्रकार की शारीरिक हिंसा या क्रूरता नहीं होती, यानी अनेक मामलों में महिला को वश में करने के लिए प्रलोभन एवं मौखिक दबाव काम में लिये जाते हैं,
5. तीन-चौथाई से कुछ कम बलात्कार (70 प्रतिशत) उत्पीड़ितों या उत्पीड़ित करने वालों के घरों में होते हैं और लगभग एक-चौथाई (25 प्रतिशत) गैर-रिहाइशी भवनों में होते हैं, और
6. उत्पीड़ितों की सबसे ऊँची दर 15-20 वर्षों के आयु-समूह में होती है, जब कि अधिकांशतया अपराधी 23-30 के आयु समूह के होते हैं इस प्रकार शिकार चुनने में युवावस्था को विशेष महत्व दिया जाता है।

भगा ले जाना और अपहरण करना

एक नाबालिक (18 वर्ष से कम लड़की और 16 वर्ष के कम आयु का लड़का) को उसके कानूनी

अभिभावक की सहमति के बिना ले जाने या फुसलाने को 'अपहरण' कहते हैं। भगा ले जाने' का अर्थ है एक महिला को इस उद्देश्य से जबरदस्ती, कपटपूर्वक या धोखेबाजी से ले जाता कि उसे बहका कर उसके साथ अवैध मैथुन किया जाये या उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे किसी व्यक्ति के साथ विवाह करने को बाध्य किया जाये। अपहरण में उत्पीड़क की सहमति महत्वहीन होती है, परन्तु भगा ले जाने में उत्पीड़क की स्वैच्छिक सहमति अपराध को माफ करवा देती है।

अपहरण/भगा ले जाने की महत्वपूर्ण विशेषताएं निम्नतः व्यक्त की जा सकती हैं :

1. अविवाहित लड़कियों के भगा ले जाने के शिकार बनने की संभावना विवाहित स्त्रियों की अपेक्षा अधिक होती है,
2. भगा ले जाने वाले व उनके शिकार अधिकांश प्रकरणों में एक दूसरे से परिचित होते हैं,
3. भगा ले जाने वाले और उनके शिकार का प्रायः प्रारंभिक सम्पर्क सार्वजनिक स्थानों के बजाय उनके घरों अथवा पड़ोस में होता है,
4. अधिकांशतया भगा ले जाने में एक ही व्यक्ति लिप्त होता है।
5. भगा ले जाने के दो सबसे अधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य मैथुन और विवाह होते हैं। आर्थिक उद्देश्य से भगा ले जाने वालों को संख्या कुल भाग ले जाने वालों की संख्या की मुश्किल से एक दशम होती है।
6. 80 प्रतिशत से अधिक प्रकरणों में भगा ले जाने के पश्चात लैकिंग आक्रमण होता है और
7. माता-पिता का नियंत्रण और परिवार में स्नेहपूर्ण संबंधों का अभाव भगा ले जाने वाले और पीड़ित के सम्पर्कों तथा लड़की के (पीड़ित के) किसी परिचित व्यक्ति (जिसे बाद में दबाव में आकर भगा ले जाने वाला कहा जाता है) के साथ घर से भाग जाने के निर्णायक कारण होते हैं।

हत्या

मानव हत्या विशेष रूप से नर-अपराध है। यद्यपि लिंग के आधार पर हत्याओं और उनके शिकारों/पीड़ितों में संबंधित अखिल भारतीय आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं, फिर भी यह सर्वविदित है कि मानव हत्या के मादा शिकार नर शिकारों की तुलना में कम है। जहां अमेरिका में मादा शिकार मानव हत्या के कुल शिकारों के 20 प्रतिशत और 25 प्रतिशत के बीच है (प्रतिवर्ष 25,000 से 30,000), भारत में लगभग 27,000 हत्याओं में से जो हर वर्ष होती हैं, महिलाओं की हत्याएं कुल संख्या की लगभग 10 प्रतिशत है। हत्या करने के अपराध में कुल गिरफ्तार किये गये व्यक्तियों (गभग 67,500) में से 96.7 प्रतिशत पुरुष होते हैं और 3.3 प्रतिशत स्त्रियां होती हैं।

हत्याओं (स्त्रियों के) और उनके शिकारों की महत्वपूर्ण विशेषताएं निम्न हैं :

1. अधिकांश प्रकरणों में (94 प्रतिशत) हत्यारे और उनके शिकार एक ही परिवार के होते हैं,
2. लगभग चार-पंचम प्रकरणों में (80 प्रतिशत) हत्यारे 25-40 वर्षों के आयु समूह के होते हैं,
3. लगभग आधी शिकार औरतें होती हैं जिनके पुरुष हत्यारे से पुराने संबंध (पांच वर्ष से अधिक) होते हैं।
4. हत्या की गई महिलाओं में से लगभग आधी बच्चों वाली होती हैं।
5. हत्यारे अधिकांशतया निम्न प्रस्थिति व्यवसाय और निम्न आय समूह में थे।
6. दो-तिहाई हत्याएं (66 प्रतिशत) अनियोजित थी और क्रोध या उत्तेजित भावावेश में की गई होती हैं,
7. चार-पंचम हत्याओं (80 प्रतिशत) बिना किसी की सहायता के की गई होती हैं तथा नियोजित हत्याओं में भी प्रायः सहापराधी परिवार के सदस्य होते हैं,
8. महिलाओं की हत्या के प्रमुख कारण छोटे-मोटे घरेलू झगड़े, अवैध संबंध और स्त्रियों की लम्बी बीमारी होते हैं।

दहेज से सम्बन्धित हत्याएं

यद्यपि दहेज निषेधाज्ञा कानून 1961 (डाउरी प्रोहिबिशन एक्ट, 1961) ने दहेज प्रथा पर रोक लगा दी है,

परन्तु वास्तव में कानून केवल यही स्वीकार करता है कि समस्या विद्यमान है। गत वर्षों में दहेज की मांग और उसके साथ-साथ दहेज को लेकर हत्याएं बढ़ी हैं। यदि एक सन्तुलित अनुमान लगया जाये तो भारत में दहेज न देने अथवा पूरा नहीं देने के कारण प्रतिवर्ष हत्याओं की संख्या लगभग 5,000 मानी जा सकती है। भारत सरकार की 1993 की रिपोर्ट के अनुसार भारत में वर्तमान में हर 102 मिनट में एक दहेज में संबंधित हत्या होती है, तथा एक दिन में 33 व एक वर्ष में लगभग 5000। अधिकांश दहेज-हत्याएं पति के घर के एकान्त में और परिवार के सदस्यों की मिलिभगत से होती है। इसलिए अदालतें प्रमाण के अभाव में दंडित न कर पाने को स्वीकार करती है। कभी-कभी पुलिस छानबीन करने में इतनी कठोर हो जाती है कि न्यायालय भी पुलिस अधिकारियों की कार्य-कुशलता और सत्यनिष्ठा पर संदेह प्रकट करते हैं।

दहेज-हत्याओं की महत्वपूर्ण विशेषताएं –

1. मध्यम वर्ग की स्त्रियों के उत्पीड़न की दर निम्नवर्ग या उच्चवर्ग की स्त्रियों से अधिक होती है,
2. लगभग 70 प्रतिशत पीड़ित 21 से 24 वर्ष आयु-समूह की होती हैं, अर्थात् वे केवल शारीरिक रूप से ही नहीं, अपितु सामाजिक एवं भावात्मक रूप से भी परिपक्व होती है,
3. यह समस्या निम्न जाति की अपेक्षा उच्च जाति की अधिक है,
4. वास्तविक हत्या से पहले युवा वधु को कई प्रकार से सताया/अपमानित किया जाता है जो कि पीड़ित के परिवार के सदस्यों के सामाजिक व्यवहार के अव्यवस्थित रूप को दर्शाता है,
5. दहेज-हत्या के कारणों में सबसे महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय कारक अपराधी पर वातावरण का दबाव या सामाजिक तनाव है जो उसके परिवार के आन्तरिक और बाह्य कारणों से उत्पन्न होते हैं। अन्य महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक कारक हत्यारे का सत्तावादी व्यक्तित्व, प्रबल प्रकृति, और उसके व्यक्तित्व का असमायोजन है,
6. लड़की के शिक्षा के स्तर और दहेज के लिए की गई उसकी हत्या में कोई पारस्परिक संबंध नहीं होता,
7. परिवार की रचना नव वधु के जलाने में निर्णायक भूमिका अदा करती है।

पत्नि को पीटना

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा विवाह के संदर्भ में अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है जबकि पति, जिसके लिये यह समझा जाता है कि वह अपनी पत्नि से प्रेम करेगा और उसे सुरक्षा प्रदान करेगा उसे पीटता है। एक स्त्री के लिये उस आदमी द्वारा पीटा जाना जिस पर वह सर्वाधिक विश्वास करती थी, एक छिन्न-भिन्न करने वाला अनुभव होता है। हिंसा चांटे और लात मारने से लेकर हड्डी तोड़ना, यातना देना, मार डालने की कोशिश और हत्या तक हो सकती है। हिंसा कभी-कभी नशे के कारण भी हो सकती है। भारतीय संस्कृति में हम बिरले ही पत्नि द्वारा पुलिस से पीटने के मामले की शिकायत करने की बात सुनते हैं। वह मौन रहकर अपमान सहती है और उसे अपना भाग्य मानती है। यदि वह विरोध करना भी चाहती है तो नहीं कर सकती क्योंकि उसे डर होता है कि उसके अपने माता-पिता भी विवाह के बाद उसे अपने घर में स्थाई रूप से रखने को मना कर देंगे।

पत्नि के पीटने की महत्वपूर्ण लक्षण –

1. पत्नियां जो 25 वर्ष की आयु से कम होती हैं, उनके उत्पीड़न का अनुपात अधिक होता है,
2. उन पत्नियों को, जो अपने पति से पांच वर्ष से अधिक छोटी होती है, अपने पति द्वारा पीटे जाने का खतरा अधिक रहता है,

3. कम आय वाले परिवारों की महिलाओं का अधिक उत्पीड़न होता है, यद्यपि परिवार की आय से उत्पीड़न को जोड़ना अधिक कठिन है,
4. परिवार के आकार और उसकी रचना का पति के पीटने से कोई परस्पर संबंध नहीं होता,
5. साधारणतया पतियों के पीटने के कारण पत्नियों को कोई गहरी चोट नहीं लगती,
6. पति को पीटने के महत्वपूर्ण कारण हैं, यौन-संबंधी असमायोजन, भावात्मक गड़बड़ पति का गर्वित अहम् या हीनभावना, पति का पियक्कड़ होना, ईर्ष्या और पति की निष्क्रिय कायरता,
7. पीटने वाले पति के बचपन में हिंसा की विमदग्रस्तता पति के पीटने में एक महत्वपूर्ण कारक होता है,
8. यद्यपि अनपढ़ पत्नियों की शिक्षित पत्नियों की अपेक्षा पति द्वारा पीटे जाने की संभावना अधिक होती है, फिर भी पीटने और पीड़ितों के शैक्षिक स्तर में कोई महत्वपूर्ण संबंध नहीं है

विधवाओं के विरुद्ध हिंसा

सब विधवाएं एक ही प्रकार की समस्याओं का सामना नहीं करती। एक विधवा ऐसी हो सकती है जिसके कोई बच्चा न हो और जो अपने विवाह के एक या दो वर्षों में ही विधवा हो गई हो, या वह ऐसी हो सकती है जो पांच से 10 वर्ष के पश्चात विधवा होती है और उसके एक या दो बच्चे पालने के लिये हो, या ऐसी हो जो 50 वर्ष की आयु से अधिक हो। यद्यपि इन तीनों श्रेणी की विधवाओं को जैविक समंजन की समस्या का भी सामना करना पड़ता है। पहली और तीसरी श्रेणियों को विधवाओं की कोई जिम्मेदारी नहीं होती जब कि दूसरी श्रेणी की विधवाओं को अपने बच्चों के लिए पिता की भूमिका भी अदा करनी पड़ती है। पहली दो श्रेणियों की विधवाओं को जैविक समंजन की समस्या का भी सामना करना पड़ता है। इन दो किस्मों की विधवाओं का अपने पति के परिवार में इतना आदर-सत्कार नहीं होता जितना कि तीसरी किस्म का। वास्तव में जहां एक और परिवार के सदस्य विधवाओं की पहली दो श्रेणियों से मुक्ति पाना चाहते हैं, वहां तीसरी श्रेणी की विधवा अपने पुत्र के परिवार में मूल व्यक्ति हो जाती है क्यों कि उसको अपने पुत्र के बच्चों की देख-रेख का और काम पर जाने वाली पुत्रवधु की अनुपस्थिति में खाना पकाने का दायित्व सौंप दिया जाता है। विधवाओं की तीनों श्रेणियों की आत्मछवि और स्वाभिमान भी भिन्न होते हैं। एक विधवा की आर्थिक निर्भरता उसके स्वाभिमान और उसकी पहचान की भावना के लिए एक बड़ा खतरा पैदा कर देती है। परिवार की भूमिकाओं में उनके सास-ससुर और परिवार के अन्य सदस्यों द्वारा निम्न दर्जा प्रान किये जाने से उनका स्वाभिमान कम होता है। विधवा होने का कलंक ही अपने आप में एक स्त्री को नकारात्मक रूप से प्रभावित करता है और उसका सम्मान अपनी ही दृष्टि में कम हो जाता है।

यदि हम सब प्रकार की विधवाओं को लें तो हम कह सकते हैं कि विधवाओं के विरुद्ध हिंसा, पीटना, भावात्मक उपेक्षा/यातना, गाली गलौज करना, लैंगिक दुर्व्यवहार, संपत्ति में वैध हिस्से से वंचन, और उनके बच्चों के साथ दुर्व्यवहार सम्मिलित है। विधवाओं के विरुद्ध हिंसा की महत्वपूर्ण विशेषताएं हैं :

1. युवा विधवाओं को अघेड़ विधवाओं की अपेक्षा अधिक अपमानित और तंग किया जाता है और उनका शोषण और उत्पीड़न भी अधिक होता है,
2. साधारणतया, विधवाओं को अपने पति के व्यापार, हिसाब-किताब, सर्टिफिकेटों, बीमें की पॉलिसियों और प्रतिभूतियों के बारे में नगण्य के बराबर जानकारी होती है और वे अपने परिवार के बेईमान सदस्यों की धोखेबाजी के षड़यंत्रों की आसानी से शिकार हो जाती है और वे (सदस्य) इस प्रकार उनकी विरासत में मिली सम्पत्ति और जीवनबीमा के फायदों को हड़पने का प्रयास करते हैं,

3. हिंसा के अपराधकर्ता अधिकांशतया पति के परिवार के सदस्य होते हैं,
4. उत्पीड़न के तीन सबसे अधिक महत्वपूर्ण उद्देश्यों में —शक्ति, संपत्ति और कामवासना—संपत्ति मध्यमवर्ग की विधवाओं के और शक्ति मध्यमवर्ग और निम्नवर्ग दोनों की विधवाओं के उत्पीड़न का निर्णायक कारक होती है।
5. यद्यपि सास का सत्तावादी व्यक्तित्व और पति के भाई-बहनों का असमंजस विधवा के उत्पीड़न में महत्वपूर्ण कारक होते हैं, फिर भी सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारक विधवा की निष्क्रियता और कायरता होता है,
6. आयु, शिक्षा और वर्ग का विधवाओं के शोषण से महत्वपूर्ण पारस्परिक संबंध दिखाई देता है, परन्तु परिवार की रचना और उसके आकार से उसके कोई परस्पर संबंध नहीं होते।

हिंसा के शिकार

यदि हम महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के सभी प्रकरणों को एक साथ लें तो हम पायेंगे कि हिंसा के साधारण शिकार वे महिलाएं होती हैं—

1. जो असहाय और अवसादग्रस्त होती हैं, जिनकी आत्मछवी खराब होती है, जो आत्म अवमूल्यन से ग्रसित होती हैं या वे जो अपराधकर्ताओं द्वारा की गई हिंसा के फलस्वरूप भावात्मक रूप से समाप्त हो चुकी हैं, या वे जो परार्थवादी विवशता से ग्रस्त हैं।
2. जो दबावपूर्ण पारिवारिक स्थितियों में रहती हैं या ऐसे परिवारों में रहती हैं जिन्हें समाज शास्त्रीय शब्दावली में 'सामान्य' परिवार नहीं कहा जा सकता। सामान्य परिवार वे हैं जो संरचनात्मक रूप से पूर्ण होते हैं (दोनों माता-पिता जीवित हैं और साथ-साथ रह रहे हैं) आर्थिक रूप से निश्चिन्त हैं (सदस्यों की मूल और पूरक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं), प्रकार्यात्मक रूप से उपयुक्त हैं (वे बिरले ही लड़ते हैं) और नैतिक रूप से नैर्दोष हैं,
3. जिनमें सामाजिक परिपक्वता की या सामाजिक अन्तर, वैयक्तिक प्रवीणताओं की कमी है जिसके कारण उन्हें व्यवहार संबंधी समस्याओं का सामना करना पड़ता है,
4. जिनके पति/ससुराल वालों के विकृत व्यक्तित्व हैं,
5. जिनके पति बहुधा मदिरापान करते हैं।

हिंसा के अपराधकर्ता

महिलाओं के निम्न सात प्रकार के उत्पीड़न हो सकते हैं :

1. जो अवसादग्रस्त होते हैं, जिनमें हीन-भावना होती है और आत्मसम्मान कम होता है,
2. जिन्हें व्यक्तित्व के दोष होते हैं और जो मनोरोगी होते हैं,
3. जिनके पास संसाधनों, प्रवीणताओं और प्रतिभाओं का अभाव होता है और जिनका व्यक्तित्व समाजवैज्ञानिक रूप से विकृत होता है,
4. जिनकी प्रकृति में मालिकानापन, शक्कीपन, और प्रबलता है,
5. जो पारिवारिक जीवन में तनावपूर्ण स्थितियों का सामना करते हैं,
6. जो बचपन में हिंसा के शिकार हुए थे,
7. जो बहुधा मदिरापान करते हैं।

हिंसा के प्रकार

यदि हम महिलाओं के विरुद्ध हिंसा का वर्गीकरण करें तो हम हिंसा के छह प्रकार बता सकते हैं—

1. हिंसा जो धन—अभिमुख होती है,
2. हिंसा जो कमजोर पर सत्ता प्राप्त करना चाहती है,
3. हिंसा जिसका उद्देश्य भोग—विलास है,
4. हिंसा जो अपराधकर्ता की विकृति के कारण होती है,
5. हिंसा जो तनावपूर्ण पारिवारिक परिस्थितियों के कारण होती है,
6. हिंसा जो पीड़ित प्रेरित होती है।

हिंसा के कारण

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की तीन कारकों के आधार पर व्याख्या की जा सकती है,

1. स्थितियां जिनके कारण हिंसापूर्ण व्यवहार होता है,
2. पीड़ितों की विशेषताएं,
3. उत्पीड़ित करने वाले की विशेषताएं।

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के चार कारण पहचाने जा सकते हैं—

1. पीड़ित द्वारा भड़काना,
2. नशा
3. महिलाओं के प्रति शत्रुता की भावना,
4. परिस्थिति संबंधी लालसा।

कभी—कभी हिंसा की शिकार महिला अपने व्यवहार से जो कई बार अनजाने में होता है, अपने स्वयं के उत्पीड़न की स्थिति उत्पन्न कर देती है। पीड़ित महिला अपराधी के हिंसापूर्ण व्यवहार को उत्पन्न करती है या प्रेरित करती है। उस (महिला) के कार्य शिकारी को हमलावर/आक्रामक रूप में परिवर्तन कर देते हैं और वह अपने अपराधिक इरादों को उसको लक्ष्य बनाने के लिए बाध्य हो जाता है। इस प्रकार निष्क्रिय पीड़ित महिला उसी सीमा तक हिंसापूर्ण कार्य के होने में योगदान देती है जितनी कि 'सक्रिय' पीड़ित महिला। हत्या के प्रकरणों में ऐसे कुछ प्रकरण सामने आये जहां हमलावरों के अनुसार हत्या की स्थिति उस समय उत्पन्न हुई जब बहस और कहा सुनी में पीड़ित ने ऐसी परिस्थितियों उत्पन्न कर दी जिन्होंने उन्हें उन पर आक्रमणों करने के लिए प्रेरित किया। भगाये जाने के प्रकरण में भी कुछ भगा ले जाने वालों ने बताया कि उनके पीड़ितों ने उनके साथ भाग जाने और विवाह करने की इच्छापूर्वक सहमति दी थी, परन्तु जब माता—पिता की शिकायत पर वे गिरफ्तार कर लिये गये तो पीड़ित महिला ने अपने माता—पिता द्वारा बाध्य किये जाने पर उन पर भगा ले जाने का आरोप लगा दिया। एक अध्ययन के अनुसार औसतन, 3 प्रतिशत प्रकरण सहायक भगाये जाने वाले थे, 24 प्रतिशत जबरदस्ती भगाये जाने वालों के थे 17 प्रतिशत सहायक भगाये जाने वाले थे (जिसमें पीड़ितों ने न तो अभियुक्त के साथ जाने की सहमति दी और न ही उसका विरोध किया, परन्तु अभियुक्त के उनके ऊपर प्रभाव से वशीभूत हो गई), और 20 प्रतिशत तनाव के कारण भगाये जाने वाले प्रकरण थे (जिनमें पीड़ित ने अपनी इच्छा से घर छोड़ना मान लिया था परन्तु उसके पश्चात जब 'अपराधी' ने उसके साथ बलात्कार किया) या उसके आभुषण बेच दिया या उसे

होटल में छोड़ दिया तब उसे पश्चाताप हुआ)।

इस विश्लेषण से हम पीड़ितों का सक्रिय निष्क्रिय और आकस्मिक के आधार पर वर्गीकरण कर सकते हैं। कम से कम दो प्रकार के पीड़ित ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं जहां अपराधी स्थिति एवं विवशता का पीड़ित बन जाता है और पीड़ित के साथ इस प्रकार से व्यवहार करता है कि वह हमलावर अथवा उत्पीड़ा देने वाला कहलाये जाने लगे।

हिंसा के कुछ प्रकरण उस समय होते हैं जब कि आक्रामक नशे में और अत्युत्तेजक एवं लड़ाई करने की मनोदशा में होते हैं और उनको यह समझ में नहीं आता कि उनके कार्यों के क्या परिणाम होंगे। उदाहरण के लिये, कुछ बलात्कार के प्रकरणों में अपराधियों ने पीड़ितों के साथ बलात्कार उस समय किया जब उन्होंने इतनी शराब पी ली थी कि वे नशे और भावात्मक उत्तेजना की हालत में थे। वे अपना आत्मसंयम खो चुके थे और उनके आक्रामक स्वप्नचित्र कामवासना से प्रगाढ़ रूप से आपस में मिल गये थे जिन्होंने बाद में अनुत्तरदायी कार्यों का रूप धारण किया। मदिरा से संबंधित यौन अपराध समय, स्थान और परिस्थितियों की अविवेचित उपेक्षा का उदाहरण देते हैं। हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि जब हम हिंसा और शराबीपन में परस्पर संबंध बताते हैं तो हम रक्त में शराब के स्तरों के माप के स्थान पर केवल शराब के उपयोग की सूचना पर ही निर्भर रहते हैं। यदि बी.ए.सी. अधिक होगा तो व्यक्ति की दूसरों को शारीरिक चोट पहुंचाने की क्षमता कम हो जाएगी। फिर भी हम मानते हैं कि बी.ए.सी. का स्तर इतना होना चाहिए कि अपराधी इस सीमा तक ही अपने पर नियन्त्रण खोये कि वह अपने कार्यों के परिणामों के बारे में न सोच पाये। वह केवल इसी मनोदशा में हिंसात्मक होता है।

यह स्पष्ट नहीं है कि क्या शराब हिंसापूर्ण व्यवहार को प्रत्यक्ष रीति से भड़काती है या वह मुख्य रूप से पूर्व से ही विद्यमान आक्रमणशील प्रवृत्तियों की अन्तर्बाधा को समाप्त करने का काम करती है। दूसरी परिकल्पना कदाचित इस विचार को समर्थन देती है कि कुछ हिंसा के अपराधकर्ता व्यक्तियों के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग करने से पहले साहस जुटाने के लिए शराब पीते हैं। फिर भी हम ऐसा कोई प्रमाण नहीं दे सकते कि केवल मदिरापान से ही हिंसापूर्ण व्यवहार भड़कता है। ऐसे कई व्यक्ति हैं जो मदिरापान करते हैं परन्तु हिंसात्मक नहीं होते। इसलिए महिलाओं के विरुद्ध हिंसा में शराब के प्रयोग को प्रमुख कारक न मानकर केवल सहयोगी कारक ही माना जा सकता है।

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के प्रतिवेदित मामलों में कुछ ऐसे होते हैं जिनमें आक्रमणकारी किसी भी तर्क से प्रभावित नहीं होते और वे उनके विद्वद्ध बड़ी क्रूरता से विद्वेषपूर्ण कार्य करने के अलावा और कुछ नहीं करते। उनमें से कुछ में महिलाओं के प्रति घृणा और द्वेष की भावनाएं इतनी गहराई से गड़ी हुई होती हैं कि उनके हिंसापूर्ण कार्य का मूल उद्देश्य पीड़ित महिला को अपमानित करने के अतिरिक्त कुछ और नहीं का जा सकता। यदि परिस्थिति ही केवल प्रेरणा का कारक होती तो यह समझना कठिन हो जाता कि जब अधिकांश अपराधी सामान्य व्यक्ति समझे जाते हैं तो वे हिंसक कार्य करने को बाध्य क्यों हो जाते हैं। कदाचित ऐसे प्रकरणों में पीड़ित को अपमानित करने से जो खुशी की अनुभूति होती है उसे प्राप्त करने की इच्छा उनमें अधिक प्रबल होती है।

इस श्रेणी में उन प्रकरणों को सम्मिलित किया जा सकता है जहां अपराध न तो पीड़ित के व्यवहार के कारण किया जाता है और न ही अपराधी के मनोरोगात्मक व्यक्तित्व के कारण, अपितु आकस्मिक कारकों के

कारण जो ऐसी परिस्थितियों को उत्पन्न कर देते हैं जिनके परिणामस्वरूप हिंसा होती है। उदाहरणार्थ, एक पत्नि के पीटने के प्रकार में हो सकता है कि पैसे के मामलों में झगडा या पति के माता-पिता के साथ दुर्व्यवहार के कारण झगडा पति को पत्नि पर आक्रमण करने के लिए भडका दे या बलात्कार के प्रकरण में एक आदमी अकस्मात उसके पड़ोस के गांव की एक परिचित स्त्री से खेत में मिलता है और बातचीत आरम्भ कर देता है और अन्ततः उससे अपनी बात मनवाना चाहता है, या एक पुरुष मालिक एक स्त्री कर्मचारी को अपने दफ्तर/कारखाने में शाम ढले अकेला पाकर उसका फायदा उठाता है, या एक युवा लडकी अपने पिता के घर से भाग जाती है और एक ट्रक में चढ जाना स्वीकार कर लेती है और ट्रक का ड्रावर स्थिति का फायदा उठा कर उसके साथ बलात्कार कर लेता है। इन सब प्रकरणों में अपराधियों ने हिंसा पूर्ण कार्यों की योजना नहीं बनाई थी परन्तु जब उन्हें परिस्थिति सहायक या उकसाने वाली लगी तो उन्होंने हिंसा का प्रयोग किया।

व्यक्तित्व की विशेषताएं

हिंसा प्रवृत्त व्यक्तित्व की पहचान करने वाली विशेषताएं ये हैं— अत्यधिक शक्की, वासनामय, प्रभावी, विवेकहीन, व्यभिचारी, आसानी से भावात्मक रूप से अशांत, ईर्ष्यालु, स्वत्मात्मक और बेइंसाफ। जो विशेषताएं प्रारंभिक जीवन में विकसित हो जाती हैं, वे वयस्कता में एक व्यक्ति के आक्रमणशील व्यवहार को प्रभावित करती हैं। आक्रमक का बच्चे के रूप में दुर्व्यवहार और बचपन में हिंसा के प्रभाव में आने को उसके हिंसात्मक व्यवहार का अध्ययन करते समय परीक्षण अवश्य करना चाहिए। उदाहरणार्थ, कुछ पत्नि को पीटने वालों के प्रकरण में उनके बचपन, किशोरावस्था और वयस्कता के प्रारंभिक वर्षों के अनुभव यह बतलाते हैं कि उन्होंने सभी भावात्मक रूप से दुखद संकेतों के जवाब रोषपूर्ण एवं हिंसात्मक व्यवहार से देना सीखा। दुखी पारिवारिक जीवन, जिसमें शारीरिक निर्दयता या भयंकर भावात्मक निराकरण रहा हो, अधिकांश आक्रमकों के प्रकरण में यह नियम बन जाता है। कुछ वयस्क आक्रमकों ने अपने बचपन/किशोरावस्था में अपने परिवार में ऐसी परिस्थितियां का सामना किया होता है जिनमें उन्होंने सदैव माता-पिता को एक दूसरे पर चिल्लाते हुये सुना और छोटे से छोटे बहाने पर उनके पिता द्वारा उनकी (बच्चों की) पिटाई हुई। अक्सर उनके पिता शराब के नशे में धुत घर लौटते और सारे घर में चिल्लाते हुए और चीजों को तोड़ते हुये घूमते रहते। एक हिंसापूर्ण घर में पलने के परिणामस्वरूप व्यक्तियों का अनिवार्य रूप से व्यवहार हिंसापूर्ण हो जाता है और ये व्यक्ति वयस्क जीवन में आक्रमक हो जाते हैं। एलफेरो (1978), पौट्स, हर्जबर्गर और हालैण्ड (1979) और फेंगन, स्टुवर्ट और हेल्सन (1981) ने भी हिंसात्मक पुरुषों और उनके बच्चों पर किये अपने आनुभविक अध्ययनों में भी इस प्रकार का पारस्परिक संबंध बतलाया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आक्रमकों की बड़ी संख्या बाल दुर्व्यवहार और पारिवारिक हिंसा की शिकार होती है और बच्चे के रूप में यदि कोई हिंसा से प्रभावित होता है तो साधारणतया उसकी व्यवस्कावस्था में हिंसात्मक हो जाने की संभावना बढ़ जाती है।

हिंसापूर्ण व्यवहार की सैद्धान्तिक व्याख्या

मनश्चिकित्सीय विचारधारा आक्रमक के व्यक्तित्व की विशेषताओं को अपराधिक हिंसात्मक व्यवहार का प्रमुख निर्णायक मानकर अपना अध्ययन-केन्द्र बनाती है। सामाजिक-मनोवैज्ञानिक विचारधारा मानती है कि अपराधिक हिंसा को उन बाहरी वातावरण के कारकों, जो एक आक्रमक पर प्रभाव डालते हैं के विश्लेषण करने से सबसे अच्छे तरीके से समझा जा सकता है। यह मॉडल प्रतिदिन की पारस्परिक क्रियाओं के रूपों (जैसे तनावपूर्ण परिस्थितियां या परिवार के पारस्परिक क्रियाओं के संरूप...) का भी परीक्षण करता है जो हिंसा के पुरोगामी होते हैं।

बहुत से सिद्धान्त, जैसे नैराश्य आक्रमण सिद्धान्त, विकृति सिद्धान्त, आत्म-अभिवृत्ति का सिद्धान्त, और अभिप्राय आरोपण सिद्धान्त भी सामाजिक-मनोवैज्ञानिक स्तर के विश्लेषण करती हैं। इनके अतिरिक्त हिंसा की उप-संस्कृति का सिद्धान्त, सीखने का सिद्धान्त, मानकशून्या (एनोमी) का सिद्धान्त, और संसाधन सिद्धान्त भी सामाजिक-सांस्कृतिक विश्लेषण के क्षेत्र में आते हैं। एक व्यक्ति के विरुद्ध हिंसा आवश्यक रूप से किसी के द्वारा हिंसा और किसी के विरुद्ध हिंसा है। इस तरह महिलाओं के विरुद्ध हिंसा को एक व्यक्ति द्वारा एक व्यक्ति के विरुद्ध हिंसा समझा जाना चाहिए। इसके विपरीत में एक समूह के विरुद्ध हिंसा होती है। एक व्यक्ति द्वारा हिंसा में उस की उत्पत्ति व स्वरूप को स्वयं व्यक्ति में और उसकी परिस्थिति में ही निर्धारित किया जाना चाहिए। इस उपागम में एक व्यक्ति के न केवल अन्तर्जात व्यवहार का परन्तु उपार्जित व्यवहार का भी अध्ययन करना चाहिए। हमारा सामाजिक बन्धन उपागम दोनों प्रकार के व्यवहार और सामाजिक संरचनात्मक परिस्थितियों पर भी विचार करता है।

निर्व्यक्तीकरण का मानसिक आघात और मानववादी उपागम

अपने समाज में महिलाओं के प्रति दुर्व्यवहार को रोकने के लिये और उनके विरुद्ध हिंसा को कम करने के लिये हमें क्या उपाय करने चाहिए? यह सुझाव वैध और तर्कसंगत हो सकता है कि स्त्रियों की सामान्य प्रतिष्ठा यदि शिक्षा प्रभावी वैधानिक उपायों और परीक्षण तथा रोजगार के अवसर देकर सुधारी जा सकती है तो यह महिलाओं के विरुद्ध हिंसा को कम करेगी, परन्तु यह अत्यन्त व्यापक सुझाव है। इसी प्रकार यह सुझाया जाता है कि जनसंचार माध्यमों में महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के प्रकरणों को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया जाना चाहिए। यद्यपि जनसंचार माध्यमों में महिलाओं के विरुद्ध हिंसा को सेन्सर करने के नैतिक और मानवतावादी कारण हैं, परन्तु हमारे पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि ऐसी कार्यवाई से आवश्यक रूप से हिंसा में कमी आ जायेगी। यही अपराधकर्ताओं को निवारक दण्ड देने और उसके संबंधियों द्वारा उस का सामाजिक बहिष्कार करने के बारे में भी सही है। ये उपाय उनके सामाजिक प्रभावों के लिये वांछनीय हो सकते हैं परन्तु हमें विश्वास नहीं हो सकता कि वे किसी सीमा तक महिलाओं के शोषण को कम कर देंगे। यह मालूम करने के कोई प्रमाण नहीं है कि कौन सी नीतियों को प्राथमिकता दी जाये। फिर भी कई ऐसे उपाय हैं जिनके किये जाने से महिलाओं का उत्पीड़न कम हो सकता है।

पहले हम उस प्रकरण को लेते हैं जो पहले से कई महिला संगठनों और राजकीय एवं निजी/सार्वजनिक संस्थाओं का ध्यान आकर्षित कर रहा है। यह है पीड़ितों की सुरक्षा, मदद, और सलाह की आवश्यकताओं की पूर्ति करना। कुछ महिलाओं को, यदि सब के लिये नहीं, जिसकी सबसे अधिक आवश्यकता है वह है आश्रय। महिलाएं जो तानाशाह सास-ससुर और शराबी पतियों के साथ रह रही हैं, अस्थायी अथवा स्थायी रूप से अपना घर छोड़ देंगी यदि उनके पास कोई आश्रय उपलब्ध हो। स्वयंसेवी संगठनों को जो स्त्रियों को ऐसे आवास मुहैया कराते हैं अपनी परियोजनाओं का प्रचार करना चाहिए। यह ध्यान में रखना चाहिए कि वर्तमान में जो महिलाओं के लिये घर (अकेले और/या विवाहित के लिए) हैं, वे आवश्यकतानुसार मांग को पूरा नहीं कर पाते हैं। उनमें अक्सर भीड़ होती है, वित्तीय सहायता का अभाव होता है और वे सुरक्षा नियमों का पालन नहीं करते। महिला संगठन कई स्त्रियों के दुखों के उपशमन में योगदान देंगी यदि वे उन्हें अल्पकालिक आवास की सुविधा प्रदान करती हैं और अन्ततः स्थायी मकान दिलवाने में मदद करती है, विशेष रूप से उन विवाहित स्त्रियों को जो कष्ट में हैं या बलात्कार, भगाये जाना, मार डालने की कोशिश जैसी हिंसा की शिकार हैं। विभिन्न प्रकार के अल्पकालिक आवास जो पीड़ित स्त्रियों और विधवाओं को दिये जा सकते हैं, उनका मूल्यांकन और तुलना करना

अत्यावश्यक है। दूसरा, पीड़ित महिलाओं को इसकी भी आवश्यकता है कि उनकी रोजगार ढूँढने, बच्चे की देखभाल की सुविधाओं को उपलब्ध कराने, और अस्थायी रूप से वित्तीय सहायता दिलवाने में सहायता की जाये। इस उद्देश्य के लिये परामर्श केन्द्र किसी केन्द्रीय स्थान पर खोले जा सकते हैं, परन्तु वे नारी गृहों से दूर होने चाहिए जिससे कि उनका अच्छा प्रचार हो सके और गृहों में रहने वालों की सुरक्षा को भी खतरा न हो।

जनसंख्या विस्फोट

पिछले दशक में और विशेष रूप से पिछले कुछ वर्षों में राजनैतिक अस्थिरता और साम्प्रदायिक उन्माद के मध्य, जनसंख्या विस्फोट की समस्या पीछे ढकेल दी गई थी। न तो राजनीतिक दल और न सरकार ऐसी समस्या पर, जो कि राष्ट्र के सामने आवश्यक रूप से सबसे कठिन समस्या है, अपना ध्यान केन्द्रित करने को तैयार थे। परन्तु समाज विज्ञानों में इस तथ्य की विशिष्टता बताने के लिए विद्वानों के अध्ययनों और विचारों की कोई कमी नहीं है कि भारत आर्थिक विकास की दौड़ में विशेष रूप से इसलिए पिछड़ रहा है क्यों कि उसने जनसंख्या की वृद्धि को नियन्त्रित करने में कोई प्रगति नहीं की है।

जनसंख्या वृद्धि

भारत की जनसंख्या 1994 विश्व की जनसंख्या की 16.0 प्रतिशत थी। इसकी तुलना में एक दशक पूर्व यह 15.0 प्रतिशत थी। चीन के बाद भारत विश्व का दूसरा, अमरीका तीसरा और रूस चौथा सबसे बड़े देश हैं। चीन : 21.7 प्रतिशत, अमरीका 6.0 प्रतिशत और रूस 5.0 प्रतिशत। भारत और इन तीन देशों (चीन, रूस और अमरीका) में विश्व की जनसंख्या की लगभग आधी (48.7 प्रतिशत) जनसंख्या रहती है। 1993 के मध्य पाकिस्तान की जनसंख्या 12.23 करोड़, बंगलादेश की 11.38 करोड़, नेपाल की 2.3 करोड़, श्रीलंका की 1.78 करोड़ तथा भूटान की 8 लाख थी। जिस पैमाने पर भारत की आबादी बढ़ रही है वह मन को दहलाने वाली है। जबकि 1600 ई. में हमारे देश की आबादी का अनुमान 10.0 करोड़ था, वह 1871 में 25.4 करोड़, 1931 में 27.89 करोड़, 1941 में 31.86 करोड़, 1951 में 36.10 करोड़, 1961 में 43.92 करोड़, 1971 में 54.81 करोड़, 1981 में 68.51 करोड़, और 1991 में भारत की जनसंख्या 87.294 करोड़ थी। वर्तमान शताब्दी के मध्य के दशकों में जहां जनसंख्या की वृद्धि दर मध्यम थी अब वह अधिक तेज और चिन्ताजनक हो गई है। महाविपदा यह है कि—

1. पृथ्वी पर आज हर छटा व्यक्ति भारतीय है।
2. भारत हर तीन सप्ताह में अपनी जनसंख्या में लगभग 10 लाख व्यक्ति जोड़ लेता है।
3. भारत हर वर्ष अपनी जनसंख्या में एक आस्ट्रेलिया या एक श्रीलंका व हर दस वर्ष में एक यूरोप के बराबर जनसंख्या जोड़ लेता है।
4. सन 2055 तक भारत चीन को पीछे छोड़ संसार का सबसे अधिक जनसंख्या वाला राष्ट्र बन जायेगा, जबकि चीन की 123 करोड़ की तुलना में भारत की जनसंख्या 138 करोड़ होगी (1992 में चीन की जनसंख्या 117 करोड़ थी) भारत में वर्तमान में जब जनसंख्या वृद्धि दर 2.1 प्रतिशत है, चीन में 1.2 प्रतिशत है। अतः जब चीन में जनसंख्या दुगुनी होने में 60 वर्ष लगेंगे, भारत में 34 वर्ष ही लगेंगे।
5. प्रजनन अवधि को पार करने वाले दम्पतियों से हर वर्ष तीन गुना अधिक दम्पति उसमें प्रवेश करते हैं और इस कम आयु के समूह की जनन क्षमता की दर उन लोगों की जनन-क्षमता, जो प्रजनन क्षेत्र को छोड़ रहे हैं, से तीन गुनी अधिक होती है।

6. वृद्धि की वर्तमान दर से अधिकांश भारतीयों का जीवन 30–40 वर्ष उपरान्त असहनीय हो जायेगा—चिकित्सा सुविधाओं को उपलब्ध कराना अति कठिन हो जायेगा, शिक्षा, मकान आदि का खर्चा अत्यधिक हो जायेगा, तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा विशिष्ट व्यक्तियों का अनन्य परमाधिकार बन जायेगा, और खाद्यान्नों की कमी राष्ट्र के तीन पंचमांश भाग को निर्धनता रेखा के नीचे ढकेल देगी।

जनसंख्या की वृद्धि के कारण

जनसंख्या विस्फोट के निम्नांकित महत्वपूर्ण कारण हैं :

जन्म और मृत्यु की दरों में बढ़ती हुई दरार

जन्म-दर और मृत्यु दर का रहन-सहन के स्तर से गहरा सम्बन्ध है। जैसे-जैसे जीविका-स्तर ऊँचा होता जाता है मृत्यु दर तो कम होता ही है, पर जन्म दर में भी तीव्र कमी होती है। यह ही कारण है कि जन्म-दर व जनसंख्या वृद्धि में कमी के लिए देश के आर्थिक व सामाजिक विकास पर अधिक बल दिया जाता है। भारत में पिछले 45 वर्षों में विकास अवश्य हुआ है। आजादी के पूर्व उत्पादन विकास दर जब केवल 1.0 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी, वर्तमान में यह 3.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष है। जब जनसंख्या की वृद्धि 2.1 प्रतिशत प्रतिवर्ष है, तब उत्पादन विकास दर अच्छा ही जायेगी। परन्तु विकास का लाभ अमीरों को अधिक और गरीबों को कम मिला है। हमारी अधिक जनसंख्या क्योंकि निर्धन है, अतः जन्म दर अब भी बहुत अधिक है जिस कारण जनसंख्या में वृद्धि निरन्तर बनी रही है।

विवाह के समय कम आयु

हमारे देश में बाल विवाह सामान्य है। 1931 की जनगणना के अनुसार भारत में 72 प्रतिशत विवाह 15 वर्ष की आयु के पहले और 34 प्रतिशत दस वर्ष की आयु के पहले हुए। तब से स्त्रियों और पुरुषों दोनों के विवाह की औसत आयु बराबर बढ़ी है। स्त्रियों के विवाह की औसत आयु 1901 में 13.1 से बढ़कर 1911 में 13.2, 1921 में 13.1, 1931 में 13.7, 1941 में 14.7, 1951 में 1.6, 1961 में 16.1, 1971 में 17.2 और 1981 में 17.6 थी। 1994 में यह आयु औसत 18.1 मानी जा रही है। इसके सामने पुरुषों के विवाह की औसत आयु 1901 में 20.0 से बढ़कर 1921 में 20.7, 1951 में 19.9, 1961 में 21.4, 1971 में 22.2 और 1981 में 22.6 थी। 1994 में यह औसत 23.1 आंकी जा रही है। इस प्रकार यद्यपि विवाह की औसत आयु निरन्तर बढ़ रही है फिर भी आज कई लड़कियां ऐसी आयु में विवाह करती हैं जब कि वे सामाजिक, भावात्मक, शारीरिक और कालानुक्रम रूप से विवाह के योग्य नहीं होती। उपर्युक्त चारों दृष्टिकोणों से समाजशास्त्रीय दृष्टि से लड़की की सही आयु 21–23 वर्ष और लड़के के लिए 24–26 वर्ष मानी जाती है। शिशु मृत्यु दर का सीधा संबंध विवाह के समय स्त्रियों की आयु से है। यदि हम विवाह के समय स्त्रियों को आयु के हिसाब से तीन समूहों में विभाजित करें अर्थात् 18 से कम, 18–20 और 21 और उसके ऊपर, तो हम पायेंगे कि ग्रामीण क्षेत्रों में इन तीनों समूहों में प्रत्येक में शिशु मृत्यु दर क्रमशः 141, 112 और 85 थी और शहरी क्षेत्रों में यह क्रमशः 78, 66 और 46 थी। यदि हम जनन-क्षमता की दरों का आयु-समूहों से मिलान करें तो हम पायेंगे कि जैसे-जैसे आयु-समूह बढ़ता है, वैसे-वैसे जनन-क्षमता की दर कम होती जाती है। यदि जनसंख्या की वृद्धि को कम करना है तो स्त्रियों के विवाहों को 18–21 आयु-समूह की अपेक्षा 21–24 के आयु-समूह में ज्यादा अच्छा समझा जाना चाहिए।

घोर निरक्षरता

परिवार नियोजन का स्त्रियों की शिक्षा से सीधा संबंध है और स्त्रियों की शिक्षा का सीधा संबंध है विवाह के समय आयु से, स्त्रियों की आम प्रतिष्ठा से, उनके जनन-क्षमता के आचरण से, और शिशु मृत्यु दर आदि से। 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में कुल साक्षरता प्रतिशतता दस वर्ष पहले 43.56 की तुलना में अब 52.11 है। पुरुषों की साक्षरता प्रतिशतता 63.86 है जब कि स्त्रियों की 39.42 है। शिक्षा एक व्यक्ति को उदार, नये विचारों को ग्रहण करने वाला और तार्किक बनाती है। यदि स्त्री और पुरुष दोनों शिक्षित हैं तो वे परिवार नियोजन के तर्क को आसानी से समझ लेंगे, परन्तु यदि उनमें से एक या दोनों निरक्षर हैं तो वे अधिक रूढ़ीवादी, अतार्किक और धार्मिक विचारों के होंगे। यह बात इस से स्पष्ट हो जाती है कि केरल जहां (1991 में) कुल साक्षरता दर 90.59 प्रतिशत थी और स्त्रियों की साक्षरता दर 86.93 प्रतिशत थी, वहां जन्म दर सबसे कम (22.4 प्रति हजार) है जबकि राजस्थान में जहां स्त्रियों की साक्षरता दर (1991 में) बहुत ही कम है वहां जन्म दर का अनुपात काफी बड़ा था इसी प्रकार कम उत्तरप्रदेश में और मध्यप्रदेश आता है। ये सांख्यिकीय आंकड़े दूसरे अधिकांश राज्यों पर भी लागू होते हैं।

परिवार नियोजन के प्रति धार्मिक विचार

जो व्यक्ति धर्म के मामले में परम्परागत और रूढ़ीवादी विचार रखते हैं वे परिवार नियोजन के उपायों के उपयोग के विरुद्ध होते हैं। ऐसी स्त्रियां देखने को मिलती हैं जो परिवार नियोजन की इसलिये पक्षधर नहीं है कि वे भगवान की इच्छाओं के विरुद्ध नहीं जा सकती। ऐसी भी कुछ स्त्रियां हैं जो यह दलील देती हैं कि स्त्री के जीवन का उद्देश्य बच्चों को जन्म देना है। दूसरी स्त्रियां निष्क्रिय रुख अपनाती हैं। भारतीय मुसलमानों में हिन्दुओं की अपेक्षा जन्मदर अधिक है।

अपर्याप्ता प्रेरणा

उच्च वर्ग के लिए बड़े परिवार का होना कोई समस्या नहीं है और निम्न वर्ग के लिए भी कमाने वाले व्यक्तियों के अधिक होने से बड़े आकार का परिवार लाभदायक ही होता है। इस कारण निम्न वर्ग का परिवार, परिवार नियोजन के प्रोग्राम सम्बन्धी नारे को कोई महत्व नहीं देता। इनकी प्रेरणा के लिए इनकी आर्थिक उन्नति आवश्यक है जो उनके विचारधारा को बदलेगी और यह तथ्य स्वीकार करायेगी कि बच्चों की शिक्षा व रहन-सहन का उच्च स्तर ही इनके भविष्य को सुधारेगा। निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा विशेष कर लड़कियों के लिए, प्राथमिक स्वास्थ्य देखरेख, तथा नये व्यवसाय अपनाने के लिए प्रशिक्षण जैसे कार्यक्रम ही उनको छोटे परिवार के लिए प्रेरित करने के सही साधन होंगे।

अन्य कारण

जनसंख्या में वृद्धि के जिम्मेवार कुछ अन्य कारण भी हैं – संयुक्त परिवार प्रणाली और इन परिवारों में बच्चों को पालने की युवा दम्पतियों में जिम्मेवारी का अभाव, मनोरंजन की सुविधाओं का अभाव, और पूरी जानकारी न होने के कारण पुरुष अपनी पत्नी को बन्ध्याकरण के लिए मनाता है। भारत में शस्त्रचिकित्सीय गर्भरोध पद्धतियों के प्रयोग करनेवाले व्यक्तियों में 80 प्रतिशत बन्ध्याकरण पद्धति को ही अपनाते हैं। यह आवश्यक है कि टी.वी., रेडियो, समाचार-पत्रों आदि द्वारा पुरुषों को सही तथ्य पहुंचाकर शिक्षित किया जाये। कई गरीब स्त्रियां अधिक बच्चें पैदा करती हैं इसलिये नहीं कि उन्हें ज्ञान नहीं है, परन्तु इसलिये कि उन्हें इनकी आवश्यकता

होती है। यह इस बात से स्पष्ट है कि हमारे देश में लगभग चार-पांच करोड़ बाल-मजदूर हैं।

जनसंख्या विस्फोट के परिणाम

जनसंख्या के विकास का व्यक्तियों के जीवन-स्तर से सीधा संबंध है। यही कारण है कि स्वतंत्रता के पश्चात् कृषि और औद्योगिक क्षेत्रों में अपूर्व प्रगति के उपरान्त भी हमारी प्रति व्यक्ति आय पर्याप्त मात्रा में नहीं बढ़ी है। हमारे नगरों में विस्मित कर देने वाली भीड़-भाड़ ने परिवहन, बिजली और दूसरी सेवाओं को वस्तुतः ध्वस्त कर दिया है। उस पर कोई रोक नहीं है और गंदी बस्तियां में भी बढ़ोतरी हो रही है। इससे शहरी और अर्ध-शहरी क्षेत्रों में अपराध और झगड़े बढ़े हैं। यह सब हमारे देश में 1.7 करोड़ व्यक्तियों के प्रतिवर्ष बढ़ जाने का परिणाम है। यदि इसी दर से जनसंख्या बढ़ती रही तो कुछ ही दशकों में हमारे पास बेरोजगारों, भूखे और निराश व्यक्तियों की एक फौज खड़ी हो जायेगी जो कि देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रणालियों और संस्थाओं की जड़ों को हिला देगी। सभी क्षेत्रीय मांगों का एक संख्यात्मक अयाम होता है। चाहे वे शिक्षा हो या नियोजन, स्वास्थ्य, आवास, पानी की सप्लाई हो या और कोई क्षेत्र हो, चिरस्थायी प्रश्न यह है कि कितनों के लिये ? यह अनुमान लगाया गया है कि हमारे देश में लगभग 1.35 करोड़ व्यक्तियों की बढ़ोतरी पर हमें 1.35 लाख प्राथमिक एवं माध्यमिक स्कूल 10,000 उच्च माध्यमिक स्कूल, प्राथमिक स्कूल और माध्यमिक स्कूलों के लिये 5 लाख अध्यापक, उच्च माध्यमिक स्कूलों के लिये 1.5 लाख अध्यापक, 4000 अस्पताल और डिस्पेंसिरियां, 1500 प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र, दो लाख अस्पताल के पलंग 50,000 डॉक्टर, 25,000 नर्स, 20 लाख टन अनाज, 25,000 मीटर कपड़ा और 27 लाख मकान की आवश्यकता होगी।

जनसंख्या नीति

‘नीति’ एक कार्य योजना है, लक्ष्यों और आदर्शों का विवरण है, विशेष तौर पर वह जो एक सरकार या राजनीतिक दल आदि बनाती है। “वर्तमान और भविष्य के निर्णयों का पथ प्रदर्शन करती है।” जनसंख्या नीति” अति सीमित अर्थ में यू.एन.ओ. के अनुसार “जनसंख्या के आकार, संरचना, वितरण और विशेषताओं को प्रभावित करने का एक प्रयत्न है। अधिक व्यापक दायरे में वह उन आर्थिक और सामाजिक स्थितियों, जिनके जनांकिकी परिणाम होने की संभावना होती है, को नियंत्रित करने के प्रयत्नों को सम्मिलित करती है।” डोरोथी नोर्टमेन ने सीमित अर्थ को ‘अप्रत्यक्ष नीति’ कहा है जो कि विशेषताओं को परोक्ष रूप से प्रभावित करती है और कभी कभी तो उसके उद्देश्य भी स्पष्ट नहीं होते।

जनसंख्या नीति भी आती है, भविष्य की ओर एक कदम है और इच्छित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये एक प्रयास है। इसलिये इसके निर्धारण में लक्ष्यों और लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये विगत और वर्तमान प्रवृत्तियों को महत्व देना होगा। इसके अलावा उन सामाजिक परिस्थितियों को भी जो इन प्रवृत्तियों को दिशा और तीव्रता प्रदान करती है, तथा संभावित भविष्य की रूप-रेखाओं और इच्छित लक्ष्यों पर पहुंचने में उन विकल्पों को भी ध्यान देना होगा जिनकी प्राप्ति की भी संभावना है। इसका अर्थ यह होता है कि नीति (जनसंख्या) को सहभागियों, मूल्यों या लक्ष्यों संस्थाओं और संसधानों से सम्बद्ध किया जाना चाहिए।

इस प्रकार दो तरह की जनसंख्या नीतियों का सुझाव दिया जा सकता है —

- (अ) प्रसव-विरोधी नीति जिसका उद्देश्य जनसंख्या की वृद्धि को कम करना है,
- (ब) वितरण संबंधी नीति जो जनसंख्या के वितरण संबंधी असंतुलनों का विवेचन करती है।

नेशनल एकेडमी आफ साइन्सेज के अनुसार जनसंख्या नीति वह है —

- (अ) जो पूर्व निर्धारित उद्देश्यों के अनुसार जनांकिकी प्रक्रिया पर प्रभाव डालती है (उदाहरणार्थ, व्यक्तियों को नगरों से उपनगरों में बसने के लिये प्रेरित करना),
- (ब) जो उन मांगों पर जो जनांकिकी प्रक्रियाओं से उत्पन्न होती हैं, विचार करती है (उदाहरणार्थ, व्यक्तियों को उपनगरों में मूल सुविधाएं उपलब्ध कराना)।

भारत जैसे विकासशील देश की जनसंख्या नीति को ये लक्ष्य बनाने पड़ेंगे —

1. संख्या को घटना,
2. जनता में जागरूकता उत्पन्न करना,
3. आवश्यक गर्भ निरोधक वस्तुओं को प्राप्त करना,
4. कानून बनाना जैसे गर्भपात को वैध करवाना,
5. प्रोत्साहन और निरुत्साहन देना।

दूसरी ओर, उसके ये भी लक्ष्य होने चाहिये—

- (अ) घनी आबादी वाले क्षेत्रों में व्यक्तियों के केन्द्रीकरण पर रोक लगाना,
- (ब) नये क्षेत्रों में लोगों को कारगर ढंग से बसाने के लिये सार्वजनिक सेवाएं और सुविधाएं उपलब्ध कराना,
- (स) कार्यालयों को कम आबादी वाले क्षेत्रों में ले जाना।

जनसंख्या नीति को बनाने के लिये विशेषज्ञों की समितियों और आयोगों का गठन किया जाना चाहिए जिनमें वे एक दूसरे से विचार-विमर्श करके, सलाह लेकर और अध्ययन करके नीति तैयार कर सकें। फिर वह विभिन्न कार्यक्रमों द्वारा कार्यान्वित कर उसके बाद उसका समय-समय पर मूल्यांकन किया जाये।

भारत की जनसंख्या नीति निम्नांकित बातों को ध्यान में रख कर बनाई गई हैं —

- (अ) जनसंख्या का पूर्ण आकार,
- (ब) विकास की ऊँची दर,
- (स) जनसंख्या का ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में अनियमित वितरण।

चूँकि भारतीय नीति का लक्ष्य था 'जीवन को गुणात्मक रूप से ऊपर उठाना, और 'व्यक्ति की सुख-शान्ति को बढ़ाना, इसलिये वह व्यक्तियों की व्यक्तिगत सिद्धि और सामाजिक प्रगति के प्राप्ति के बड़े उद्देश्य को प्राप्त करने की एक साधन बन गई। आरम्भ में 1952 में बनाई गई नीति तदर्थ, लचीली और प्रयास एवं भूल पद्धति पर आधारित थी। धीरे-धीरे उसमें अधिक वैज्ञानिक योजना का समावेश हुआ। राष्ट्रीय योजना समिति (जिसे 1938 में इन्डियन नेशनल कांग्रेस ने नियुक्त किया) ने 1940 में डॉ. राधाकमल मुखर्जी की अध्यक्षता में जनसंख्या पर जिस उपसमिति को निर्मित किया उसने आत्मसंयम, संतति नियंत्रण के लिए सस्ते और निरापद तरीकों की जानकारी फैलाने और संतति-निग्रह चिकित्सालयों को खोलने पर बल दिया। उसने विवाह की आयु बढ़ाने, बहु-विवाह को रोकने, आनुवांशिक रोगों से ग्रसित व्यक्तियों को बन्ध्य करने के लिये एक सुजननिक कार्यक्रम बनाने की अनुशंसा भी की। 1943 में सरकार द्वारा नियुक्त भोर कमेटी ने आत्मनियंत्रण के तरीके की निन्दा की और 'परिवारों की संकल्पित परिसीमन का समर्थन किया। स्वतंत्रता के पश्चात 1952 में एक जनसंख्या नीति समिति का और 1953 में एक परिवार नियोजन शोध और परियोजना समिति का गठन किया गया। 1956

में केन्द्रीय परिवार नियोजन बोर्ड स्थापित किया गया जिसने बाध्याकरण पर बल दिया। साठ के दशक में जनसंख्या के विकास को यथोचित समय में स्थिर करने के लिये एक अधिक सशक्त परिवार नियोजन कार्यक्रम की वकालत की गई। आरम्भ में सरकार का विश्वास था कि लोगों में परिवारनियोजन कार्यक्रम के प्रतिकाफी उत्साह है और सरकार को गर्भनिरोध की केवल सुविधाएं ही उपलब्ध करवानी है परन्तु बाद में यह आभास हुआ कि लोगों में प्रेरणा की आवश्यकता है और जनता को इस बारे में शिक्षित करना पड़ेगा। चौथी पंचवर्षीय योजना (1969-74) के प्रमुख उद्देश्य वार्षिक जन्मदर को 1974 के वर्ष तक घटा कर परिवार नियोजन को उँची प्राथमिकता दी गई। 1971 में 'मेडिकल टर्मिनेशन आफ प्रेगनेन्सी एक्ट' बनाया गया। पांचवीं पंचवर्षीय योजना में परिवार नियोजन कार्यक्रम का मां और शिशु स्वास्थ्य कार्यक्रमों के साथ एकीकरण किया गया। 1976 में भारत सरकार ने जनसंख्या नीति की घोषणा की जिसका लोकसभा ने अनुमोदन किया। उसके अनुसार छटी पंचवर्षीय योजना के अन्त तक जन्मदर को घटाकर 25 प्रति हजार करना था। तथापि, आपातकाल के समय लोगों को नसबंदी करने के लिये जबरदस्ती भी की गई जिससे परिवार नियोजन कार्यक्रम को धक्का लगा। 1980 के बाद से सरकार इस कार्यक्रम को चलाने में अधिक सावधानी बरत रही है।

परिवार नियोजन

भारत पहला देश था जिसने 1950 के दशक में सरकार के सहारे से चलाये जाने वाला परिवार नियोजन कार्यक्रम तैयार किया जब कि विश्व के शेष भाग इस समस्या से अपरिचित थे। फिर भी आज 44 वर्ष पश्चात भारत जनसंख्या नियंत्रण में पीछे चल रहा है। 1975 और 1977 के बीच कुख्यात आपातकालीन शासनकाल में, राजनीतिक नेता और उनके कई अंतरंग मित्र, सरकारी अधिकारीगण नसबंदी की वकालत कर रहे थे। उन्होंने महत्वाकांक्षी कार्यक्रम बनाये और जनता की इच्छा के विरुद्ध उनको कर्तव्यवित किया और नसबंदी के लिये इतने सख्त और बाध्य करने वाले तरीके अपनाये कि आज कोई जनता से परिवार नियोजन के बारे में बात करने को राजी नहीं होता। संबंधित अधिकारी उससे कतराते हैं। विशेषज्ञों ने लक्ष्य प्राप्त करने की आशा को धूमिल कर दिया है। वास्तव में देश के पास कोई प्रभावी कार्यक्रम अथवा प्रभावी लक्ष्य नहीं है। राजनीतिक दल इस विषय से सावधानी से किनारा काटते हैं और इस विषय में एक शब्द भी बोले बगैर चुनाव अभियान चलाये जाते हैं। इस प्रकार जो कभी बहुत भी प्रभावशाली राजनीतिक मामला था वह एकाएक गौण हो गया। 1977 में परिवार नियोजन का नाम बदल कर परिवार कल्याण कर दिया गया और ऐसे कार्य जो उसके सामर्थ्य के बाहर थे, जैसे परिवार कल्याण के समूचे पहलू जिसमें महिलाओं के शैक्षिक स्तर में सुधार भी सम्मिलित था, इसमें सम्मिलित कर दिये गये। परिवार नियोजन में भारत ने यू.एन.एफ.पी. के नियम को अपनाया जिसके अनुसार पहले बच्चे में देरी और आगे वाले बच्चों में अन्तराल करना होता है। परिवार नियोजन में जो तरीके अपनाये जाते हैं वे हैं — नसबंदी, वासक्टमी, गोलियां, विदड्रोअल, रिदम, शीद और डयफ्रम। गोलियां उँचे सामाजिक-आर्थिक समूहों में सर्वाधिक लोकप्रिय हैं, विदड्रोअल और शीद मध्यम सामाजिक-आर्थिक समूहों में और बन्धीकरण निम्न सामाजिक वर्ग में ज्यादा पसन्द किया जाता है। परिवार नियोजन के लिये आपरेशन सामाजिक दृष्टिकोण से समृद्ध व्यक्तियों में अधिक लोकप्रिय नहीं है क्योंकि यह समूह संतति-निग्रह के दूसरे तरीके से अधिक प्रभावित है। स्त्रियों की बड़ी संख्या एक से अधिक तरीकों का इस्तेमाल करती है और यह परिस्थितियों, उपलब्धता और समय की मनःस्थिति पर निर्भर करता है।

परिवार नियोजन के प्रति अभिवृत्तियां

सामान्य भारतीय स्त्री को परिवार नियोजन का विचार बेचा जा चुका है। परिवार नियोजन के प्रति स्त्री के रुख पर दूसरे कारकों के साथ-साथ शिक्षा, आयु, वेतन की पृष्ठभूमि, पति का व्यवसाय, स्त्री की नौकरी की प्रतिस्थिति का भी प्रभाव पड़ता है। आयु की दृष्टि से यह पाया गया है कि परिवार नियोजन का अनुमोदन करने वालों का प्रतिशत अधिक आयु समूहों में कम होता है। परन्तु अधिक आयु समूहों में भी दो तिहाई इसका अनुमोदन करती हैं। इससे यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि आयु का ध्यान किये बगैर भारतीय स्त्रियों का एक बड़ा बहुमत परिवार नियोजन का अनुमोदन करती है। इससे यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि आयु का ध्यान किये बगैर भारतीय स्त्रियों का एक बड़ा बहुमत परिवार नियोजन का अनुमोदन करता है। खन्ना और वर्गिस द्वारा परिवार नियोजन के प्रति भारतीय स्त्रियों के रुख पर किया गया एक सर्वेक्षण यह बतलाता है कि परिवार नियोजन का अनुमोदन नहीं करने वाली 15-24 के बीच की आयु की स्त्रियों की प्रतिशतता 10.0 से कम थी। यह आंकड़ा आयु के साथ बढ़कर 45 वर्ष के ऊपर वाली स्त्रियों में 36 पर पहुंच गया। शोधकर्ताओं ने यह भी पाया कि जहां परम्परा से लगाव रखने वाली स्त्रियाँ अपने को 'भाग्य' पर छोड़ देती हैं, वहीं युवा, शिक्षित, और अधिक जानकारी स्त्रियाँ परिवार के आकार में अत्यधिक दिलचस्पी दिखाती हैं। खन्ना और वर्गिस के सर्वेक्षण ने यह बतलाया था कि परिवार नियोजन का समर्थन शिक्षा से संबंधित है। 40 प्रतिशत स्त्रियाँ जो प्राथमिक स्कूल शिक्षा या उससे नीचे की शिक्षा प्राप्त थी, परिवार नियोजन का समर्थन नहीं करती थीं। यदि शैक्षिक स्तर माध्यमिक स्कूल के स्तर तक भी बढ़ जाता है तो प्रतिशतता 14 तक गिर जाती है। यह बतलाता है कि शिक्षा परिवार नियोजन के प्रति रुख में बहुत भारी परिवर्तन लाती है। यदि किसी स्त्री को परिवार नियोजन के तरीकों की जानकारी नहीं होती है तो वह रुढ़ीवादी बनी रहती है और अंधविश्वासों और आशंका में लिप्त रहती है। अनौपचारिक शिक्षा भी परिवार नियोजन के उपायों के उपयोग पर प्रभाव डालती है। कई युवा स्त्रियाँ परिवार नियोजन के पक्ष में हैं परन्तु इसके बारे में कि यह कैसे अपनाया जाये, वे नहीं जानती। पति की निरक्षरता भी इसमें बाधा डालती है क्योंकि उन्हें परिवार को नियोजित करने की चिन्ता नहीं होती।

चूंकि निरक्षरता हमारे समाज के अधिक दरिद्र समूहों में है इसलिये यह देखा जाता है कि निचले स्तर की कम पढ़ी लिखी स्त्रियाँ परिवार नियोजन के तरीकों को मानने के लिये अनिच्छुक हैं। उनका तर्क यह होता है कि क्योंकि उनके पास पैसे का सहारा नहीं है इसलिये उनके बच्चों की कमाई ही उन्हें जीवित रहने की आशा प्रदान करती है। एक सामान्य भारतीय दम्पति तीन बच्चों से कम से संतुष्ट नहीं होता। बार-बार देश के विभिन्न भागों में हुए अध्ययन इसको सिद्ध करते हैं। कुछ वर्ष पूर्व स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय के तत्वाधान में एक ऊँचे पैमाने पर सर्वेक्षण किया गया और उसमें 32,000 सूचनादाता सम्मिलित हुए। वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि अधिकांश दम्पति न केवल तीन या उससे अधिक बच्चे चाहते हैं, पर वे यह भी चाहते हैं कि उनमें से दो लड़के हों।

एक तथ्य यह है कि यद्यपि पुरानी पीढ़ी का रुख निष्क्रिय निस्सहायता का रहता है। परन्तु वे चाहते हैं, कि उनकी पुत्रियों के कम बच्चे हो और वे संतति-निग्रह के तरीकों को अपनाएं। ग्रामीण क्षेत्रों में देखा गया है कि छह बच्चों वाली स्त्री अपनी विवाहित बेटी के तीसरा बच्चा होने पर उसे बाध्य करती है कि वह प्रसूति को रोकने के लिये आपरेशन करवा ले। शहरी क्षेत्रों में विशेषकर संयुक्त परिवार व्यवस्था के टूटने के पश्चात एकाकी परिवारों की स्त्रियाँ बच्चों के पालने में बड़ी कठिनाई का अनुभव करती हैं। नौकर एक समस्या होते हैं

और सास-ससुर से या अपनी मां से कहीं-कहीं मदद मिलती है। मकान भी प्रायः एक समस्या खड़ी कर देते हैं और उपयोगी वस्तुओं की कमी रहती है। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि शहरी स्त्रियों जो कम उम्र वाले समूह में होती हैं, परिवार नियोजन तरीकों की पक्षधर होती हैं जिससे कि वे अपना ध्यान अपनी जीविका पर लगा सकें। यद्यपि बड़ी संख्या में स्त्रियां परिवार नियोजन का अनुमोदन करती हैं। फिर भी उनमें से केवल आधी ही वास्तव में उसके अनुसार आचरण करती हैं। खन्ना और वर्गिस के सर्वेक्षण दर्शाया कि जितना स्तर नीचे होता है उतनी ही स्त्रियां परिवार नियोजन के तरीकों से अनभिज्ञ होती हैं। उनके सर्वेक्षण में ऊँचे सामाजिक आर्थिक स्तर के गर्भनिरोधकों के प्रयोग करने वालों का प्रतिशतता 75.0 से मध्यम स्तर पर घट कर 56.0 हो गया और निम्न सामाजिक आर्थिक समूह में इससे भी घटकर 19.5 हो गया। यह महत्वपूर्ण है कि निम्न और मध्यम स्तरों की स्त्रियों को आर्थिक रूप से सम्पन्न स्त्रियों की अपेक्षा अधिक प्रभावी ढंग से परिवार नियोजन कार्यक्रम में सम्मिलित किया जाना चाहिए।

राष्ट्रीय विकास परिषद की जनसंख्या सम्बन्धी उप-समिति ने एक सुझाव दिया है कि जन-प्रतिनिधि कानून में संशोधन करके जिन व्यक्तियों को दो से अधिक सन्तान है, उन्हें संसद और राज्य विधान सभा चुनाव के लिए अयोग्य घोषित कर दिया जाना चाहिये। यदि यह सुझाव स्वीकृत हो जाता है तो परिवार नियोजन प्रोग्राम में यह एक क्रांतिकारी प्रयास होगा। राजस्थान सरकार ने 1992 में राजस्थान पंचायत एक्ट को संशोधित करके यह प्रावधान रखा है कि जिन व्यक्तियों के दो से अधिक बच्चे हैं, वे पंचायतों के लिए चुनाव नहीं लड़ सकेंगे। यदि पंचायत सदस्य होने के पश्चात व्यक्ति को तीसरी सन्तान होती है तो उसकी सदस्यता स्वतः ही समाप्त हो जायेगी।

जनसंख्या विस्फोट को नियन्त्रित करने के उपाय

राज्यों का खंडों और क्षेत्रों में विभाजन

देश में पिछले साढ़े चार दशकों में विकास भी बहुत हुआ है। प्रति व्यक्ति उपभोग में 50 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई है, बाल मृत्यु दर में कमी आई है, साक्षरता दर में विस्तार हुआ है, औसत पोषण स्तर में उन्नति हुई है, और जीवन प्रत्याशा में भी वृद्धि मिलती है। परन्तु इस प्रगति के उपरान्त भी भूख से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या 17 करोड़ के आसपास आंकी गयी है, अशिक्षित व्यक्तियों की संख्या 32.4 करोड़ है, मातृ मृत्यु दर बढ़ी है और लगभग 1.25 लाख महिलाओं की प्रतिवर्ष गर्भावस्था और बाल-जन्म से मृत्यु होती है। क्या ये सब चिन्ता के विषय नहीं हैं ? अगर निर्धन व्यक्तियों की जीवन स्तर को सुधारना है, तो क्या जनसंख्या वृद्धि को कम करना आवश्यक नहीं होगा ? कम बच्चों की संख्या और बच्चों में अन्तराल से माता और बच्चे के स्वास्थ्य को भी लाभ पहुंच सकेगा। हमारे देश में जनसंख्या विस्फोट का जारी रहना कुछ आत्मपरीक्षण चाहता है। सरकार इस समस्या के आकार से परिचित है और सोचती है कि चौंकाने वाली जनसंख्या वृद्धि राष्ट्र और सरकार के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती है। परन्तु परिवार नियोजन के क्षेत्र में निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये 1976-77 में अपनाये गये सख्त उपायों के सरकार के अनुभव ने आने वाली सरकारों को अत्यन्त सतर्क कर दिया है। बड़ौदा के आपरेशन रिसर्च ग्रुप के दो जनसंख्या विशेषज्ञों ने फरवरी, 1990 के अध्ययन में बतलाया है कि इस समस्या से किस प्रकार निबटा जा सकता है। जनन-क्षमता के संरूप के आधार पर उन्होंने देश के 350 जिलों को 16 खण्डों और चार क्षेत्रों/इलाकों में बांटा है। उन्होंने ऐसे जिलों और खण्डों की पहचान की है जो परिवार नियोजन का

जनन क्षमता की दरों पर स्पष्ट प्रभाव दर्शाते हैं। उन्होंने ऐसे क्षेत्रों की भी पहचान की है जहां परिवार नियोजन के लिये कोई प्रयत्न नहीं किये जाने के बावजूद ये दरें नीची रही हैं और उन क्षेत्रों को भी जो दुष्कर क्षेत्र हैं जहां अधिकतम प्रयास की आवश्यकता है। 1990 के सर्वेक्षण ने बतलाया है कि अधिक जनन क्षमता के क्षेत्र हैं अरुणाचल प्रदेश (जन्मदर 35.2), बिहार (34.4), हरियाणा (34.8), मध्य प्रदेश (35.1), उत्तरप्रदेश (37.0) और राजस्थान (33.9)। क्षेत्रीय पद्धति से किया गया उपागम परिवार नियोजन कार्यक्रम के क्रियान्वयन में आई कमियों को दूर करने में सहायता करेगा ऐसी आशा की जाती है।

नये गर्भनिरोधक की तलाश

नये, सस्ते, उपयोग में आसान और अहानिकर गर्भनिरोधक की तलाश को अभी तक विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई है। यद्यपि गोलियों का प्रचलन काफी हो गया है और यह हरियाणा, मध्यप्रदेश, पंजाब, पश्चिम बंगाल, गुजरात, और उड़ीसा में बढ़ता जा रहा है फिर भी यह आवश्यक है कि भारतीय जड़ी बुटियों का उनका प्रभाव जानने के लिये गहन अनुसंधान किया जाना चाहिए। अंडमान और निकोबार द्वीप समूहों की कुछ जनजातियों जिनमें जनन-क्षमता की दर बहुत कम है, की स्वास्थ्य स्थिति और आहार-संबंधी आदतों पर भी सशक्त अनुसंधान अपेक्षित समाधान प्रदान कर सकता है।

कम आयु में विवाह पर नियन्त्रण

विवाह की आयु और परिवार के आकार का परिवार नियोजन के प्रति दृष्टिकोण से सीधा सम्बन्ध है। केरल में हुए एक अध्ययन से स्पष्ट हुआ कि 1970 के मध्य में विवाह की औसत आयु अधिक हो गई। 1969 में 15-19 वर्षों के आयु-समूह की विवाहित स्त्रियों की संख्या 30.0 प्रतिशत थी, जब कि 1974 में वह घटकर 14.0 प्रतिशत हो गई। जो स्त्रियां 20-24 आयु-समूह में थी, जब कि 1974 में घटकर 56.0 प्रतिशत हो गई। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से केरल में जन्मदर में अत्यधिक कमी का यह एक महत्वपूर्ण कारण है। इस प्रकार विवाह की आयु को बढ़ाने से दूसरे राज्यों में भी निश्चित रूप से परिवार का आकार छोटा हो सकता है। इसके लिये आवश्यक जनजागरण उत्पन्न करने की आवश्यकता है। सामाजिक प्रतिमानों में परिवर्तन लाने की समस्या अत्यन्त कठिन है। ग्रामीण क्षेत्रों में बच्चों की संख्या, और विशेषकर लड़कों की संख्या महत्वपूर्ण समझी जाती है क्योंकि वे बुढ़ापे के संभावित आश्रयदाता माने जाते हैं। प्रौढ़ शिक्षा के उपाय कदाचित इन क्षेत्रों में भी आवश्यक जागरूकता उत्पन्न कर सकते हैं।

आर्थिक विकास

आर्थिक विकास एक उत्कृष्ट गर्भनिरोधक सिद्ध हो सकता है। मांग और आपूर्ति के विशुद्ध आर्थिक सिद्धान्त के अनुसार हमें किसी भी कीमत पर परिवार नियन्त्रण करना है। किसी भी आर्थिक समीकरण को संतुलित करने के लिए हम या तो आपूर्ति को बढ़ा सकते हैं जो कि विभिन्न सेवाओं और पदार्थों की मांग कर रहे व्यक्तियों की संख्या पर निर्भर है। उदाहरण के तौर पर आपूर्ति के दृष्टिकोण से, 1.7 करोड़ व्यक्तियों के लिये जो प्रतिवर्ष हमारे देश की जनसंख्या में जुड़ जाते हैं तीस लाख मकान बनाने के लिये हमें 3,000 करोड़ रुपये का वार्षिक लागत की आवश्यकता है, यह मानते हुए कि एक छोटा मकान बनाने में केवल 10,000 रुपये लगेंगे। परन्तु यदि इस समस्या को मांग के दृष्टिकोण से देखा जाये और यदि जनसंख्या नियंत्रण की प्रभावशाली

रणनीति के द्वारा जनसंख्या में 1.7 करोड़ के वार्षिक जोड़ को हम रोक दें तो तीस लाख मकानों की मांग या मकानों के बनाने के लिये 3,000 करोड़ रुपये प्रतिवर्ष की मांग समाप्त हो जायेगी। इस प्रकार मांग को कम करना इतना ही अच्छा है जितना आपूर्ति को बढ़ाना। यह आपूर्ति और मांग को बिना किसी कीमत के संतुलित करना है, और यह कीमत—मुक्त समाधान है जिसकी हम खोज में हैं। जो मकान पर लागू होता है वही शिक्षा, नौकरियों, परिवहन और स्वास्थ्य के क्षेत्रों पर भी लागू होता है। प्रत्येक समस्या को मांग के दृष्टिकोण से निबटना बहुत लाभकर होगा।

इस उपागम का एक दूसरा महत्वपूर्ण आयाम है। यदि आपूर्ति के दृष्टिकोण से इस समस्या को देखते हैं तो यह दूसरे क्षेत्रों में भी अलग मांग को बढ़ावा देगी। उदाहरणार्थ, यदि हम मकानों की संख्या बढ़ाते हैं तो उससे सीमेंट, ईंटों, लकड़ी के माल और बिजली के सामान की मांग भी बढ़ेगी। परन्तु यदि इस समस्या का उपागम मांग के दृष्टिकोण से होता है तो इससे अपेक्षित मकानों की संख्या कम हो जायेगी और दूसरे सभी क्षेत्रों में भी दबाव कम हो जायेगा।

निष्कर्ष

हमारी सरकार की जनसंख्या नीति का उद्देश्य न केवल व्यक्तियों की संख्या की अनियंत्रित वृद्धि (जनसंख्या विस्फोट) पर अंकुश लगाना होना चाहिये अपितु जनसंख्या के अनियंत्रित आने—जाने को रोकना और शहरी क्षेत्रों में व्यक्तियों के बढ़ते हुए केन्द्रीकरण को रोकना और व्यक्तियों के पंचमेल मिश्रण के लिये पर्याप्त आवास, स्थान और आकर्षक पर्यावरण उपलब्ध कराना भी होना चाहिये। इन लक्ष्यों को ऐसी नीतियों, जिनका उद्देश्य जनसंख्या नियंत्रित करना है और भौतिक और मानव संसाधनों को लाभप्रद कार्यों में लगाने की योजना बनाना है, के सृजन और क्रियान्वयन से संयुक्त रूप से जोड़ देना पड़ेगा। इस प्रकार जनसंख्या वृद्धि अपने आप में भले ही समस्या नहीं लगे परन्तु यदि उसे संसाधनों की उपलब्धता से जोड़ दिया जाये तो यह चिन्ता का विषय बन जायेगी।

वास्तव में जनसंख्या वृद्धि को नियन्त्रित करने के लिये विकास सबसे अच्छा है तो विकास का एक अचूक नुसखा है 'परिवार नियोजन कार्यक्रम के फिर से पैर जमाने के लिये कई प्रकार के उपाय करने पड़ेंगे। जबरदस्ती से काम नहीं बनेगा, समझाने—बुझाने से ही सफलता मिलेगी। कानूनी उपाय सहायक हो सकते हैं, परन्तु जो अत्यावश्यक है वह है सामाजिक चेतना एवं भागीदारी जो उत्तरदायित्वपूर्ण पितृत्व उत्पन्न करे। आनुपातिक जनांकिकी परिणाम प्राप्त करने के लिये परिवार नियोजन कार्यक्रम में नसबंदी पर अथक बल देने के स्थान पर अंतरालन पद्धति को प्रोत्साहन देना चाहिये। इस लक्ष्य की प्राप्ति केवल अंतराल पद्धति को प्रोत्साहन देकर और लड़कियों का विवाह 21 वर्ष की आयु के बाद करने से ही हो पायेगा।

परिवार नियोजन जनसंख्या विस्फोट को नियन्त्रित करने की महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के अतिरिक्त स्त्रियों की सामान्य स्थिति सुधारने में भी सहायता करेगा। एक स्त्री जिसे कई बच्चों का पालन—पोषण करना पड़ता है और जिसे बार—बार प्रसव कराना पड़ता है, को अधिक समय मां और पत्नि के रूप में व्यतीत करना पड़ता है और वह घर की चाहर दिवारी में घिरी रहती है। जब तक कि वह अपने परिवार को एक तर्कसंगत आकार तक सीमित नहीं कर पाती, तब तक वह समुदाय और समाज में कोई भूमिका निभा नहीं सकती। परिवार नियोजन न केवल परिवार कल्याण को सुदृढ़ बनायेगा अपितु सामाजिक समृद्धि और व्यक्तिगत सुख—शांति को प्राप्त करने में भी सहायक होगा। केवल आर्थिक विकास से ही जनन—क्षमता दर कम नहीं होती। कीनियां और

ब्राजील इसके उदाहरण हैं। इसके लिए जब तक महिलाओं में शिक्षा का विस्तार नहीं होगा, विवाह की आयु को ऊँचा नहीं उठाया जायेगा, शिक्षा के द्वारा प्रजनन आयु के दम्पतियों को गर्भनिरोधक स्वीकार करने के लिए प्रेरित नहीं किया जायेगा, जनसंख्या नियंत्रण आसान नहीं होगा। इन कार्यों को एक साथ बल देने के लिए केन्द्रीय और राज्य स्तरों पर जनसंख्या परिषद स्थापित करना एक सही उपाय होगा जो न केवल विभिन्न स्तरों पर समन्वय का कार्य करेंगे परन्तु इसके साथ अल्पकालीन और दीर्घकालीन योजनाएं भी निर्धारित करेंगे।

जातिवाद

जातिवाद एक जाति के सदस्यों की वह भावना है जो अपनी जाति के हित के सम्मुख अन्य जातियों के सामान्य हित की अवहेलना और प्रायः हनन करने को प्रेरित करती है। किस प्रकार केवल अपनी जाति का ही कल्याण और प्रगति हो यही उन्हें देश या समाज या जातियों के सामान्य हितों का ध्यान रखने नहीं देती है मानव भावनाओं का यह समुचित रूप ही जाति है। के.एन. शर्मा के अनुसार “जातिवाद या जाति भक्ति एक ही जाति के व्यक्तियों की वह भावना है जो देश या समाज के सामान्य हितों का ख्याल न रखते हुए केवल अपनी ही जाति के सदस्यों के उत्थान जातीय एकता और जाति की सामाजिक प्रस्थिति को दृढ़ करने के लिए प्रेरित करता है। के.एम. पानिकार के अनुसार “राजनीतिक भाषा में उपजाति के प्रति निष्ठा का भाव ही जातिवाद है।”

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि जातिवाद के दो स्पष्ट पहलु हैं—भावना और कर्म। पहला मनोवैज्ञानिक है दूसरा व्यवहारिक। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जातिवाद से प्रभावित व्यक्ति अपनी भावनाओं को अपनी ही जाति में केन्द्रित कर देता है और उन्हीं के कल्याण की चिंता करता है। इस प्रकार की भावनाएं संकुचित हैं क्योंकि यह समग्र समाज के एक विशेष वर्ग के हितों का ध्यान रखता है इस कारण यह सामान्य जनकल्याण के लिये घातक है। इस दृष्टिकोण से जातिवाद को समाज विरोधी भी कहा जाता है। जातिवाद का दूसरा पहलु क्रियात्मक या व्यवहारिक है। इसका तात्पर्य यह है कि जातिवाद से प्रेरित व्यक्ति अपनी ही जाति के कल्याण के लिए सोचते विचारते ही नहीं बल्कि उसी के अनुरूप कार्य भी करते हैं अर्थात् अपने विचारों व भावनाओं को एक व्यवहारिक रूप भी देते हैं।

जातिवाद के उत्पन्न होने के कारण

जाति एक बंद वर्ग है एक जाति के सदस्य अपनी ही जाति में विवाह करते हैं। इसकी सदस्य जन्म से सम्बन्धित होने के कारण प्रारम्भ से ही अपनी जाति के प्रति चेतना होती है। जाति के सदस्यों का आपसी सम्पर्क एवं अन्तीक्रिया जातिगत मानदण्डों के अनुसार होते हैं। सुख दुःख में जाति के लोग ही एक दूसरे को मदद करते हैं व्यक्ति की जाति पर निर्भरता के कारण उसमें अपनी ही जाति का उत्थान तथा का भावना रहती है।

जजमानी प्रथा का टूटना

जजमानी प्रथा के अन्तर्गत प्रत्येक जाति दूसरी जाति के लिये आवश्यक सेवाएं प्रदान करती थी तथा बदले में आवश्यक वस्तुएं प्राप्त करती थी। इसमें एक दूसरी जाति के बीच आदान-प्रदान चलता रहता था। जजमानी प्रथा के समाप्त होने से विभिन्न जातियों के मध्य संबंध टूट गये हैं। जिसके फलस्वरूप जातिवाद को बढ़ावा मिला है।

आरक्षण व्यवस्था

भारतीय संविधान के अनुसार अनुसूचित जातियों के लिये नौकरियों में लोकसेवा और विधानसभाओं में स्थान सुरक्षित रखने का प्रावधान है इस व्यवस्था ने जातिवाद को बढ़ावा दिया है मोटे रूप में समाज अगड़ी और पिछड़ी जातियों में बंट गया है। आरक्षण का लाभ प्राप्त करने वाली जातियां अपने कल्याण एवं अपनी जाति के हितों के प्रति सचेत रहती है। वे एक-दूसरे का सहयोग करती है। दूसरी और वे जातियां जिन्हें आरक्षण का लाभ नहीं मिला है भी अपनी जाति के हितों के प्रति सचेत रहती है। आरक्षण के विरोध में अगड़ी जातियों में एकता आई। मंडल आयोग की सिफारिशों से भी जातिवाद की भावना सशक्त हुई। सभी समूह अपनी जाति के प्रति अधिक चेतन्य हो गये है यह जातिवाद का ही सूचक है।

जातीय संगठन

जातिवाद को मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रदर्शित करने में जातीय संगठनों की भूमिका भी उल्लेखनीय है। अखिल भारतीय स्तर पर अनेक जातीय संगठनों का निर्माण हुआ है। संगठन का उद्देश्य अपनी जाति को एकीकृत करना, जाति के हितों की रक्षा करना, जाति के प्रभाव को बढ़ाना तथा एक दबाव समूह के रूप में कार्य करना है। राजनीति में भी इन जातीय संगठनों का सक्रिय योगदान रहता है। ये संगठन सम्मेलन आयोजित करते हैं, स्मारिका पत्रिका भी प्रकाशित करवाते हैं इस प्रकार जाति संगठन का प्रत्येक कार्य जातिवाद को बढ़ावा देता है।

यातायात व संचार सेवाओं का विस्तार

आधुनिक संचार माध्यमों और यातायात के साधनों के विस्तार होने के कारण अपनी जाति के सदस्यों से सम्पर्क करने की दूरी समाप्त हो गई है। जाति के सदस्य आपस में आसानी से सम्पर्क कर लेते हैं। अखिल भारतीय स्तर पर जो जातीय संगठन बने उनके पीछे भी यातायात और संचार की सुविधा एक एक बड़ा कारक रहा है। जातीय सम्मेलनों में जाति के अधिक से अधिक सदस्य पहुंचते हैं और अपने सामान्य हित की रक्षा के बारे में चिंतन करते हैं, प्रयास करते हैं। इस प्रकार अपने स्वार्थ के काम के लिये जाति के कल्याणकारी कार्यों के लिये सम्पर्क आसान होने से भी जातिवाद को प्रोत्साहन मिला है।

अपनी जाति की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये

आज सामाजिक स्थिति को निर्धारित करने वाले आधार बदल गये हैं। आज यह आवश्यक है कि एक जाति के अधिकधिक सदस्य शिक्षित हो, अच्छे पदों पर नियुक्त हो या राजनीतिक सत्ता के अधिकार हो, तब कही उस जाति की स्थिति सामाजिक जीवन में ऊँची उठ सकती है। इसलिये प्रत्येक जाति इस संबंध में प्रयत्नशील है कि अपने सदस्यों को अधिकाधिक सुविधा प्रदान करे ताकि उनकी सामाजिक स्थिति ऊँची उठ सके।

संस्कृतिकरण

इस प्रक्रिया से भी जातिवाद की भावना विकसित हुई है। जब निम्न जातियां उच्च जातियों के समान बनने लगती हैं तो उच्च जातियां निम्न जातियों के प्रति ईर्ष्या भावना उत्पन्न होने लगती है। सामान्यतया उच्च जातिया सदैव ऊँचा बनना चाहती है। ऐसी उच्च जातियों में अपनी श्रेष्ठता के कारण जातिवाद उत्पन्न होता है और निम्न जातियों में ऊँचा उठने के लिये जातिवाद की भावना उत्पन्न होती है।

राजनीति कारण

भारत की राजनीति में जातिवाद एक निर्णायक पहलु है। इसका सीधा संबंध चुनाव और वोट बैंक से है। प्रत्येक राजनीतिक दल अपने चुनावी समीकरणों की जातिवाद के आधार पर तय करता है। ग्राम पंचायत के चुनाव से लेकर लोकसभा के चुनाव तक प्रत्येक राजनीतिक दल अपने उम्मीदारों का निर्धारण जाति के वोटों के आधार पर करता है। जातिवाद राजनीति के प्रत्येक स्तर तक फैल गया है। चुनाव जीतने के बाद जाति का नेता अपनी जाति के हितों को ध्यान में रखकर काम करवाता है। इस प्रकार राजनीति भी जातिवाद को बढ़ावा देती है।

जाति एक अत्यन्त प्राचीन व्यवस्था रही है। इसका अभिप्राय पेशे के आधार पर समाज को कई वर्गों में विभाजित व सक्रिय करना है। इस प्रथा की उत्पत्ति वैदिककाल में हुई मानी जाती है। जाति का सम्बन्ध कर्म पर आधारित था। कर्म के अनुरूप ही मनुष्य की जाति का विधान था, किन्तु कालान्तर में जाति का आधार जन्म हो गया। जिस जाति में इंसान का जन्म होता है, वही इंसान की जाति मान ली जाती है। फलतः इंसान की प्राकृतिक रुचि, इच्छा, योग्यता तथा जिज्ञासा व क्रियाओं का महत्त्व गौण होता चला गया। पिता-माता का कर्म ही बालक का भावी कर्म बनकर उसके भावी विकास की स्वतंत्र संभावनाओं को खत्म कर दिया गया अर्थात् स्वतंत्र कर्म वरण करने की प्रथा को समाप्त कर दिया गया तथा कर्म विशेष को एक वर्ग तक ही सीमित बना दिया गया। कर्म व कला-विद्या को पारिवारिक या सामूहिक सम्पदा बना दिया गया। इससे अयोग्य व योग्य का अंतर समाप्त हो गया अर्थात् ब्राह्मण का पुत्र अयोग्य या अज्ञ होकर भी ब्राह्मण का सम्मान पाता रहा तथा शुद्र का पुत्र योग्य होकर भी विज्ञ न बनने का दुःख भोगता रहा जातिवाद की अपनी विशेषताएँ हैं, जो इस प्रकार हैं —

1. संगठन की शक्ति — जातिवाद ने इंसान को अपने कर्म समाज के प्रति जुड़ाव व लगाव पैदा किया। फलतः व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ने में जातिगत कर्मों ने विशेष भूमिका निभाई कर्म की भावना ने ही विराट समूह या वर्ग को उत्पन्न व विकसित किया है।

2. प्रतिष्ठा प्राप्ति — व्यक्ति की समाज में प्रतिष्ठा का सम्बन्ध जाति है। उच्च जाति का व्यक्ति समाज में सम्मान व श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। भ्रष्ट व निकृष्ट कर्म जाति के लोगों को समाज में उपेक्षा व घृणा की दृष्टि से व्यवहार जाता रहा है। फलतः जातिगत कर्म से इंसान को लाभ व सम्मान तथा अपमान दोनों प्राप्त होते हैं। इससे उच्च या शुभ कर्मों के प्रति आकर्षण पैदा होता है।

3. राजनीति महत्त्व — आज राजनीति में वोट की शक्ति मुख है। अतः अधिकतम वोट या समर्थन पाने की इच्छा ने जातिगत समूहों को मूल्य प्रदान किया है। फलतः जाति को केन्द्र में रखकर ही राजनेता अपनी भावी नीति, योजना व लक्षण तय करते हैं तथा अधिकतम समर्थन-प्राप्ति के लिए जातिगत आधारों पर लाभों की घोषणा करते हैं। फलतः व्यक्ति को राजनीतिक सुरक्षा व लाभ प्राप्त होते हैं।

4. आरक्षण का लाभ — दलित, शोषित व उपेक्षित जाति को कानून ने आरक्षण व अनुदान आदि का प्रावधान किया है। अतः इन लाभों को जाति के आधार पर ही प्राप्त किया जा सकता है। दूसरी जाति का इंसान सामान्य प्रतिभागत अधिकारों को ही पा सकता है। सेवा, सुरक्षा तथा शिक्षा आदि क्षेत्रों में दलितों को प्रचुर आरक्षण दिया गया है। इससे इन्हें आर्थिक-नैतिक सुरक्षा मिली है। पहले से ज्यादा सम्पन्नता के अवसर प्राप्त हुए हैं। इनको राजनीति में भी पद दिये गये हैं।

जाति का आधार परम्परागत कर्मों व इनके समूहों तथा धर्मों से है। प्रत्येक जाति का अपना धर्म, धर्म व भाषा-भूषागत आधार व महत्त्व है। व्यक्ति अपनी जाति में ही जीता-मरता है। विवाह भी जाति में ही करता है। जातिवाद से आशय अपनी जाति के प्रति अंध मोह या लगाव से है। जाति के आधार पर इंसान अपनी जाति के लोगों को महत्त्व व मूल्य प्रदान करता है। आपसी सम्बन्धों का विकास करता है। आज जाति का आधार कर्म व धर्म नहीं रह गये हैं। अपितु यह विवाह, जन्म व मरण तक सीमित रह गयी प्रथा है। आज नये-नये कर्मों को अपनाए जाने से जातिवादी अवधारणा क्षीण व जर्जर तथा बेतुकी हो गयी है। अतः जातिवाद का असर अब पहले जितना नहीं है। राजनीति में यह प्रमुख रूप से उभरकर सामने आती है, किन्तु यह प्रचलन क्षेत्रीय राजनीति तक ही सीमित है। जातिवादी राजनीति ने समाज को तोड़कर रख दिया है। जिस जाति का नेता या मंत्री होता है, वह उसी जाति का हित लाभ देखता है तथा अन्यो की उपेक्षा करता है। यह जातिवाद की बुरी अवस्था है। जातिवादी आधार पर आरक्षण ने इस अवधारणा को और भी कटु रूप दे दिया है। फलतः जाति को लेकर वैमनस्य बढ़ रहे हैं। आरक्षण की आड़ में गलत लोगों को लाभ व अवसर सुलभ कराये जा रहे हैं। एक ही जाति के प्रभावशाली लोगों ने सारे कानून प्रदत्त लाभ हड़पकर शेष शोषितों को पीछे धकेल दिया है। जातिवादी कट्टरता से वर्ग संघर्ष पैदा हो रहा है। जाति को लेकर लोग पुनः संगठित, सक्रिय तथा युद्धरत हो रहे हैं। जातिवाद के लाभ भी हैं। जाति ने इंसान को संगठित किया है। कर्मगत कुशलता, ज्ञान व पहचान दी है। आनुवंशिक शुद्धता व विकृति को सीमित रखा है। विशिष्ट जीवन शैली प्रदान की हैं एकता व समरसता को बढ़ाया है। लोगों को राजनीतिक चेतना व सक्रियता प्रदान की है। व्यक्तिवादी अहंकारों को रोककर समूहवादी सोचों को बढ़ाया है। आपसी संवाद, चर्चा तथा चिंतन को प्रेरित व विकसित किया है। सामूहिक सुरक्षा, विकास, सहयोग व समृद्धि को बढ़ाने में मदद दी है। समाज को सम्यक् ढंग से विकसित करने का पुनीत कार्य सम्पादित किया है। परम्परागत कर्म, कलाओं, विद्याओं और नीतियों को जीवित व उन्नत बनाये रखा है। अपने संचित अनुभवों से राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान किया है। बावजूद इसके बढ़ता हुआ जातिवाद आज देश राज्यों के लिए कई तरह से खतरनाक बन गया है। बहुमत प्रधान जातियां मनचाहे राजनीतिक लाभ उठा लेती हैं तथा शेष जातियां उपेक्षित व शोषित बना दी जाती हैं। जाति कोलेकर विवाह की समस्याएं बढ़ रही है। इंसान मनचाही लड़की से शादी नहीं कर सकता। इससे प्रेम सम्बन्धों के विकास पर असर पड़ा है। जातिगत वैमनस्य व शोषण बढ़ा है। जाति को लेकर निम्न जातियों में हीनता की भावना बढ़ी है। कर्मगत अनुभवों का लाभ सबको नहीं मिल सका हैं जातिवाद ने राष्ट्रवाद को उपेक्षित व गौण बना दिया है। कुल मिलाकर बढ़ता जातिवाद देश, राज्य, गांव व शहर सबके लिए घातक है। कर्म ही प्रमुख है तथा योग्यता इसकी शक्ति है। अतः कर्मवादी व्यवस्था चलनी चाहिए। यही जातिवाद का स्वस्थ रूप था। कर्म व योग्यता का सम्मान होना चाहिए, जाति का, धर्म का नहीं।

जाति तथा वर्ण

वर्ग तथा जाति में एकरूपता का आरोपण किया जाता है, जो उचित नहीं कहा जा सकता। वर्ग किसी विषय क्षेत्र का वाहक है तथा जाति कुशलतागत है। जैसे शिक्षा एक वर्ग है। विविध विषय इसकी जातियां या शाखाएं हैं। जैसे विज्ञान की शिक्षा, धर्म की शिक्षा, इतिहास की शिक्षा, राजनीति की शिक्षा आदि। अतः जाति शाखा है और वर्ग वृक्ष है। वर्ण चार हैं — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शुद्र। जबकि जातियां असंख्य हैं अर्थात् मूल गुण का जैसे-जैसे विविधतागत विस्तार होता गया, वैसे-वैसे विशिष्ट जातियों का आविष्कार होता गया है अर्थात् नित नई संभावनाओं, कल्पनाओं और इच्छाओं का विकास ही जातिगत भिन्नता को बढ़ाने के कारण है। वर्ण को हम मूल विषय या धर्म का गुण कह सकते हैं और जातियों को इनसे प्रेरित व पोषित विविध धारायें मान सकते हैं।

वर्तमान समय में अनेक परिवर्तन हो रहे हैं। नित नये कर्म, चरित्र तथा विषय प्रचलन में आ रहे हैं—

1. पाश्चात्य शिक्षा व सभ्यता का विकास — आजादी से पूर्व इंग्लिश कम्पनियों के प्रभुत्व के कारण हमारे देश में शिक्षा पद्धति, न्याय पद्धति, अर्थव्यवस्था तथा उद्यम व व्यापार व्यवस्था सभी पर तथा नये विराट उद्यम नीति हटा दी जाने से सुनार, मूर्तिकार, बुनकर तथा अन्य उद्यमी प्रचलन से हट गये शिक्षक भी नयी शिक्षा पद्धति के चलने से बेकार व उपेक्षित हो गये। परम्परागत अनुभवों का खजाना बेकार हो गया। सामूहिकता की जगह व्यक्तिवादी अहम् पनपे। अंग्रेजी भाषा, भूषा, भोजन व शिक्षा का प्रचार व महत्त्व बढ़ता गया। एकल परिवारों की शुरुआत हुई। स्वेच्छा से विवाह होने लगे। स्वेच्छा बंधनों से मुक्त हो गयी। नये विचार, नियम तथा सिद्धान्तों का उदय व प्रचलन हुआ।

2. औद्योगिकीकरण — औद्योगिकीकरण की प्रवृत्ति तीव्र होने से नगरों का निर्माण व विकास हुआ। ग्रामीण कृषि, धंधे, उद्यम तथा आश्रय टूट गये तथा शहरी भीड़ में शामिल होकर श्रमिक-सेवक बनते चले गये। इनसे नई भीड़ संस्कृति का विकास हुआ। शराब, सिगरेट, जुआ, वेश्या तथा अपराध कर्म बढ़े, क्योंकि शहरों में इनके लिये कोई निषेध न था। ये फैशन बन गये। नये मजदूर व सेवक संगठन व समूह बने। इनके नये धर्म व सिद्धान्तों बने। जातीय भेदभाव उड़न छू हो गये अर्थात् नयी जातियां पैदा हो गईं, जिन्हें सिर्फ श्रमिक-सेवक व अपराधी तथा व्यभिचारी के नाम ही प्राप्त हुए।

3. पूंजीवाद की महिमा — कर्म आधारित भारतीय समाज शीघ्र ही आजादी के बाद पूंजीवादी फैशन के रंग में रंग गया। आपसी रिश्तों, जरूरतों तथा मूल्यों का क्षरण हो गया तथा धनी व गरीब का द्वैत रिश्ता ही नया फैशन बन गया। धन-साधन का महत्त्व बढ़ने से व्यक्ति, कर्म, ज्ञान तथा न्याय का महत्त्व गौण हो गया। झूठ, पाखंड, षड्यंत्र, ठगी, चोरी तथा काले धंधे आराध्य-साध्य बन गये। पूंजीपति बनने का लक्ष्य लेकर चलने से आपसी रिश्ते-नाते तथा सम्बन्ध खोखले व बेहूदा हो गये।

4. आजादी की भावना — धर्म-जाति के बंधनों को तोड़कर इंसान ने आजादी की भावना या इच्छा को महत्त्व व मूल्य दिया। फलतः स्वेच्छावाद पनपा। स्वेच्छावादियों ने अपने लिये नये नियम, कर्म, सिद्धान्त व विश्वासों की पुनर्चना करी तथा अंधविश्वास को बहिष्कृत किया। हर कार्य का पुनर्परिष्करण संभव हुआ। फलतः कर्मगत परिवर्तन परिष्करण से कई लाभ मिले अर्थात् नये व आदर्श कर्म समूह बने।

5. मीडिया का प्रचार — रेडियों, अखबार, टेलीविजन, फिल्म तथा साहित्य आदि माध्यमों का प्रचुर विस्तार हुआ तथा नये-ये विचारों, चरित्रों का व लक्ष्यों का प्रचलन हुआ। व्यक्ति का विवेक विस्तृत व विविध सूचनाओं से समृद्ध हुआ। इससे जाति, वर्ग, धर्म, भाषा, भूषा का परिवर्तन हुआ। इसने नारी जागृति को बढ़ाया। स्त्री सम्मान, शिक्षा व सेवा को हवा दी। नारी को नया रूप, रंग, गुण व चरित्र मिला। दहेज, सती, बाल विवाह आदि दुष्कर्म कम हुए, जो धर्म की आड़ में चलते रहे थे।

6. संयुक्त परिवारों का विघटन — बड़े-बड़े हिन्दू संयुक्त परिवार टूटते-बिखरते चले गये तथा व्यक्तिगत अहम्, लोभ और राग-द्वेष के भावों को बल व मूल्य मिला। प्रेम विवाहों, अन्तर्जातीय विवाहों तथा अनैतिक प्रेम-सम्बन्धों का प्रचलन बढ़ा। मूर्तिपूजा, व्रत, उपवास का महत्त्व कम हुआ। पारिवारिक कर्मों का बहिष्कार हुआ। नूतन कर्मों का ग्रहण हुआ। दूरस्थ व विविध रिश्ते-नातों का बहिष्कार कर दिया गया। सच्चाई, सभ्यता, संतोष तथा त्याग का भाव नष्ट हो गया।

7. नई कानून व्यवस्था का प्रचलन — राष्ट्रीय व राजकीय सरकारों ने पुराने कानूनों को हटाकर नये कानूनों को प्रतिष्ठा दी। इससे व्यक्तिवाद को या स्वेच्छावाद को एक नयी दिशा व राह मिली। अब व्यक्ति स्वेच्छा से विवाह कर सकता है। स्वेच्छा से कर्म व शिक्षा ग्रहण कर सकता है। स्वेच्छा से अनुबन्ध कर सकता है। छूआछूत नहीं कर सकता। किसी को बलात् दमित, शोषित व भयभीत नहीं कर सकता। अन्याय के विरुद्ध कानून से न्याय की अपील कर सकता है। जाति, धर्म, भाषा, भूषा को लेकर किसी की आलोचना व हिंसा नहीं कर सकता। कुल मिलाकर हर व्यक्ति को स्वेच्छा से जीने, सोचने, सुनने, खाने-पीने तथा कार्य करने का अधिकार कानून न प्राप्त है। इन्हें कोई नहीं छीन सकता। सारांश यह है कि बदलते संदर्भों में भारतीय जातियां व वर्ण बेहद जर्जर हो चुके हैं। आज व्यक्ति व्यक्ति के बीच आर्थिक स्तर पर नये सम्बन्ध व रिश्ते बन रहे हैं। धन का मूल्य है, शिक्षा का मूल्य है, स्वेच्छा का मूल्य है। अतः जाति, वर्ण, धर्म, प्रांत व भाषा, भूषा, भोजन का महत्त्व गौण हो चुका है। इस तरह प्राचीन वर्ण व जाति व्यवस्था का अब कोई भी आकर्षण, मूल्य व महत्त्व नहीं रह गया है।

जातिवाद के आधार

1. जातिवाद प्रजातंत्र के लिये घातक — जातिवाद और प्रजातंत्र दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। अनेक पेशेवर नेता का राजनीतिक के क्षेत्र में जातिवाद से लाभ उठाते हैं और चुनाव के समय जाति के नाम पर ही वोट मांगते हैं और सफल भी होते हैं। इससे प्रायः ऐसे व्यक्ति चुन लिये जाते हैं। राष्ट्र हित की बात नहीं सोचते हैं। इस प्रकार जातिवाद राष्ट्र विरोधी भावना भी फैलाता है तथा राष्ट्रीय एकता में बाधक है।

2. औद्योगिक कुशलता में बाधा — चूंकि सरकारी तथा अन्य प्रकार की नौकरियों में नियुक्ति जाति के आधार पर होती है इस कारण ऐसे लोगों की भरमार होती है जो अयोग्य व निकम्मे होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि योग्य व कुशल व्यक्तियों को मौका नहीं मिलता है। विभिन्न उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों के संबंध में जो अध्ययन हुए हैं उसमें यह पता चलता है कि जातिवाद के कारण सैकड़ों क्षमताशाली कुशल श्रमिक शहर में बेकार घूम रहे हैं और अयोग्य व अकुशल श्रमिक बहुत बड़ी संख्या में उद्योगों में लगे हुए हैं।

3. नैतिक पतन — जातिवाद से प्रेरित होकर अपनी जाति के सदस्यों को हर प्रकार की सुविधा प्रदान करने के लिये अनेक अनुचित और अनैतिक उपायों का सहारा लिया जाता है। इसमें जातिवाद के नाम नैतिक पतन भी होता है। नैतिकता सभी प्रकार की संकीर्णता की विरोधी है परन्तु जातिवाद यही सिखाता है कि अपनी जाति के हित के सम्मुख अन्य जातियों के सामान्य हितों या समग्र समाज के कल्याण की अवहेलना यहां तक की हनन भी किया जा सकता है। मानव भावनाओं का यह संकुचित रूप जब जातिवाद के रूप में प्रकट होता है तो नैतिक पतन हो जाता है।

4. राष्ट्रीयता के विकास में बाधा — जातिवाद स्वस्थ राष्ट्रीयता के विकास में बाधक है। एक तो जातिप्रथा ने स्वयं ही भारतीय समाज को अनेक भागों में बाट लिया है उस पर जातिवाद के आधार पर इन विभिन्न भागों के बीच जब तनाव व संघर्ष कटु हो जाता है तो सामुदायिक भावना का जो संकुचित रूप दिखाई देता है वह वास्तव में भंयकर और अहितकर है। राष्ट्रीयता के विकास के लिये यह आवश्यक है कि स्वस्थ सामुदायिक भावना का विकास हो पर जातिवाद उस स्थिति को उत्पन्न नहीं होने देता। यह राष्ट्रीय एकता और प्रगति के लिये घातक है।

5. गतिशीलता में बाधक — जातिवाद की भावना गतिशीलता में भी बाधक है। जातिवाद की भावना

से व्यक्ति अपनी ही जाति को श्रेष्ठ समझता है। वह अपनी जाति के दायरे से बाहर नहीं निकलना चाहता है। यह स्थिति उसके विकास में बाधा डालती है।

6. भाई भतीजावाद को प्रोत्साहन — जातिवाद की भावना ने भाई भतीजावाद को प्रोत्साहन दिया है जिसके कारण जातियों के मध्य तनाव बढ़ा है। भाई भतीजावाद की भावना से व्यक्ति अपनी ही जाति के कल्याण के लिये सोचता है। इसलिये राष्ट्रीयता की भावना में भी जातिवाद बाधक है। जातिवाद के तहत व्यक्ति अपनी ही जातिवाद के सदस्यों को लाभ प्रदान करने का प्रयास करता है जिसके लिये गैर कानूनी कार्य भी कर डालता है। फलस्वरूप भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है।

7. विभिन्न समस्याओं का उदय — जातिवाद की भावना व जातीय नियमों की कठोरता से ही समाज में विभिन्न सामाजिक समस्याओं का जन्म हुआ है क्योंकि यदि व्यक्ति इन नियमों का पालन नहीं करता तो उसे जाति से निकले जाने का डर रहता है।

8. सामाजिक तनाव — जातिवाद से सामाजिक तनाव में वृद्धि होती है। जब एक जाति अपने को अन्य जातियों से श्रेष्ठ समझती है और दूसरी जातियों को निम्न समझती है तो समाज में संघर्ष व तनाव को बढ़ावा मिलता है।

निराकरण के उपाय

1. जाति प्रथा को समाप्त करना — जातिवाद को समाप्त करने के लिये प्रायः यह सुझाव दिया जाता है कि जाति प्रथा को ही समाप्त कर दिया जाये। भारतीय संविधान में भी जाति पाति के भेदभाव को मिटाने का आदर्श को सामने रखा है। सरकारी तौर पर कुछ कानून भी पास किये गये हैं। इन सबके आधार पर यह विश्वास दिलाया जाता है कि भारत में शीघ्र ही जातिविहीन समाज बनेगा। लेकिन यह इतना आसान नहीं है। इसके लिये व्यवहारिक कदम उठाने की अपेक्षा है।

2. जाति शब्द का कम से कम प्रयोग — जैसा कि पहले कहा गया है जातिवाद का हल कानून बनाने से संभव नहीं, इसके लिये तो निरन्तर प्रयत्न की आवश्यकता है। इसी क्रम में जातिशब्द का प्रयोग कम से कम प्रयोग होना चाहिए जिससे अल्प आयु के बच्चों के मन में उसका कोई अवशेष न रह जाये। शिक्षा संस्थाओं और सरकारी कार्यालयों को इस संबंध में विशेष सचेत होना होगा और किसी भी रूप में जाति शब्द का उल्लेख कराकर जाति के महत्व को बढ़ावा नहीं देना चाहिए।

3. अन्तर्जातीय विवाह को बढ़ावा देना — डॉ. घुरिये ने जातिवाद की समस्या को हल करने में अन्तर्जातीय विवाह को लोकप्रिय करने की आवश्यकता पर अधिक बल दिया है। अन्तर्जातीय विवाह से विभिन्न जाति के लड़के लड़कियों को ही नहीं बल्कि उन दोनों के परिवारों को भी एक दूसरे के निकट आने का अवसर प्राप्त होता है। इस रूप में जाति प्रथा उपेक्षित होगी और विभिन्न जातियों के बीच जो खाई है वह नष्ट होगी और जातिवाद के विरोध में आवाज उठने लगेगी।

4. आर्थिक और सांस्कृतिक समानता — विभिन्न जातियों में आर्थिक और सांस्कृतिक असमानता उनमें पारस्परिक द्वेष और प्रतियोगिता को जन्म देती है जिसका आधार आगे चलकर जातिवाद ही होता है। इसे समाप्त करने के लिये उनमें सांस्कृतिक व आर्थिक समानता लानी होगी ताकि इस समानता के आधार पर ही वे एक दूसरे के निकट आ सकें।

5. उचित शिक्षा – जातिवाद को समाप्त करने के लिये एक महत्वपूर्ण आवश्यकता उचित शिक्षा की है। शिक्षा संस्थाओं में मनोरंजन के विभिन्न साधनों आदि के माध्यम से ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि एक और बच्चों के मन में जाति-पांति का भेद-भाव उत्पन्न ही न हो सके और दूसरी ओर जातिवाद के विरुद्ध स्वस्थ जनमत पनप सके। इस कार्य के लिये सामूहिक शिक्षा की आवश्यकता है। इस प्रकार की शिक्षा द्वारा समाज में नई मनोवृत्तियों और व्यवहारों को विकसित करने का प्रयत्न करना होगा।

6. नये प्रकार के सामाजिक व सांस्कृतिक संगठन – जातीय संगठनों के बजाय ऐसे संगठनों को स्थापित करने की आवश्यकता है जिसमें सभी जाति के सदस्यों की सहभागिता हो। जहां सभी जाति के सदस्यों मिलकर सम्मेलन करे गोष्ठियों आयोजित करे।

7. जातीय संगठनों पर रोक – वर्तमान में जातिवाद की भावना को बढ़ाने का प्रमुख श्रेय जातीय संगठनों को जाता है। विभिन्न जातियों द्वारा संगठन बनाकर अपनी जाति के हितों की रक्षा करने का प्रचलन बढ़ रहा है। सरकार को ऐसे संगठनों पर रोक लगा देनी चाहिए।

8. प्रभावशाली व्यवहारिक कानून – जातिवाद की भावना को समाप्त करने के लिये सरकार को प्रभावशाली व्यवहारिक कानून बनाने चाहिये। केवल उच्च अव्यवहारिक कानूनों द्वारा जातिवाद की भावना का अंत नहीं होगा। सरकार ने अर्न्तजातीय विवाह को कानूनी मान्यता दे दी परन्तु यदि ऐसे विवाहों को अधिक संरक्षण भी प्रदान किया जाये तो शायद भारत में अर्न्तजातीय विवाहों में वृद्धि होगी फलस्वरूप जातिवाद की भावना में भी कमी आएगी।

9. राजनीतिक जातिवाद पर रोक – वर्तमान में भारतीय राजनीति में भी जातिवाद व्याप्त है। जाति के नाम पर वोट मांगे व दिये जाते हैं। जब तक देश की राजनीति में भी जातिवाद की भावना रहेगी तब तक देश से जातिवाद को दूर नहीं किया जा सकता। अतः जातिवाद को समाप्त करने के लिये राजनैतिक जातिवाद को समाप्त करना आवश्यक है।

अभ्यास हेतु प्रश्न

(अ) वस्तुपरक/लघुत्तमात्मक उत्तर

- 1936 एवं 1981 के मध्य आतंकवाद की कितनी परिभाषाएं दी गई ?
(अ) 109 (ब) 119 (स) 129
- आतंकवाद के कितने प्रकार बताए गए हैं ?
(अ) 5 (ब) 7 (स) 11
- नक्सलवाद का बंगाल में कब प्रादुर्भाव हुआ ?
(अ) 1967 (ब) 1977 (स) 1987
- द्रव्य दुरुपयोग का क्या अर्थ है ?
- 1985 में भारत में मादक द्रव्य नियन्त्रण कानून का क्या नाम है ?
- महिलाओं के प्रति हिंसा के कितने वर्गीकरण हो सकते हैं ?
(अ) 3 (ब) 5 (स) 7
- विधवाओं के विरुद्ध हिंसा के कितने लक्षण हैं ?
(अ) 6 (ब) 9 (स) 12

8. के.एम. पानिकार के अनुसार जातिवाद की क्या परिभाषा है ?
9. जातिवाद के प्रमुख आधार कितने हैं ?
(अ) 8 (ब) 10 (12)
10. बडौदा के आपरेशन रिसर्च ग्रुप के सदस्यों ने जनसंख्या समस्या का कब अध्ययन किया था?
(अ) 1990 (ब) 1991 (स) 2001

(ब) लघुत्तमात्मक प्रश्न

1. आतंकवाद के उद्देश्यों का वर्णन करें।
2. आतंकवाद के विभिन्न परिप्रेक्ष्यों को स्पष्ट करें।
3. भारत में आतंकवाद पर एक लघु टिप्पणी लिखें।
4. मादक द्रव्यों के दुरुपयोग की मात्रा एवं प्रकृति पर एक नोट लिखें।
5. मादक पदार्थों की तस्करी का लाभ किस प्रकार खर्च किया जाता है ?
6. महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की प्रकृति एवं विशेषताओं पर टिप्पणी लिखें ?
7. महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के किन कारकों के आधार पर व्याख्या की जाती है ?
8. जातिवाद के उत्पन्न होने के कारणों पर प्रकाश डालें ?
9. जनसंख्या की वृद्धि के क्या कारण हैं ?
10. जनसंख्या को नियंत्रित करने के उपायों पर एक लघु टिप्पणी लिखें।

(स) निबंधात्मक प्रश्न

1. आतंकवाद के अर्थ एवं लक्षणों पर एक विस्तृत निबंध लिखें।
2. आतंकवाद के कारणों की सैद्धान्तिक व्याख्या करें।
3. दुरुपयोज्य द्रव्यों की प्रकृति व प्रभाव की चर्चा करें।
4. मादक द्रव्य दुरुपयोग नियन्त्रण के उपायों का वर्णन करें।
5. महिलाओं से संबंधित हिंसा के कारणों की व्याख्या करें।
6. जातिवाद के आधार पर एक विस्तृत निबंध लिखें।
7. जनसंख्या विस्फोट के क्या परिणाम हैं?

इकाई-3

रक्तविहीन क्रांति एवं सामाजिक आमूल परिवर्तन

अहिंसा एवं शांति के समाजशास्त्र की इस इकाई के अन्तर्गत हम जिन बिन्दुओं को अध्ययन की विषय वस्तु बनाएंगे वे निम्न विचारों पर केन्द्रित होगी :

1. रक्तविहीन क्रांति का अर्थ, स्वरूप तथा आमूलचूल सामाजिक परिवर्तन
2. गांधी जी की रक्तविहीन क्रांति की अवधारणा
3. सत्याग्रह के सिद्धान्त
4. सर्वोदय
5. पंचशील
6. सम्पूर्ण क्रांति।

उद्देश्य

1. सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न परिप्रेक्ष्यों को समझना।
2. सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में रक्तविहीन क्रांति की उपयोगिता का परीक्षण करना।
3. गांधी जी द्वारा प्रतिपादित सत्याग्रह की अवधारणा, प्रकार तथा विधि को समझना।
4. सर्वोदय के दर्शन एवं प्रायोगिक संदर्भों की विवेचना करना।
5. अन्तर्राष्ट्रीय शांति स्थापना के संदर्भ में पंचशील के प्रयास को समझना।
6. सामाजिक परिवर्तन की दिशा में वृहद क्रांति का मूल्यांकन करना।

क्रांति परिवर्तन का चरम रूप है और इस प्रकार वह उदविकास तथा प्रगति से पूर्णतः भिन्न है। क्रांति परिवर्तन की वह तीव्र प्रक्रिया है जिसमें परम्परागत सामाजिक मूल्यों व सामाजिक मान्यताओं का कोई महत्व नहीं रहता। इस प्रकार वास्तविक अर्थों में समाज के परम्परागत ढांचे में होने वाले आमूल चूल परिवर्तन को ही सामाजिक क्रांति कहते हैं। आज हम क्रांति के युग में ही रह रहे हैं। यद्यपि 20 वीं शताब्दी का सम्पूर्ण इतिहास ही सामाजिक क्रांति का ही इतिहास है। **R.D. Hopper** ने सामाजिक क्रांति की धारणा को अनेक स्थितियों द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा है “ सर्वाधिक क्रांति वह तीव्र परिवर्तन है जिसके अन्तर्गत व्यक्तियों को एक दूसरे से सम्बद्ध रखने वाली राजनैतिक प्रक्रिया व व्यवस्था छिन्न भिन्न हो जाती है और सरकार अस्थायी रूप से एक कार्यशील

सत्ता के रूप में रह जाती है। इस स्थिति के अर्न्तगत समाज की आधारभूत एकता समाप्त हो जाती है और सामाजिक व भौतिक आदर्श अदृश्य होने लगते हैं। इस स्थिति में सामाजिक संरचना को स्वार्थ रखने वाले अनौपचारिक नियमों का प्रभाव अस्थायी रूप से समाप्त हो जाता है। क्रांति में अधिक तीव्रता होने पर सभी प्रमुख संस्थाओं में महान परिवर्तन होती है। कुछ व्यक्ति क्रांति की धारणा में हिंसा को एक अनावश्यक तत्व मानते हैं। किन्तु क्रांति हिंसक भी हो सकती है जैसे कि चीन व रूस में तथा ये शांतिपूर्ण पद्धतियों के द्वारा भी संभव है जैसा कि अमरीका व फ्रांस की क्रांति का एक भिन्न स्वरूप भी होता है जो मुख्यतः वस्तुपरक नहीं अपितु आत्मपरक होता है तथा व्यक्ति का रूपांतरण ही इसका ध्येय होता है।

सामाजिक क्रांति का अर्थ एवं प्रकृति

सामाजिक क्रांति की सर्वमान्य धारणा के बारे में अत्यधिक विवाद है। कुछ व्यक्ति केवल सामाजिक व राजनैतिक संगठन में उत्पन्न होने वाली तीव्र व व्यापक परिवर्तन को क्रांति कहते हैं। जबकि अनेक विद्वानों के अनुसार प्रत्येक औद्योगिक परिवर्तन क्रांति का ही एक चरण होता है। **Kimbal young** के अनुसार “क्रांति आकस्मिक रूप से होने वाला सामाजिक परिवर्तन है जिसमें तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था को बलपूर्वक उलटकर एक नये प्रकार के सामाजिक और कानूनी नियंत्रण की स्थापना कर दी जाती है। क्रांति की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि इस स्थिति में राजनैतिक सामाजिक और आर्थिक सभी परिवर्तनों का समावेश होना आवश्यक है इस आधार पर सामाजिक क्रांति के बारे में भिन्न चार प्रमुख विचारधाराओं का उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि ये सभी विचारधारा एक दूसरे से संबंधित हैं।

1. क्रांति प्रमुख रूप से एक राजनैतिक तथ्य है जो प्रभुसत्ता में होने वाले परिवर्तनों से संबंधित है। इस धारणा के अनुसार क्रांति में केवल वही परिवर्तन सम्मिलित होने चाहिये जिसका नियमन सेना के द्वारा होता हो।
2. क्रांति का अर्थ समाज के अंदर पाये जाने वाले प्रमुख वर्गों व समूहों की स्थिति में परिवर्तन होना है। अर्थात् इसमें शक्ति सम्पन्न वर्गों का स्थान यदि अन्य समूहों के हाथ में आ जाये तब इस तीव्र परिवर्तन को हम सामाजिक परिवर्तन कहेंगे।
3. क्रांति का संबंध सामाजिक संरचना के किसी भी एक प्रमुख पक्ष में होने वाले आमूल परिवर्तन से है। ये पक्ष चाहे धार्मिक , आर्थिक , राजनैतिक अथवा औद्योगिक जीवन से संबंधित हो।
4. अंतिम विचारधारा यह है कि सामाजिक क्रांति का अर्थ केवल समाज की प्रमुख संस्थाओं के प्रति व्यक्तियों की मनोवृत्तियों में परिवर्तन हो जाना है। वास्तव में हम जिसे आर्थिक राजनैतिक अथवा सामाजिक क्रांति कहते हैं वह केवल इन पक्षों से संबंधित संस्थाओं के प्रति व्यक्तियों की मनोवृत्तियों में परिवर्तन ही है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सामाजिक कृति का अर्थ सामाजिक मनोवृत्तियों में तीव्र परिवर्तन होना है। ये मनोवृत्तिया अधिकार व्यवस्था, पारस्परिक संबंधो, परिवार की संरचना, वर्ग संबंधों, सामाजिक मूल्यों, परम्परागत नियंत्रणों, निषेध, नैतिकता आदि के साधनों से संबंधित होता है। यह भी अपेक्षित होता है कि सामाजिक क्रांति के समय नैतिकता का विचार भी लोप न होने पाये। इतना अवश्य है कि व्यक्ति परम्परागत नैतिकता ने स्थान पर नवीन मानदंडों को विकसित करते हैं और इसी आधार पर अपने को संगठित भी रखते हैं।

क्रांतिदर्शन

दादा धर्माधिकारी ने कहा है, “सम्पत्ति छीनने को विद्रोह या बगावत भले ही कह ले, यह क्रांति हरगिज नहीं होगी। जितनी ही अधिक हिंसा होगी उतनी ही क्रांति भी अधिक होगी, यह अप-सिद्धान्त है।” इसी का भावात्मक पक्ष कृपलानी के मनबन्ध का निष्कर्ष भी है। जितनी अधिक हिंसा होगी, अनुपात में उतनी ही कम क्रांति होगी। विमला दीदी ने भी कहा है कि शस्त्रशक्ति के आश्रय से क्रांति हो ही नहीं सकती क्योंकि उसमें प्रतिक्रांति का भय बना रहता है और जब तक प्रतिक्रांति का भय बना रहेगा तब तक क्रांति चिरस्थायी और शाश्वत नहीं होसकेगी। धीरेन भाई ने भी इसका विवेचन करते हुए लिखा है “विचार परिवर्तन के द्वारा मान्यता परिवर्तन के बिना जबरदस्ती कुछ कर देने से प्रतिक्रिया के रूप में प्रतिक्रांति का बीज बढेगा। इसलिए क्रांति को पूर्ण रूप से संस्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि क्रांति की प्रक्रिया भी मान्यता परिवर्तन की प्रक्रिया हो। सबका निचोड़ विनोबा देते हैं कि “जहां मन बदलता है, वही क्रांति होती है। मन मारपीट से नहीं बदला जा सकता। वह तो विचार से बदल सकता है। यदि खून से क्रांति होती है तो आज तक जितने युद्ध हुए, सभी क्रांति की कोटि में आ जाते। अतः खूनी क्रांति क्रांति नहीं, भ्रांति है। सच तो यह है कि क्रांति साधन है, साध्य नहीं। क्रांति क्रांति के लिए नहीं वह तो समस्याओं के समाधान के लिए है। इसलिए क्रांति चिरस्थायी ऐसा नारा बेवकूफी का है।” सशस्त्र या खूनी क्रांति विशेषकर विघातक, विध्वंसक एवं निषेधात्मक होने के कारण सामाजिक पुनर्निर्माण एवं सांस्कृतिक अभ्युत्थान के लिए अनुकूल नहीं है। तभी मान्यताओं की प्रतिष्ठा एवं नए सांस्कृतिक मूल्यों के बीजारोपण के लिए भी शांति एवं सुरक्षा परमापेक्षित है। फिर इस प्रकार के उथल-पुथल में नागरिक जीवन का ही अंत हो जाता है।

सशस्त्र क्रांति के फलस्वरूप समाज में चतुर्दिक घृणा एवं प्रतिशोध की भावना इतनी प्रखर हो जाती है कि कितने ही निर्दोष व्यक्ति भी निंदित किए जाते हैं तथा सुधारकों एवं आदर्शवादी संतों को पीछे हटाकर पेशेवर एवं अवसरवादी राजनीतिज्ञ आ कर अपनी स्वार्थ साधना में लग जाते हैं। घृणा एवं प्रतिहिंसा के प्रतिरोधस्वरूप संशय, वैमनस्य एवं भय का संचार होने लगता है। सम्पूर्ण सामाजिक जीवन षडयंत्रमय हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप गृहयुद्ध भी प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार क्रांतिकारी अपनी ही दुनिया में रहते हैं और केवल अपने को सत्यपथ पर समझ बैठते हैं इसीलिए जो उनके विरोध में रहते हैं वे चाहे सुधारक या संत, निष्पक्ष या तटस्थ ही क्यों न हो, सबको प्रतिगामी एवं भयानक मान बैठते हैं। खूनी क्रांति शीघ्रवाद के नशे में सभ्यता की बुरी बातों के साथ-साथ बहुत अच्छी बातों को भी समेट कर स्वाहा कर देती है। घृणा से आक्रांत, सामर्थ्य से उन्मत्त, आदर्श से उत्प्रेरित इन्हें शुभाशुभ का ध्यान ही नहीं रहता।

हिंसक क्रांति के दुष्परिणाम

1. व्यक्तिगत स्वतंत्रता का दमन — इतिहास इसका साक्षी है कि क्रांति जब कहीं हिंसा के रथ पर सवार होकर आई है, तो सबसे पहले जनतंत्र एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता की ही बलि पड़ती है। इससे एक बात तो बहुत स्पष्ट हो जाती है कि जहां भी राज्य-परिवर्तन या समाज-परिवर्तन में हिंसा को उपकरण बनाया गया है, वहां का, शासनतंत्र जनता के हाथों में नहीं आया। और जब जनता के हाथों में राज्यसत्ता नहीं आई तो जनतंत्र एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता तो दिवास्वप्न रहेगी ही। अतः हिंसा से हिंसक राज्य ही आयेगा।

इसके कई कारण हैं। पहले यह हिंसा शक्ति और विचारशक्ति का परस्पर विरोध है, बल्कि यो कहें कि

हिंसा विचारशक्ति की पराजय है। दूसरी और जनतंत्र के मूल में विचारशक्ति ही हैं जहां विचार और तर्क के लिए स्थान नहीं, जहां जिसकी लाठी उसकी भैंस का ही कानून है, वहां जनतंत्र की बात ही व्यर्थ है। संक्षेप में, जनतंत्र का मूल्य ही हिंसा का विरोधी है। हिंसा शक्ति केवल जनतांत्रिक मूल्यों का ही निषेध नहीं करती, उससे नैतिकता को बहुत चोट पहुंचती है। नैतिकता के लिए भी विचार चाहिए, लेकिन उसमें तो उससे भी अधिक आत्म-स्वातंत्र्य चाहिए। बिना इच्छा स्वातंत्र्य के नैतिकता की कल्पना ही नहीं हो सकती। किन्तु, हिंसा आत्म-स्वातंत्र्य की नहीं वह परतंत्रता का द्योतक है। हिंसा स्वतंत्रता को सहन नहीं कर सकती फिर जब हिंसा शक्ति से सुसज्जित मदान्ध तानाशाह एक बार सत्ता का स्वाद चख लेता है तो फिर वह लाचार या अपदस्थ होकर ही अपनी प्रभुता और सत्ता जनता को समर्पित करता है। इसलिए सच्चे जनतंत्र की ठोस बुनियाद नागरिक शक्ति या अहिंसा पर ही टिक सकती है।

2. जनता के योगदान का अभाव — हिंसक क्रांति में चूंकि जनतंत्र की पहली बलि होती है। इसलिए इसमें जनता जो कुछ भी करती है, डर से करती है, फिर हिंसा के उपकरण भी आज इतने संश्लिष्ट हो गए हैं और आधुनिक सरकारों के पास यंत्रों ने दमनशक्ति इतनी दे रखी है कि हिंसक क्रांति के लिए गुंजाइश भी कम रह गई है। अस्त्र-शस्त्रों की संभाल और परिचालन केवल वही चुने हुए व्यक्ति कर सकते हैं, जो इसका प्रशिक्षण ले चुके हैं। फिर इसमें आतंक और गोपनीयता भी इतनी रखी जाती है कि इसमें जनसाधारण का स्वच्छन्द योगदान संभव नहीं। इस कारण जनमत में क्रांति के प्रति उत्साह संभव नहीं। विपरीत क्रांति की अहिंसक प्रक्रिया में शिक्षित और अशिक्षित, दुर्बल और सबल, स्त्री-पुरुष और बच्चे सभी भाग ले सकते हैं।

इस प्रकार शीघ्र ही यह एक जन-आन्दोलन बन जाता है। इस दृष्टि से इसमें सफलता भी अपेक्षाकृत शीघ्र ही होती है। यह बतलाना तो व्यर्थ ही होगा कि अहिंसक क्रांति की प्रक्रिया अधिक सभ्य और सौम्य है। इसमें हमें सत्य और न्याय के लिए त्याग की शिक्षा मिलती रहती है और हम नैतिक दृष्टि से ऊँचे उठते जाते हैं। हिंसक क्रांति में सफलता हमें मदान्ध एवं अपने दोषों के प्रति अन्धा तथा असफल, निराश, और पलायनवादी बना देती है। यदि हिंसा से ही जीत हो सकती है, तो फिर जिसके हाथों में अधिक हिंसा शक्ति होगी, वही विजयी होगा और अपने को सत्य और न्याय का पक्षपाती मानेगा। इस प्रकार न्याय और अन्याय का प्रश्न नहीं रहेगा।

3. सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दुष्परिणाम — काफी समय से दबी हुई जनता की आशाओं और आकांक्षाओं का ही हिंसा के रूप में विस्फोट होता है। इस तरह समाज में घृणा, आतंक और प्रतिहिंसा का वातावरण फैल जाता है। इसलिए हिंसक क्रांति प्रतिक्रांतियों तथा लगातार चलने वाले गृहयुद्धों को जन्म देती हैं। जिसमें प्रेम, सहानुभूति और भ्रातृत्व आदि जैसे मानवता के उदात्त मूल्य स्वाहा हो जाते हैं। इसलिए लूथर ने माना है कि हिंसा से कभी कोई सुन्दर चीज नहीं निकल सकती है। महाकवि शेक्सपियर का मानना है कि हिंसक क्रांति मानवता के उदात्त मूल्यों पर आधारित कोई नवीन समाज-व्यवस्था की रचना नहीं कर सकती। हिंसक क्रांति की प्रक्रिया इतनी निर्मम, निरंकुश और नृशंस होती है कि इसमें जो पराजित होते हैं, उनका अत्यधिक निर्दलन हो जाता है। समाज में विजेता और पराजित या शासक और दास नामक दो वर्ग बन जाते हैं। हमेशा संशय और शंका, आतंक और अविश्वास का वातावरण छाया रहता है, जिसके कारण समाज की शांति छिन जाती है। कोई भी सृजनात्मक काम नहीं हो पाता है और फिर समाज की प्रगति आदि तो मन्द पड़ ही जाती है। अतः हिंसक क्रांति की तथाकथित भव्य सफलता की शान अत्यन्त अस्थायी रहती है। फिर तो नैराश्य

और कुंठा का ही वातावरण समाज को अस्वस्थ बना कर वहीं पहुंचा देता है, जहां से इसका आरम्भ हुआ था।

4. नैतिक और आध्यात्मिक आधारों की अपेक्षा — हिंसक क्रांति की सबसे बड़ी असफलता इसमें है कि इसमें इतिहास के तथ्यों एवं मानव-स्वभाव का सही अध्ययन नहीं किया गया है। इतिहास में जो भी सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन हुए हैं, वे भौतिक कारणों की अपेक्षा वैचारिक एवं मूल्य-परिवर्तन के कारणों से अधिक हुए हैं। हमारे बुनियादी सिद्धान्त हमारे सामाजिक वातावरण, विश्वासों, आकांक्षाओं और आवश्यकताओं से प्रभावित होते हैं। प्रत्येक समाज परिवर्तन इस बात का द्योतक होता है कि प्रचलित मूल्य अपर्याप्त, दुर्बल एवं विरोधपूर्ण है और इसलिए नए मूल्यों के लिए हमें वैचारिक और भावनात्मक आधार मिलते हैं। समाज-परिवर्तन की भौतिक व्याख्या न तो इतिहास द्वारा समर्पित है, न यह वैज्ञानिक सिद्धान्त ही है।

क्रांति के प्रकार

क्रांतियां अनेक प्रकार की हो सकती हैं किन्तु मुख्य रूप से क्रांति दो प्रकार की होती है — (1) हिंसक क्रांति और (2) अहिंसक क्रांति। हिंसक क्रांति खूनी क्रांति होती है जिसे रक्तीय क्रांति भी कह सकते हैं। अहिंसक क्रांति रक्तवहीन क्रांति है। वह क्रांति जिसमें खूनखराबा तथा अनेक प्रकार से हिंसा का सहारा लिया जाता है उसे स्पष्ट खूनी क्रांति कहते हैं। जर्मनी की, इटली का, रूस की क्रांति आदि रक्तविहीन क्रांति के उदाहरण हैं जिस क्रांति में खून-खराबा नहीं होता, विकृत साधनों का उपयोग नहीं किया जाता, शांति के रास्ते में अहिंसा के सहारे समाज व्यवस्था परिवर्तित किया जाता है उसे रक्तहीन क्रांति कह सकते हैं। गांधी का स्वतंत्रता का आंदोलन, विनोबा का सर्वोदय आंदोलन एवं जयप्रकाश की सम्पूर्ण क्रांति अहिंसक क्रांति का उदाहरण है।

रक्तविहीन क्रांति का स्वरूप

क्रांति परिवर्तन की वह तीव्र प्रक्रिया है जिसमें परम्परागत सामाजिक एवं विचारकों के अनुसार मूल्यों और सामाजिक मान्यताओं का कोई महत्व नहीं रहता। इस प्रकार वास्तविक अर्थों में समाज के परम्परागत ढांचे में होने वाले आमूलचूल परिवर्तन को क्रांति कहा जा सकता है। **आर.डी. होपर के अनुसार** क्रांति की धारणा को अनेक स्थितियों द्वारा स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि क्रांति वह तीव्र परिवर्तन है जिसके अन्तर्गत व्यक्तियों की एक दूसरे से सम्बन्ध रखने वाली राजनीतिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है और सरकार अस्थायी रूप से एक कार्यशील सत्ता के रूप में नहीं रह जाती है। इस स्थिति के अन्तर्गत समाज की आधारभूत एकता समागत हो जाती है और सामाजिक व भौतिक आदर्श, नियम अदृश्य होने लगते हैं। इस स्थिति में सामाजिक संरचना को स्थायी रखने वाले अनौपचारिक नियमों का प्रभाव अस्थायी रूप से समाप्त हो जाता है। क्रांति में अधिक तीव्रता होने पर सभी प्रमुख संस्थाओं से महान परिवर्तन होते हैं। इसके फलस्वरूप राज्य, धर्म, परिवार व शिक्षा अपने मूल रूप से दूर चले जाते हैं।

एक लेखक के अनुसार सामाजिक क्रांति का अर्थ इस तीव्र प्रक्रिया से है जिसके अन्तर्गत एक समाज अपनी सामाजिक संस्थाओं, सामाजिक मूल्यों, सामाजिक सम्बन्धों, अनर्त्तक्रियाओं और विश्वासों के प्रति नवीन मनोवृत्तियों को विकसित करके सामाजिक रचना से मौलिक परिवर्तन को चेतन रूप से, पूर्णरूपेण एक-एक कर दिया जाता है तो ऐसे परिवर्तन को क्रांति कह सकते हैं। सामाजिक क्रांति के लिए व्यक्तियों में अपने सम्पूर्ण समूह, समुच्च, वर्ग अथवा राष्ट्र के लिए नवीन सामाजिक मूल्यों की आवश्यकता का बौद्ध परम आवश्यक है। यह भी आवश्यक है कि समाज के मध्य व्यापार परम्परागत सामाजिक व्यवस्थाओं समाप्त करने के लिए चेतन रूप अप्रतन्शील हो।

जब तत्कालिक सामाजिक संस्थाएं व्यक्तियों की वर्तमान आवश्यकताओं को संतुष्ट करने में सफल नहीं हो रही हों तब क्रांति की आवश्यकता होती है। सोरोकिन ने भी कहा कि क्रांति होने के लिए व्यक्तियों के सामाजिक मूल्यों में संतुलन की कमी होना आवश्यक स्थिति है। यह स्थिति सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था के बीच एक खाई उत्पन्न कर देते हैं और इसी के फलस्वरूप सामाजिक क्रांति होती है।

रक्तविहीन क्रांति की विशेषताएं

रक्तविहीन क्रांति की विशेषता इसकी समगात्यमकता है। गांधी जी समग्र परिवर्तन के समर्थक थे वे समाज के किसी एक पहलू में नहीं किंतु समाज के सभी पहलुओं में परिवर्तन चाहते थे। उनके अनुसार किसी भी सामाजिक व्यवहार के तीन अंग होते हैं – (1) स्थायित्व (2) समाज (3) संस्कृति। व्यक्तित्व का अर्थ है व्यक्ति का सामाजिक जगत से किस प्रकार का संबंध है। समाज से तात्पर्य है – समाज के समुदायों और संस्थाओं का आपसी संबंध किस प्रकार का है। जैसे वर्ग, जाति, सम्प्रदाय आदि के अन्तर्गत उन पद्धतियों का विचार करना है जिसके द्वारा, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक संस्थाएं एक दूसरे के साथ किस प्रकार का व्यवहार करती हैं। संस्कृति में समाज के सभी सदस्य भाग लेते हैं। इसके अन्तर्गत नीति और धर्म आदि समाविष्ट हैं। यह मानव के चरम मूल्यों को परिभाषित करता है एवं कौन सा सिद्धान्त उचित है, कौन सा सिद्धान्त अनुचित है इसका निरूपण करते हैं। फ्रायड व्यक्तित्व परिवर्तन में ज्यादा बल देता है। कार्ल मार्क्स आर्थिक संस्थाओं के परिवर्तन के पक्ष पर ज्यादा जोर देते हैं। कालेकार केवल मूल्यों में होने वाले परिवर्तन पर बल देते हैं। समसामयिक विचारकों में मकियावली, हेगेल, शोपेनहायर, मार्क्स तथा फ्रायड आदि के सिद्धान्तों में समाज के एक विशेष पहलू के परिवर्तन की बात है। अतः इनका सिद्धान्त आंशिक सत्यता रखता है। वहां गांधी ने समाज के समस्त पहलुओं पर आमूलचूल परिवर्तन की बात की है। इसीलिए गांधी दर्शन में सबसे अधिक प्रमुखता उनके समाज परिवर्तन सिद्धान्त को मिले हैं। जिसने केवल भारत को नहीं अपितु पूरे विश्व को आकर्षित किया है। गांधी जी के विचार के अनुसार समग्र क्रांति के लिए परिपक्व समाज और संस्कृति तीनों में परिवर्तन होना है। वैसी क्रांति, वैसा परिवर्तन वास्तविक एवं स्थायी होता है।

रक्तविहीन क्रांति की दूसरी विशेषता है – साधन की पवित्रता। समाज परिवर्तन के लक्ष्य के साथ-साथ साधन की पवित्रता पर गांधीजी विशेष बल देते थे। साधन की पवित्रता रक्तविहीन क्रांति की अनिवार्य शर्त है इसके बिना रक्तविहीन क्रांति संभव नहीं है। कार्ल मार्क्स जहां समाज परिवर्तन के लिए हिंसा, घृणा, ईर्ष्या, अवसरवादिता, आतंक आदि अशुद्ध एवं अपवित्र साधनों पर बल देते हैं वहां गांधी समाज के समस्त पहलुओं में परिवर्तन के लिए अहिंसक एवं शुद्ध साधनों पर बल देते हैं। इसलिए इनका मार्ग अहिंसक क्रांति का मार्ग है।

गांधी जी का मानना था कि साधन की पवित्रता के बिना कोई भी क्रांति टिकाऊ नहीं हो सकती। जिस क्रांति के पीछे हिंसक साधनों का सहारा होता है। वह आमूल एवं समग्र क्रांति नहीं होती है। इस प्रकार की क्रांति में न तो सबको स्वतंत्रता मिलती है, न सबका मानस बदलता है, इस प्रकार की क्रांति का लाभ कुछ को ही मिलता है। जे.पी. के शब्दों में भारत को आजादी मिली किन्तु वह दिल्ली की क्रांति हो सकती है, गांव अभी पिछड़े हुए हैं। वही क्रांति अहिंसक है जिसका उपाय शांतिपूर्ण तरीके से हो, प्रेम एवं नैतिकता पर आधारित हो। हिंसा और एवं सच्ची क्रांति कभी दोनों एक साथ नहीं चलती है।

रक्तविहीन क्रांति की तीसरी विशेषता है – क्रांति कर्ता और क्रांति के विषय में साथ-साथ परिवर्तन। वही क्रांति रक्तविहीन में क्रांति का कर्ता और विषय दोनों में साथ-साथ परिवर्तन होता है। मार्क्स की क्रांति बंदूक

की नली की क्रांति है। समाज में कुछ लोगों की क्रांति है। जब तक क्रांति का कर्ता स्वयं नहीं बदलता तब तक समाज में वास्तविक क्रांति हो नहीं सकती। स्वयं को बदलकर दूसरों को बदलना सच्ची क्रांति है। मार्क्सवाद से भिन्न सत्याग्रही स्वयं को बदलता है। सत्याग्रह में क्रांति कर्ता स्वयं के साथ दूसरे के जीवन को बदलने का प्रयत्न करता है। इस आधुनिक समाज में समाज के व्यक्तियों और समाज की संस्थाओं की शुद्धिकरण की बात की जाती है एवं उसके लिए प्रयत्न किया जाता है किन्तु स्वयं में परिवर्तन के लिए कोई प्रयत्न नहीं। स्वयं में परिवर्तन के बिना समाज में परिवर्तन आ नहीं सकता।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि गांधीजी की क्रांति में समाज के सभी पहलुओं में समग्रतात्मक परिवर्तन है। क्रांति और क्रांति के कर्ता में साथ-साथ परिवर्तन है। क्रांति की प्राप्ति के साधन शुद्ध, अहिंसक एवं पवित्र है। इस प्रकार गांधी जी रक्तवहीन क्रांति अपने आप में महत्वपूर्ण एवं सभी दार्शनिकों एवं पूरे विश्व को आकर्षित करने वाली क्रांति है।

रक्तविहीन क्रांति का लक्ष्य

गांधी जी अपने समय की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक अन्य प्रकार की व्यवस्थाओं और मान्यताओं से असंतुष्ट थे। सबसे पहले दक्षिण अफ्रीका में रंग-भेद नीति, उपनिवेशवाद और पूंजीवाद के द्वारा होने वाले शोषण और अत्याचार की स्थिति को देखकर उनका हृदय कंपित हो उठा। फिर आधुनिक सभ्यता के नाम पर कानून, अंग्रेजी चिकित्सा का प्रयोग एवं भारी-मशीनों आदि से होने वाले शोषण और उत्पीड़न से उनका मानस आंदोलित हो उठा।

इसी तरह भारतीय समाज में व्याप्त आर्थिक असमानता, बेरोजगारी, छुआछूत की भावना, जाति-भेद धर्म के नाम पर चलने वाले अन्याय, अत्याचार एवं पाखंड, नारी के प्रति अभ्रद व्यवहार, शराब नीति, ऊँच-नीच भेद और समाज में हिंसात्मक प्रवृत्तियों की स्थिति से उनकी मानसिक चेतना द्रवित हो उठी। उनका यह मानना था कि इस प्रकार की स्थितियों के फलस्वरूप समाज में कलह, प्रतियोगिता, ईर्ष्या, घृणा, भ्रष्टाचार, हिंसा, झूठ, अवसरवादिता आदि को प्रोत्साहन मिलता है, बढ़ावा मिलता है।

गांधी जी की रक्तहीन क्रांति का लक्ष्य था समाज के सभी क्षेत्रों में व्याप्त शोषण, अन्याय एवं अत्याचार की स्थिति को शांतकर एक अहिंसक एवं आदर्श समाज की स्थापना करना। वह ऐसा समाज होगा जिसमें परस्पर सहयोग, प्रेम एवं सद्भावना का विकास हो। प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता और गरिमा सुरक्षित और समान हो। इस समाज में न कोई शोषक होगा, न कोई शोषित होगा, न कोई ऊँचा होगा, न कोई नीचा होगा एवं समाज में कम-से-कम राज्य का शासन होगा, जनता अपनी सुरक्षा स्वयं करेगी। इस अहिंसक समाज में सब के द्वारा, सब का, सब प्रकार से उदय एवं कल्याण होगा। इस आदर्श समाज में घृणा के स्थान पर प्रेम, हिंसा के स्थान पर अहिंसा, प्रतिस्पर्धा के स्थान पर सहयोग, अनैतिकता के स्थान पर नैतिकता, असमानता के स्थान पर समानता, अन्याय के स्थान पर न्याय की स्थापना होगी। इस प्रकार गांधी जी की रक्तहीन क्रांति का लक्ष्य समाज में व्याप्त बुराईयों को शांत करके एक आदर्श एवं अहिंसक समाज की स्थापना करना था।

रक्तहीन क्रांति की प्रक्रिया

किसी भी क्रांति की तीन प्रक्रिया हो सकती है — हिंसा, कानून और करुणा पर आधारित अहिंसक प्रक्रिया। किन्तु रक्तविहीन क्रांति का आधार अहिंसा, प्रेम और करुणा है। जिसके आधार पर समाज में स्थायी

एवं वास्तविक परिवर्तन लाया जा सकता है। वास्तविक परिवर्तन की शक्ति न तो हिंसा में है और न कानून में।

कुछ लोग इस कि हिंसा के बिना क्रांति संभव नहीं है। इसके बारे में गांधी का अपना विचार है कि जिस क्रांति में अस्त्र-शस्त्र और हिंसा एवं असत्य आदि का सहारा लिया जाये वह वास्तविक और सच्ची क्रांति हो नहीं सकती चाहे, वह फ्रांस की राज्य क्रांति हो या रूस की लाल क्रांति। हिंसा के द्वारा लाये हुए परिवर्तन में व्यक्ति की नैतिकता, स्वतन्त्रता एवं सुरक्षा कायम नहीं रह सकती। इतिहास भी इस बात का साक्षी है। उदाहरण के लिए फ्रांस की क्रांति में एक विनम्र राजा लुई सोलहवें के स्थान पर सशक्त नेपोलियन आये। इंग्लैण्ड में चार्ल्स प्रथम के स्थान पर क्रूर क्रामवेल आये। इस प्रकार जर्मनी और इटली जैसे देशों में भी समान घटनाएं घटी। इसमें तो जनता की स्वतंत्रता पहले से अधिक खंडित हुई। इससे यह स्पष्ट है कि हिंसा के द्वारा प्राप्त क्रांति में व्यक्ति की स्वतंत्रता सुरक्षित नहीं रहती है एवं व्यक्ति की गरिमा एवं नैतिकता का अनादर होता है, नैतिकता के स्थान पर स्वार्थ पनपता है। राजनैतिक शक्ति ठगों और धूर्तों के हाथ में केन्द्रित हो जाती है इसीलिए तो गांधी जी ने कहा है कि एक सफल खूनी क्रांति का अर्थ है – समूह के दुःखों में वृद्धि करना क्योंकि उसमें उनके लिए पराये का ही शासन रह जाता है। गांधी जी ने कहा सच्ची क्रांति का आधार है – सामूहिक रचना और संगठन। वही क्रांति सच्ची क्रांति है जिस क्रांति में जनता का सक्रिय सहयोग हो स्वतंत्रता और सुधार की तत्परता हो और जनता स्वयं अपनी मालिक हो। जिस क्रांति में जनता सक्रिय रूप से भाग नहीं लेती है वह क्रांति कल्याणकारी नहीं हो सकती। अगर समूह का साथ लिए बिना एवं उनको सुधार की आवश्यकता का ज्ञान कराये बिना परिवर्तन लाना चाहेंगे तो इसके परिणामस्वरूप प्रतिक्रिया की, प्रतिशोध की भावना बढ़ेगी। इस प्रकार से हिंसा-प्रतिहिंसा का दुश्चक्र चलता रहेगा और वास्तविक क्रांति नहीं होगी।

गांधी के विचारानुसार अहिंसक क्रांति सबसे उत्तम एवं तीव्र क्रांति है। हिंसक क्रांति की तुलना में इसमें हत्याएं कम होती हैं, आर्थिक विनाश कम मात्रा में होता है, जबकि खून-खराबी की क्रांति में केनेथ पोलण्डिंग के अनुसार आर्थिक विकास दो पीढ़ी पीछे हो जाता है। अहिंसक क्रांति में समाज के विकासमान मूल्यों और निर्माण को कम खोना पड़ता है और उनका पुनःनिर्माण हो सकता है। जबकि हिंसक क्रांति में समाज के विकास और निर्माण का तत्व खत्म हो जाता है। इसे अलावा अहिंसक क्रांति में व्यक्ति को अहिंसा, सत्य, प्रेम, निःस्वार्थता आदि के द्वारा जीवन जीने की एवं सहनशीलता की भावना को विकसित करने की प्रेरणा दी जाती है। जबकि हिंसक क्रांति में केवल हिंसा की शिक्षा दी जाती है। हिंसक क्रांति तीव्र और उत्तम है इस बात के समर्थकों का खंडन करते हुए जोर्ज लेकी ने बतलाया है कि हिंसक क्रांति की तुलना में अहिंसक क्रांति अधिक उत्तम और तीव्र है। माओं ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि चीन में उपनिवेशवाद के अंत करने में एक सौ वर्ष का समय लगा और दस लाख व्यक्तियों की हत्या की गई। इस प्रकार घटना फिलीपाइन और मलैया के साथ रही। हिंसक क्रांति में क्रांति के बाद जनता को अन्याय से दूर होने के लिए शासकों से संघर्ष करना पड़ता है। जबकि अहिंसक क्रांति में जनता के पास अन्याय एवं अत्याचार के सामने लड़ने की शक्ति आ जाती है। फलस्वरूप बिना नुकसान के बुराईयों को शान्त कर दिया जाता है। इस प्रकार हिंसा के द्वारा जो क्रांति होती है वह आंशिक होती है। अहिंसा के द्वारा प्राप्त क्रांति पूर्ण होती है। रक्तविहीन क्रांति सरकार और संविधान को बदलने से नहीं होती अपितु समाज की व्यवस्था में समग्र परिवर्तन होने से होती है। इसलिए तो गांधी ने हिंसक और खूनी क्रांति को समाज परिवर्तन के लिए अनुपयोगी बताया।

मार्क्स क्रांति के लिए वर्ग-संघर्ष को आवश्यक तत्त्व मानता है। इसका कहना है कि समाज की रचना का इतिहास वर्ग-संघर्ष है। जब संघर्ष का रूप बदलकर हिंसा में परिणत होता है तब समाज में क्रांति होती है। जब मजदूर वर्ग पूंजीपति वर्ग पर विजय प्राप्त करता है और राज्य सत्ता संभालता है तब क्रांति होती है।

गांधीजी के अनुसार यह क्रांति वास्तविक क्रांति नहीं है। क्योंकि हिंसा के आधार पर समाज में स्थाई एवं सुदृढ़ परिवर्तन आ नहीं सकता। इस प्रकार की क्रांति में वास्तविक परिवर्तन की अपेक्षा प्रतिशोध की भावना सन्निहित है। दूसरी और मार्क्स उत्पादन के साधनों और राज्य व्यवस्था को केन्द्रित करना चाहता है किन्तु उससे भी आर्थिक एवं राजनैतिक क्रांति हो नहीं सकती क्योंकि क्रांति के लिए विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। मार्क्स का मानना है कि समाज का बाहरी परिवर्तन होना ही क्रांति है। किन्तु गांधी एवं विनोबा क्रांति के लिए समाज के सम्पूर्ण मूल्यों और विचारों में आमूल-चुल परिवर्तन होने की बात को स्वीकारते हैं। क्रांति सब व्यक्तियों के सहयोग से होती है, व्यक्ति को बदलकर, व्यक्ति की स्वतंत्रता को कायम रखकर एवं क्रांति की प्रक्रिया को उन्मुक्त रखकर ही वास्तविक क्रांति प्राप्त की जा सकती है।

मार्क्स पूंजीपति को हिंसक मानता है एवं बलपूर्वक इनकी सम्पत्ति को छीनना चाहता है किन्तु बल के प्रयोग से हिंसा घटने के बदले बढ़ती है। गांधी और विनोबा का यह मानना है कि क्रांति एक मानसिक प्रक्रिया है जब तक व्यक्ति के मानसिक विचारों में मानसिक चिंतन में, प्रेमपूर्वक बदलाव नहीं आता तब तक स्थायी क्रांति नहीं हो सकती। साम्यवादी गरीबी को मिटाने के लिए हिंसक साधनों का प्रयोग करते हैं किन्तु इससे वो गरीबी मिटती नहीं है। अपितु मनुष्य की प्रतिष्ठा एवं मूल्यों में गिरावट आती है। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि सच्ची एवं अहिंसक क्रांति प्रत्येक व्यक्ति के सहयोग से, प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता को कायम रखकर एवं समाज के समस्त मूल्यों और मान्यताओं में परिवर्तन लेकर ही प्राप्त की सकती है। इसके लिए क्रांति की प्रक्रिया अहिंसा, प्रेम एवं सहयोग के आधार पर होनी चाहिए।

समाज परिवर्तन का दूसरा तरीका कानून, राज्य सत्ता अथवा दण्ड शक्ति है। जिस प्रकार गांधी और विनोबा में रक्तहीन क्रांति के लिए हिंसक प्रक्रिया को अस्वीकार किया इसी प्रकार उन्होंने समाज में स्थाई एवं अहिंसक क्रांति के लिए कानून की प्रक्रिया को भी अपर्याप्त बतलाया। उनका मानना है कि जनमत एवं नैतिक वातावरण पैदा करने से ही सच्ची क्रांति हो सकती है। कानून से न तो जनमत तैयार होता है और न तो उचित नैतिक वातावरण पैदा होता है इससे विपरीत कानून से उचित वातावरण पैदा न होने से समाज विभाजित हो जाता है और संघर्ष पैदा होता है। गांधी जी ने कहा कानून तो एक दिशा सूचक है वास्तविक क्रांति के लिए मुख्य बात है समाज की मान्यता, नैतिकता का पालन, सामाजिक एवं व्यक्तिगत चेतना का विकास एवं जनमत को तैयार करना। कानून के आधार पर सामाजिक और व्यक्तिगत चेतना का विकास हो नहीं सकता और चेतना के विकास के बिना रक्तहीन क्रांति संभव नहीं है।

गांधी जी के विचारानुसार व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं चिंतन शक्ति नष्ट हो जाती है। उन्होंने यह भी कहा था कि अगर कानून से ही अहिंसक क्रांति होगी तो समाज में सबको न्याय मिलता, सब शोषण से मुक्त होते, लेकिन ऐसा हुआ नहीं है। उन्होंने हिंद स्वराज्य में बतलाया कि वकील लोग कानून के आधार पर न्याय दिलाने के बदले समाज को टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं। गांधी जी का यह मानना था कि कानून तो मात्र कागदी होते हैं उसका यथाचित पालन नहीं होता है। उदाहरणस्वरूप अस्पृश्यता निवारण के लिए कानून बनाये गए फिर भी समाज में अस्पृश्यता कायम ही है। इसके बदले तो समाज में हरिजनों को जीवित जलाने की घटनाएं घट रही हैं। बिहार में भूमि सुधार के तमाम कानूनों के बाद भी जो लोग बटाई पर जमीन जातते थे उनकी भी जमीन छीन ली गई और पुश्त दर पुश्त से किसी जमीन पर बसे थे उनका घर उजाड़ कर उन्हें वहां से निष्काशित कर दिया गया। कानून से समाज में वास्तविक परिवर्तन नहीं आता है तभी तो धनी वर्ग धनी रहते हैं, गरीब की गरीबी बनी रहती है एवं कुछ मध्य वर्गों के लोग पीसे जाते हैं।

विनोबा का कहना है कि कानून से जो चीज बनती है वह छोटी चीज होती है। क्रांति का कार्य तो महान है वास्तव में अहिंसक क्रांति का मूल तत्त्व है लोकमत एवं प्रेम का विकास। इसके द्वारा व्यक्ति के विचारों में परिवर्तन करके समाज में वास्तविक क्रांति ला सकते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रक्तहीन क्रांति के लक्ष्य की प्राप्ति कानून के द्वारा संभव नहीं है। रक्तहीन क्रांति के लक्ष्य प्राप्ति जनमत तैयार कर व्यक्तिगत वह सामाजिक चेतना का परिष्कार करके ही हो सकती है।

रक्तहीन क्रांति का लक्ष्य हिंसा और कानून के आधार पर पूरा नहीं किया जा सकता। रक्तहीन क्रांति की प्रक्रिया का महत्वपूर्ण आधार है – करुणा। गांधी जी के विचारानुसार करुणा के द्वारा ही सच्ची क्रांति की प्राप्ति हो सकती है। करुणा के द्वारा ही व्यक्ति की आंतरिक एवं बाह्य चेतना को बदल सकते हैं। वर्ग संघर्ष, रक्तपात एवं क्रूरता के आधार पर व्यक्ति एवं समाज की चेतना परिष्कृत नहीं होती अपितु मलिन हो जाती है। चेतना के परिष्कार के बिना क्रांति संभव नहीं है। व्यक्ति के विचारों एवं मूल्यों में परिवर्तन करके ही वास्तविक परिवर्तन को प्राप्त किया जा सकता है। अब तक सामाजिक परिवर्तन में मुख्य रूप से दो प्रकार की प्रक्रिया ही रही हैं – एक संतों एवं रहस्यवादियों की दूसरी प्रक्रिया मार्क्सवादी की जो समाज रचना को बदल कर समाज परिवर्तन करना चाहते हैं। गांधी को रक्तविहीन क्रांति में दोनों का समन्वय है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि गांधी और विनोबा के विचारानुसार रक्तविहीन क्रांति की प्रक्रिया के मुख्य आधारभूत तत्व अहिंसा, प्रेम आदि हैं।

1. विचार परिवर्तन—विचार परिवर्तन रक्तविहीन क्रांति की पहली आवश्यकता है। गांधी जी का यह मानना था कि विश्व में जितनी क्रांतियाँ हुईं इन सबके पीछे विचार का बल महत्वपूर्ण रहा है। रक्तविहीन क्रांति के लिए गांधी ने जनमत का निर्माण करना आवश्यक समझा। इसके लिए विचार परिवर्तन के सिद्धान्त को महत्वपूर्ण मानते हैं। यदि गरीबों को इस बात की शिक्षा दी जाई कि उनके शोषण और असमानता का आधार पूंजीपतियों का सहयोग करना है और यदि वे पूंजीपति का सहयोग करना करना बंद कर दे तो उनका शोषण स्वतः समाप्त हो जायेगा। इसके लिए लोक शिक्षण की आवश्यकता है। इस प्रकार गांधी जी के विचारानुसार समूह की चेतना को ज्ञान के द्वारा, विचार के द्वारा जगाकर समाज में क्रांति लाई जा सकती है। इस विचार परिवर्तन की प्रक्रिया को जन-जन तक पहुंचाने के लिए गांधी जी ने अनेक माध्यमों को अपनाया जैसे प्रार्थना सभा में भाषण, पत्रिका का प्रकाशन, ग्राम रचना का कार्यक्रम इत्यादि।

विनोबा के विचारानुसार मानव के नैतिक मूल्यों में परिवर्तन आने से ही अहिंसक क्रांति संभव हो सकती है। और इसके लिए विचार परिवर्तन ही महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। उनका यह विश्वास था कि विचार परिवर्तन और प्रचार-प्रसार का कार्य राज्य सत्ता या सरकार द्वारा संभव नहीं है क्योंकि वह विचार का प्रचार-प्रसार अपनी-अपनी दृष्टि से करती है। और जब-जब राज्य ने धर्म और प्रचार-प्रसार का कार्य किया तब-तब काफी खून-खराबा हुआ। इस दृष्टि से गांधी की भांति विनोबा ने भी अपने आंदोलनों में विचार-परिवर्तन को महत्वपूर्ण स्थान दिया। साथ ही साथ विनोबा ने उनके विचार परिवर्तन के सिद्धान्त को दार्शनिक आधार भी दिया। विनोबा की दृष्टि में विचार मानव जीवन की बुनियाद है। विचारों की प्रेरणा मानव जीवन को उत्स्फूर्त करती है। मानव-जीवन के स्थान के पीछे विचार का बल महत्वपूर्ण होता है। विचार के कारण आंदोलन होता है, जीवन में जोश आता है, जीवन में नवीनता आती है। विचार के द्वारा ही समाज का ढांचा बदलता है, व्यक्ति का जीवन बदलता है, विचार मनुष्य की वह ताकत है जिस पर उसके जीवन की इमारत खड़ी हो सकती है। विनोबा ने विचार के प्रचार-प्रसार हेतु सम्पूर्ण भारत की पदयात्रा की और अपने कार्यकर्ताओं को सर्वोदय की पुस्तकों तथा गीता प्रवचन को घर-घर तक पहुंचाने का आदेश दिया एवं पत्रिका, पुस्तक प्रवचन आदि का भी सहारा लिया।

इस प्रकार रक्तविहीन क्रांति का मुख्य तत्त्व, विचार परिवर्तन का सिद्धान्त समाज में स्थायी एवं अहिंसक क्रांति के लिए महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। विचार एक ऐसी प्रक्रिया है जो मनुष्य की आंतरिक चेतना को जगाती है, अन्याय एवं शोषण के सामने लड़ने की प्रेरणा देती है।

2. स्थिति परिवर्तन – इसके बिना वाछित परिवर्तन लाना संभव नहीं हैं। जब व्यक्ति का विचार परिवर्तित होता है तो समाज की स्थिति में परिवर्तन आता है। अहिंसक क्रांति के लिये स्थिति परिवर्तन का सिद्धान्त अपने आप में एक आवश्यक सिद्धान्त है। परिस्थिति परिवर्तन वास्तविक परिवर्तन की प्रक्रिया है मानसिक कल्पना नहीं। इसके स्पष्ट उदाहरण विनोबा और गांधी के द्वारा चलाये गये आन्दोलनों के फलस्वरूप परिस्थिति के परिवर्तन में देखने को मिलता है। ब्रिटेन की उपनिवादी नीति का अंत, छुआछुत पर्दा प्रर्था आदि का अन्त ये सभी स्थिति परिवर्तन के उदाहरण हैं। इस प्रकार गांधी व विनोबा ने अहिंसक क्रांति के लिये स्थिति परिवर्तन का आवश्यक तत्व माना है।

3. हृदय परिवर्तन – इसके कई पहलु हैं। रक्तविहीन क्रांति के अर्न्तगत हृदय परिवर्तन परिवर्तन का सशक्त माध्यम है। ये शब्द सामान्यतः व्यक्तित्व में सम्पूर्ण सम्यक व स्थायी परिवर्तन के लिये प्रयुक्त होता है। जैसे ही किसी व्यक्ति का वास्तविक हृदय परिवर्तन होता है। प्रायः सम्पूर्ण व्यक्ति का हृदय परिवर्तन होता है। प्रायः संपूर्ण व्यक्तित्व का पुनःजन्म हो जाता है। उसके व्यक्तित्व में यह परिवर्तन शारीरिक शक्ति या दबाव से नहीं लाया जा सकता। विनोबा ने एक पत्र में लिखा है कि जो यह सोचते हैं कि मानवीय व्यवहार और मस्तिष्क में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता वे मानवीय मनोविज्ञान से अनभिज्ञ हैं तथा मानवीय स्वभाव को जड़ समझते हैं। कुछ आलोचकों का यही भी मत है कि इस प्रकार के रूपान्तरण को स्थायी बनाने के लिये व्यक्तियों के परिवेश को भी बदलना आवश्यक है। विनोबा मानते थे कि हम समाज की पृष्ठभूमि, समय के बहाव व इतिहास को नकार नहीं सकते। हम शून्य में नहीं सोच सकते। हमारी सोच पर हमारा व्यवहार हमारी मान्यताएं और सामाजिक, सांस्कृतिक व्यवहार भी प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार रक्तविहीन क्रांति के माध्यम से समाज परिवर्तन के लक्ष्य को संपूर्णतः प्राप्त किया जा सकता है जबकि अन्य साधनों के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन का स्वरूप अस्थायी एवं आंशिक होगा। विश्व तथा भारत के इतिहास में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जिसे रक्तविहीन क्रांति के सिद्धान्तों पर आधारित समाज परिवर्तन का प्रयास मान सकते हैं।

रेडिकल समाजशास्त्र

पिछले वर्षों से समाजशास्त्र में जो प्रवृत्ति रही है, उसको परम्परावादी, परम्परागत, यथास्थिति को बनाये रखने वाली आदि का नाम दिया है। इस प्रवृत्ति, जिसमें संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम का प्रभुत्व था, की प्रतिक्रिया में एक नई विचारधारा समाजशास्त्र में उत्पन्न हुई जिसे रेडिकल समाजशास्त्र का नाम दिया गया। होरोविट्ज ने अपनी पुस्तक रेडीकल सोसियोलोजी में लिखा है, अमेरिकन समाज से सम्बन्धित अन्य विषयों की तरह समाजशास्त्र में भी गंभीर संकट उत्पन्न हो गया है, तथा यह बढ़ता ही जा रहा है। क्योंकि प्रचलित मॉडल अमेरिकन समाज के सुसंगत है, तथा यथार्थता से दूर है। अमेरिकन समाजशास्त्र में जो प्रविधियां व मॉडल विकसित किये जा रहे हैं वे शासक वर्ग तथा सत्ता का समर्थन करते हैं, तथा यथास्थिति बनाये रखने में योगदान देते हैं। रेडिकल समाजशास्त्र में जिन समाजशास्त्रियों का प्रमुख योगदान रहा है, उनसे सी राइटमिल्स, मार्टिन निकोलस, होरोविट्ज, रेविड रिजमैन, डी कोलफैक्स, अलबर्ट जनेस्की आदि का नाम उल्लेखनीय है।

रेडिकल समाजशास्त्र मूल रूप से इस विचार को लेकर चलती है, कि मनुष्य के आर्थिक और सांस्कृतिक

सम्बन्धों में किस प्रकार की विषमतायें और विभिन्नताएं पाई जाती हैं। सामाजिक व्यवस्था का यह वर्तमान स्वरूप किस प्रकार बना हुआ है, और इसके पीछे कौन सी ऐतिहासिक प्रक्रिया अथवा शक्तियां हैं जिन्होंने समाज के वर्तमान स्वरूप को निर्धारित किया है। वास्तव में समाजशास्त्र में जो प्रक्रियाएं अब तक विद्यमान रही हैं, उनको विपरीत दिशा में ले जाना रेडिकल समाजशास्त्र का मुख्य कार्य है। सत्ताविहीन शोषित वर्ग के बारे में ज्ञान प्राप्त कर उनकी स्थिति को सुधारने के लिए सामाजिक संरचना में परिवर्तन करें वर्ग विशेषकर आर्थिक वर्ग को इस तरह से समाप्त करें कि सभी व्यक्तियों को समान अवसर मिलें, सामाजिक न्याय मिले। रेडिकल समाजशास्त्र उन सामाजिक अत्याचारों, अन्याय के स्वरूपों का भी अध्ययन करती है, जो अधिकांश जन समूहों पर किये जाते हैं। भारी जन समूह को शोषण व दबाव के प्रति जागरूक बनाना रेडिकल समाजशास्त्र का मूल कर्तव्य है।

सी. राइट मिल्स के रेडिकल विचार हमें उसकी प्रसिद्ध कृति “दी पावर एलीट” में भी देखने को मिलती हैं। मिल्स का कहना है कि अमेरिकी समाज में समाज का जो स्वरूप जैसा दिखता है वैसा है नहीं। बहुत कम लोगों से मिलकर बना एक “शक्ति-अभिजन” ही सम्पूर्ण शक्ति तथा सत्ता है। अमेरिका समाज का अध्ययन के मिल्स का यह सिद्धान्त अमेरिकी समाज तक ही सीमित रहा है। मिल्स का कहना है कि शक्ति अभिजन संस्थाओं के माध्यम से शासन करते हैं या संस्थागत शासन करते हैं न कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से। उन्होंने इस अवधारणा का खण्डन किया कि अभिजात वर्ग के लोग कोई उच्च स्तर की योग्यता या मनोवैज्ञानिक गुण रखते हैं, जो कि उन्हें सामान्य जन से अलग करते हो मिल्स का कहना है कि, संस्थाओं की संरचना इस प्रकार की है इन संस्थाओं में सत्ता संस्तरण के उच्च स्तर पर बैठे। हुए लोगों शक्ति पर एकाधिकार है। कुछ संस्थाएं समाज में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं और इन पर बैठे अभिजन लोग आदेश देने की क्षमता रखते हैं। सी.राइट मिल्स ने कहा है कि ये महत्वपूर्ण संस्थाएं तीन प्रकार की हैं – (1) वृहत आर्थिक संगठन, (2) सैन्य संगठन, (3) फ़ैडरल गर्वनमेन्ट। जो इन तीनों संस्थाओं के उच्च पदों पर आसीन है वही अभिजन है। इस प्रकार तीन तरह के शक्ति अभिजन देखने को मिलते हैं पूंजीपति, सैन्य अधिकारी तथा राजनैतिक नेता। व्यवहार में इन अभिजनों के हित, रुचियों तथा स्वार्थ एक जैसे हैं और मिल्स ने इनको “शक्ति अभिजन” कहा है। उनके अनुसार अमेरिकी पूंजीवाद को हम मिलिट्री पूंजीवाद कह सकते हैं। एक फ़ैक्ट्री में बनने वाला टैंक या बन्दूक, आर्थिक अभिजन तथा मिलिट्री अभिजन दोनों के हितों, स्वार्थों की पूर्ति करता है। इसी प्रकार मिल्स कहता है कि अमेरिका में व्यापार व सरकार को दो अलग-अलग तत्वों के रूप में नहीं देख सकते। उन्होंने कहा कि राजनैतिक अभिजन आर्थिक क्षेत्र के निर्णायक हैं इनके निर्णय व्यवस्थित रूप से बड़े कारपोरेशनों के हितों की रक्षा करते हैं।

अमेरिकी समाज में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के सभी महत्वपूर्ण निर्णय इन्हीं के द्वारा लिये जाते हैं जैसे द्वितीय विश्व युद्ध में शामिल होने का निर्णय, हीरोशिमा पर परमाणु बम गिराये जाने का निर्णय इन्हीं शक्ति अभिजनों के द्वारा लिया गया था, शक्ति संरचित समाज में राजनीति जनता के विचार विमर्श का विषय नहीं रह जाता। डेमोक्रेटिक व रिपब्लिक पार्टियों में कोई भेद नहीं रह जाता, जनता के पास कोई विकल्प नहीं है इस प्रकार मिल्स ने एक नये परिप्रेक्ष्य में नये दृष्टिकोण से सामाजिक यथार्थ को जानने का प्रयत्न किया है, वास्तविकता को खोजने का प्रयास किया है जो परम्परागत दृष्टिकोण से निश्चय ही भिन्न है। अलबर्ट जेनेस्की कोलफेक्स की पुस्तक “रेडिकल समाजशास्त्र” में लिखे अपने लेख “टुअर्ड्स ए रेडिकल सोसियोलॉजी” में अपने विचार स्पष्ट करते हुए लिखा है, कि अमेरिकन समाज को हम संयुक्त पूंजीवाद की श्रेणी में रख सकते हैं। जहां निजी उपक्रम प्रभावशाली है। और समाजशास्त्र इन प्रभावी संस्थाओं की संरचना के लिए दो प्रकार्यात्मक भूमिका निभाता है, प्रथमतः यह व्यवस्था को वैधानिकता प्रदान करता है, तथा उन्हें व्यवहारिक

ज्ञान उपलब्ध कराता है। ये विद्यमान सामाजिक संरचना को उचित ठहराते हुए इन प्रभावी संस्थाओं के हितों की रक्षा करते हैं, और कहते हैं, कि कितनी अच्छी तरह से समाज कार्य कर रहा है, तथा वर्तमान में विद्यमान संस्थाएं किस प्रकार आवश्यक हैं।

जेनेस्की ने आगे कहा है, कि समाजशास्त्र में सिद्धान्त और अनुसंधान की भूमिका मानव की छुपी हुई शक्तियों को समझने की और मोड़ी जानी चाहिए। सिद्धान्त और अनुसंधान का लक्ष्य मानव की समस्याओं को समझना होना चाहिए और इस दृष्टि से रेडिकल समाजशास्त्र की तीन परिधियां महत्वपूर्ण मानी गई हैं—

1. मनुष्य और समाज को ठीक प्रकार से समझाना।
2. व्यवस्थावादी विचारों के प्रति सन्देह की भावना रखना।
3. जन समुदाय के प्रति दया रखना तथा प्रभावित लोगों के साथ अपने आप को जोड़ना।

जेनेस्की के विचार में रेडिकल समाजशास्त्र इन तीन बातों से ओतप्रोत होनी चाहिए—

1. समझ — रेडिकल समाजशास्त्र का मुख्य उद्देश्य मनुष्य और समाज को ठीक से समझना है, तथा इस प्रश्नों का उत्तर खोजना है, कि सामाजिक संरचना में शोषित वर्ग के लिये कौन से तत्व जिम्मेदार है।

2. शंका की प्रवृत्ति — रेडिकल समाजशास्त्र में अन्ध विश्वासों का कोई स्थान नहीं पर शंका की प्रवृत्ति का विकास किया जाना चाहिए। विश्वास व सत्ता के आधार पर यों ही स्वीकार नहीं करना चाहिए, प्रश्न करने की प्रवृत्ति छात्रों में होनी चाहिए, यह ठीक डेकार्ट की विधि जैसी ही है।

3. मानवता के प्रति प्रतिबद्धता — प्रोफेशनल कोरपोरेट समाजशास्त्रियों का तर्क है कि यह मूल रहित है। इसका अभिमुखन, अवधारणायें, पद्धतियां, सिद्धान्त मूल्यों से सम्बन्धित नहीं रहे हैं पर रेडिकल समाजशास्त्रियों का विचार है, कि मानव सम्बन्धों में ऐसा सम्भव नहीं है। समाजशास्त्र और सामाजिक मूल्यांकन एक दूसरे से पृथक नहीं किये जा सकते, और आज तक का समाजशास्त्र भी मूल्यों से स्वतन्त्र नहीं रहा। वास्तव में समाजशास्त्र ने अब तक पूंजीवाद की अत्यन्त सेवा की है, इसलिए रेडिकल समाजशास्त्री सामाजिक ज्ञान का शोषित वर्ग के लिए उपयोग पर जोर देते हैं।

रेडिकल समाजशास्त्र का उद्देश्य मनुष्य जिन समस्याओं का सामना कर रहे हैं, उनका व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करना है। हम ऐसा कुछ प्राप्त करें, जिससे कि एक अच्छे समाज का निर्माण कर सकें। इसमें ये तीन तत्व शामिल हैं—

1. उस समाज का विकास करना जिससे अपने समाज के संगठन व गतिशीलता को जान सकें।
2. किस प्रकार समाज को परिवर्तित किया जाये।
3. रेडिकल बुद्धिजीवियों की तरह कार्य करना, न कि दोषी उदारवादियों की तरह या संगठित संघों की तरह।

सामान्य बोलचाल में रेडिकल समाजशास्त्र संरचना के नकारात्मक पक्ष पर जोर देती है, क्या गरीबी, प्रजातिवाद, शोषण, सत्ताविहिता तथा मिलट्री औद्योगिक प्रतिष्ठान। रेडिकल समाजशास्त्र इन्हें व्यवस्था की खराबियों के रूप में देखती है। रेडिकल समाजशास्त्र यह प्रश्न करता है, कि समस्याएं सामाजिक संरचना में अन्तर्निहित है, या साधारण गलती या अवांछनीय परिणाम। इनका मानना है, कि सामाजिक समस्याएं व्यवस्थावादिता

का गुण है, इसमें सम्पूर्ण परिवर्तन की आवश्यकता है। रेडिकल समाजशास्त्र पूर्णतया वर्तमान की विसंगतियों से सम्बन्धित है, तथा राजनैतिक पक्ष लने में नहीं हिचकिचाता। ये अच्छे समाज के निर्माण में अपने आपको लगाता है, तथा इनका साधन है, जननीतियों का निर्धारण करना। सुधारक तथा आलोचक के रूप में रेडिकल समाजशास्त्रियों ने समकालीन सामाजिक समस्याओं को समझने में विषयात्मक योगदान दिया है।

ये लोग अल्पसंख्यकों को, महिलाओं को तथा स्वतन्त्र भाषण देने की प्रवृत्ति को बढ़ाते हैं, जागरूक बनाते हैं। युद्ध विरोधी, आन्दोलक तथा विचारक हैं। इनकी विचारधारा मार्क्स पर आधारित है तथा व्यवस्था विरोधी है। ये गरीबी, प्रजातिय भेदभाव, युद्ध, यौन आधारित भेदभाव, उपनिवेशवाद तथा हिप्पोक्रेटिक राजनीति के विरुद्ध लड़ते हैं। समाजशास्त्र का कार्य समाज में मिथ्या से भरे आवरणों को उघाड़ कर वास्तविकता का दिग्दर्शन कराना है, यह नया समाजशास्त्र व्यवस्था का विरोध करता है। इसका उद्देश्य समाज में व्याप्त उन मिथ्याओं को सामने लाना है, जिनका सहारा लेकर व्यवस्था अथवा मूल्य अथवा संस्था अपना अस्तित्व बनाये हुए है। इन रेडिकल समाजशास्त्र की विचारधारा ने अमेरिका में विशेषकर विद्यार्थियों, काले एवं बुद्धिजीवियों को प्रभावित किया है। रेडिकल समाजशास्त्र के अनुयायी अमेरिकी समाज में होने वाले विभिन्न प्रकार के शोषण एवं भेदभावों के विरोध में अपने विचारों को कड़े शब्दों में प्रस्तुत कर रहे हैं। यह नई विचारधारा, नया वामपंथ पुरानी विचारधारा से कई मायनों में भिन्न है, पुराना वामपंथ कल कारखानों को अपना आधार मानकर विद्रोह प्रकट करता है, जबकि नये वामपंथी विद्रोह की प्रक्रिया विश्वविद्यालयों के प्रांगण के माध्यम से विकसित हो रही है। नया भाव आर्थिक शोषण पर बल न देकर सामाजिक स्तर, रंगभेद तथा अन्य प्रकार के शोषण के विरोध में अपनी आवाज उठा रहा है। इसके अन्तर्गत इस बात पर अधिक बल दिया गया है, कि समाजशास्त्र में शोषित वर्ग व उपेक्षित लोगों का अध्ययन कर ज्ञान के सही उपयोग पर बल दिया जाये।

निकोलस के अनुसार विश्वविद्यालय सम्पत्तिशाली व प्रभुत्वशाली वर्ग के लिये सेवा के केन्द्र है। विश्वविद्यालय का प्रत्येक कार्य इसी वर्ग के हितों को ध्यान में रखकर किया जाता है। ऐसा लगता है, कि मानो बुद्धिजीवी-वर्ग में सत्यता और असत्यता की खाई बढ़ती जा रही है। इस खाई को पाटने के लिये निकालेस की राय में रेडिकल समाजशास्त्र का विकास करना आवश्यक है जिससे नये क्षेत्रों के विकास का अध्ययन किया जा सके हमारे हाथ में नये प्रकार के साधन हों, जिससे हम असमानता व सामाजिक विशेषाधिकारों के विपरीत आवाज उठा सके। निकोलस ने दृढ़तापूर्वक बताया कि अब तक समाजशास्त्र ने दो काम किये हैं—

1. अब तक समाजशास्त्र दलित-वर्ग के अधिकांश लोगों को विशेषधिकार प्राप्त अल्पमत के लोगों से मुक्ति नहीं दिला पाया है। अतः समाजशास्त्र ने असमानताओं को समाप्त करने के स्थान पर उनमें निरन्तरता ला दी है।
2. समाजशास्त्र ने ज्ञान का वितरण असमान ढंग से किया है, क्योंकि प्रभुत्वशाली लोगों को इन्होंने और अधिक शक्तिशाली बनाया है, जबकि दलित वर्ग को अन्धकार में पिछड़ी हुई स्थिति में रखा है।

इस तरह बोस्टन सभा के बाद सोशियोलॉजिकल लिबरेशन मुवमेन्ट की एक कमेटी बनाई गई। 1969 के वसन्त तक रेडिकल समाजशास्त्रियों के एक समूह की विधिवत स्थापना की गई।

रेडिकल समाजशास्त्र के उद्देश्य

रेडिकल समाजशास्त्र का मूल उद्देश्य स्थापित समाजशास्त्रियों के विरोधाभासों को स्पष्ट कर रेडिकल एवं

मानवतावादी विकल्प प्रस्तुत करना है। निकोलस ने बताया, कि रेडिकल समाजशास्त्र को तीन कार्य करने चाहिए—

1. समाजशास्त्र में वर्तमान में प्रचलित अध्ययन पद्धतियों एवं सिद्धान्तों को परिवर्तित करें।
2. सामाजिक-संरचना की दृष्टि से दबे एवं पिछड़े हुये वर्गों की संरचना का अध्ययन करें।
3. इस अध्ययन का लाभ उन असंख्य लोगों तक पहुंचाये, जो अशिक्षित एवं पिछड़े हुये हो।

राबर्ट हेगडान्स लेवोवित एवं सेनफोर्ड ने अपनी पुस्तक “एन इन्ट्रोडक्शन इन्टू सोशियोलॉजिकल ओरियन्टेशन में रेडिकल समाजशास्त्र की सन्दर्भ परिधि के चार मौलिक तत्वों को विवेचना की है, जो निम्नत है—

1. एक रेडिकल राजनैतिक अभिमुखन को स्वीकार किया जाये, तथा उसका प्रयोग समाज की दशा में परिवर्तन लाने के लिये किया जाये।
2. उन अवधारणाओं पर ध्यान केन्द्रित किया जाये, जो कि निवर्तमान में व्यक्तियों के लिये भावनात्मक एवं ऐतिहासिक अर्थों में उपयोगी हो एवं
3. स्थापित समाजशास्त्रियों तथा विशिष्ट पद्धतियों की तथा उनके दबाव का विरोध किया जाये।
4. समाज के लिये संघर्ष प्रारूप स्वीकार किया जाये।

इस प्रकार जहां परम्परागत समाजशास्त्री यथास्थिति को बनाये रखने पर बल देते हैं, वहां रेडिकल समाजशास्त्री परिवर्तन के पक्षधर है। वास्तव में इनका झुकाव सामाजिक-सम्बन्धों को समझने एवं उनके निर्वचन की अपेक्षा समाज को परिवर्तित करने में है। इनका अभिमुखन मौलिकतः राजनैतिक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रेडिकल समाजशास्त्र एक ऐसी विचारधारा है, जो पुरानी समाज व्यवस्थाओं, संस्थाओं, सिद्धान्तों एवं अध्ययन पद्धतियों को पूर्णरूपेण परिवर्तित करने पर बल देती है। प्रश्न स्वाभाविक है, कि इस परिवर्तन का माध्यम क्या हो? इसके लिये रेडिकल-समाजशास्त्रियों ने क्रांति की बात कही है। रेडिकल समाजशास्त्रियों का केन्द्र बिन्दु नैतिकता है एवं इसके द्वारा लाया गया सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन उनका चर्म उद्देश्य है।

यदि ध्यान से देखा जाये तो स्पष्ट होता है, कि रेडिकल समाजशास्त्र की समस्त विचारधारा की पृष्ठभूमि में मार्क्स के चिन्तन का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई देता है। संभवतः मार्क्स न सबसे पहली बार सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही पक्षों पर पूंजीवाद का विरोध किया। मार्क्स का पूंजीवादी विश्लेषण न तो एडम स्मिथ की विचारधारा के अनुसार था, और ना ही जे.एस. मिल के अनुसार। मार्क्स का मानना था, कि पूंजीवाद संचय की प्रवृत्ति पर आधारित है, एवं उसका मुख्य उद्देश्य शोषण है। इसके साथ ही मार्क्स ने पूंजीवाद को आधुनिक युग की मूल समस्या माना था। मार्क्स ने बताया कि, पूंजीवाद ही समाज में विषमता एवं सामाजिक-संस्तरण को जन्म देता है। मार्क्स स्वयं में एक क्रांतिकारी विचारक हैं और यह मानते हैं कि स्थापित समाज-व्यवस्था में परिवर्तन क्रांति के द्वारा ही लाया जा सकता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि, रेडिकल-समाजशास्त्री मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित थे, परन्तु उन्होंने सम्पूर्ण रूप से इसे अपनाने पर बल नहीं दिया। ये समाजशास्त्र न तो सत्ता के पक्षपाती है, और ना ही पूंजीवादी अथवा प्रजातन्त्रवाद के वर्तमान स्वरूप के। इनका विश्वास इन आमूल राजनैतिक मूल्यों से हैं, जो वर्तमान व्यवस्था को बदलने के पक्ष में है। रेडिकल समाजशास्त्रियों ने ऐसे अनेक समाजशास्त्रियों की आलोचना की है, जिनका योगदान आधुनिक समाजशास्त्र में बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। टालकट पारसनस, राबर्ट मर्टन, इमार्शल दुर्खीम, लीपसेट, रीयोनी आदि समाज नेताओं को इन्होंने संकीर्ण प्रवृत्ति वाला माना है। समस्त रेडिकल समाजशास्त्रियों

को एक ही कोटि में नहीं रखा जा सकता। कोलफैक्स व रोश ने 1971 में प्रकाशित अपनी पुस्तक रेडिकल-सोशियोलाजी में चार प्रकार के रेडिकलवाद का उल्लेख किया है—

1. सहभागी रेडिकलवाद — इसमें वे लोग आते हैं, जो वामपंथी विचारधारा के समर्थक हैं। इन लोगों का विश्वास है, कि समाज में परिवर्तन क्रांति के द्वारा ही लाया जा सकता है। इनका यह भी मानना है, कि अब तक हुए समाजशास्त्रीय बौद्धिक अनुसंधान उपयोगी नहीं है, और न ही उनका आज के सन्दर्भ में कोई महत्व ही है। ये वे समाजशास्त्री हैं, जो स्वयं को दिन-प्रतिदिन की राजनीति में लगाये रहते हैं, एवं इनका झुकाव राजनैतिक व व्यावहारिक पक्ष की ओर है।

2. सांस्कृतिक-रेडिकलवाद — इसमें वे लोग आते हैं जो निम्न वर्ग के साथ स्वयं को जोड़ते हैं, और उनकी समस्याओं एवं उनकी स्थिति का अध्ययन करना चाहते हैं। बेकर, गॉफमेन व सिंगर आदि समाजशास्त्रियों का विचार है, कि सांस्कृतिक रेडिकलवादी अपने आपको उन व्यक्तियों से जोड़ते हैं, जो वर्तमान व्यवस्था के शिकार हैं।

3. वैषयिक रेडिकलवाद — तीसरा पक्ष उन लोगों का है, जो प्रचलित समस्याओं के अध्ययन में अपना विश्वास प्रकट करते हैं। उनके अध्ययन के विषय क्रांतिकारी आन्दोलन, प्रजातिवादी, समाजवाद, वर्ग-चेतना, वर्ग-संघर्ष एवं छात्र-विद्रोह आदि हैं। इन विचारकों का विश्वास है कि ये समस्याएं वर्तमान समाज एवं शासन व्यवस्था की विरोधी हैं, एवं समाज की सत्यता को उजागर करती हैं, अतः इनका अध्ययन आवश्यक है।

4. दार्शनिक रेडिकलवाद — इस विचारधारा के अधिकांश समर्थक अपने विचारों की उत्पत्ति का स्रोत कार्ल-मार्क्स को मानते हैं, यद्यपि इन समर्थकों में विरोधाभास है फिर भी कुछ लोग मार्क्स के कट्टर समर्थक हैं एवं उसके मानवतावादी सिद्धान्त में आस्था रखते हैं। प्रसिद्ध अमेरिकन समाजशास्त्री लिण्ड ने बहुत पहले घोषणा की थी, कि मैं मार्क्सवादी हूँ। परन्तु सामान्यतः अमेरिकन समाजशास्त्री इस विचारधारा को स्वीकार नहीं करते।

अधिकांश अमेरिका के समाजशास्त्री मिल्स के विश्लेषण को मानते हैं। मिल्स ने बताया कि “आज कोई मार्क्सवादी समाज विज्ञान नहीं है, लेकिन यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि मार्क्स व उसके समर्थकों के योगदान के बिना समाज विज्ञान का वह स्वरूप नहीं होता जो आज है।” सी. राइट मिल्स ने अपनी पुस्तक “दी सोशियोलाजीकल इमेजिनेशन” में वृहत सिद्धान्त एवं अमूर्त अनुभववाद की विस्तार से विवेचना कर उनकी तीखी आलोचना की है। अलबर्ट सीमांस्की ने भी अपनी पुस्तक “दी आल्टरनेटिव सोशियोलाजीस” में इन दोनों सिद्धान्तों की आलोचना की है। इन विद्वानों ने बताया, कि पारसन्स का महान सिद्धान्त बड़ा संकीर्ण, अस्पष्ट, व्यावहारिक दृष्टि से बिल्कुल बेकार है। यह वर्तमान व्यवस्था का पोषक है। इसमें सामाजिक संघर्ष एवं परिवर्तन के लिये कोई स्थान नहीं है। इस सिद्धान्त की अध्ययन पद्धति का सम्बन्ध एकीकरण से है, न कि विभेदीकरण से। अतः यह सिद्धान्त सिक्के के एक ही पहलू को देखता है। समाज न तो सम्पूर्ण व्यवस्था है और न ही सम्पूर्ण अव्यवस्था अपितु वह तो दोनों के बीच में एक सन्तुलन है। इसी तरह अमूर्त अनुभववाद भी क्रमबद्ध सिद्धान्तों का विश्वास नहीं कर पाता और न ही इनके अध्ययन नैतिक मूल्यों से मुक्त रह पाते हैं। ऐसे अध्ययनों से कुछ ज्ञान की प्राप्ति तो हुई है, परन्तु उनका प्रयोग या तो सरकार ने किया है, या बड़े-बड़े निगमों ने। आधुनिक समय में विकसित समाजशास्त्र की अन्य शाखायें यथा रेडिकल समाजशास्त्र, राजनैतिक-समाजशास्त्र, औद्योगिक-समाजशास्त्र में यह महान् सिद्धान्त एवं अमूर्त अनुभववाद के माध्यम से जो अध्ययन अनुसंधान हुए हैं, वे हर दृष्टि में वर्तमान व्यवस्था के पोषक ही माने जा सकते हैं।

सीमान्स की ने बताया कि रेडिकल-समाजशास्त्र के कुछ प्रमुख कार्य हैं जिन्हें इस समाज शास्त्र के समर्थकों को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। उनके अनुसार ये कार्य निम्न हैं—

1. रेडिकल समाजशास्त्री का सबसे बड़ा कार्य यह है कि वह इस बात को देखे की मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति अधिकतम रूप में किस तरह संभव है।
2. रेडिकल समाजशास्त्री को एक ऐसी समाज-व्यवस्था के निर्माण में योग देना चाहिए, जहां मनुष्य की कार्य क्षमताओं का पूरा विकास किया जा सके एवं जहां उन्हें अपनी प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति करने का स्वतन्त्र अवसर मिल सके।
3. रेडिकल समाजशास्त्री को एक निरन्तर आलोचक के रूप में क्रियाशील रहना चाहिए। यह आलोचना वर्तमान सामाजिक-संरचना के प्रभुत्व की होनी चाहिए। जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य की कार्यक्षमता नष्ट हो जाती है एवं वह अपनी मानवीय एवं भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ रहता है।
4. रेडिकल समाजशास्त्र का यह भी कर्तव्य है कि वह लोगों की वेदनाओं को समझे, एवं उनकी दिन-प्रतिदिन की समस्याओं को सामाजिक-संरचना के साथ जोड़ने का प्रयास करे। क्योंकि मानव समाज में प्रत्येक समस्या प्रकृतिजन्य न होकर समाजजन्य है। इसी प्रकार की प्रक्रिया को मिल्स ने समाजशास्त्रीय कल्पना का एक अभिन्न अंग माना है।
5. रेडिकल समाजशास्त्र को सामाजिक यथार्थ की अलग से परिभाषा करनी चाहिए, क्योंकि वर्तमान समाज व्यवस्था स्वयं में दोषपूर्ण है।
6. रेडिकल समाजशास्त्री को यह जानना चाहिए कि वह स्वयं को मनुष्य मान कर चले एवं मनुष्य की भावनाओं के प्रति सहानुभूति रखे। उसे इस बात का पूर्णतया आभास होना चाहिए कि एक ऐसी समाज व्यवस्था की स्थापना करना आवश्यक है, जिसमें स्वयं को समझ सके एवं स्वाभिमान से जी सके।
7. रेडिकल समाज शास्त्र एक ऐसे समाज की स्थापना करे जिसका सम्बन्ध मानव जाति की व्यावहारिक समस्याओं से हो। क्योंकि अब तक समाजशास्त्र भौतिक विज्ञानों में अपनाई जाने वाली पद्धतियों पर आधारित है जो कि मानवीय सम्बन्धों को समझने में अपूर्ण है।

रेडिकल समाजशास्त्र की विशेषताएं

रेडिकल समाजशास्त्र को उसकी महत्वपूर्ण विशेषताओं के द्वारा अन्य उपागमों से पृथक् पहिचाना जा सकता है जो निम्नवत हैं—

1. रेडिकल समाजशास्त्र में इस बात पर बल दिया जाता है कि यह मानव के लिये है। अतः इसकी विषय वस्तु सभी प्रकार के वर्गों, सभी प्रकार के मानवों, तथा समाज के प्रत्येक व्यक्ति से संबंधित होनी चाहिए। जिससे मनुष्य की हर प्रकार की समस्याओं को सुलझाया जा सके न कि केवल कुछ महत्वपूर्ण व मोटी-मोटी समस्याओं के समाधान के जो कि उच्च वर्ग से जुड़ी है। रेडिकल समाजशास्त्र में इस बात पर भी बल दिया जाता है कि शोषित व दलित वर्ग के विकास के लिए अधिक चिन्तन व कार्य किये जायें।
2. इस समाजशास्त्र का अभिमुखन राजनैतिक है, किन्तु जिसका तात्पर्य यह नहीं है कि रेडिकल समाजशास्त्र की कोई विचारधारा नहीं रह पायेगी।

3. रेडिकल समाजशास्त्र क्या है के स्थान पर क्या होना चाहिए, इस विचारधारा के पोषक तथा संवर्धक रहे हैं। रेडिकल समाजशास्त्री मुख्य रूप से वर्तमान समाजशास्त्र के आलोचक हैं।
4. रेडिकल-विचारवादी संघर्ष के माध्यम से समाजशास्त्र का अध्ययन करना चाहते हैं। अतः क्रांतिकारी दृष्टिकोणवादी हैं।
5. रेडिकल समाजशास्त्र का कार्य बौद्धिक जिज्ञासा को जागृत करना है जो केवल क्रमबद्ध संकलन द्वारा ही संभव है, तभी हम सतत परिवर्तन को परिलक्षित करके दृष्टिकोणों में निखार ला सकते हैं।
6. रेडिकल समाजशास्त्रियों की मान्यता है, कि हमको अपने विचारों, विविधियों, तरीकों व दृष्टिकोण में अपनी सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन करते रहना चाहिए।
7. रेडिकल समाजशास्त्री कथनी और करनी के अन्तर के विरोधी हैं। रेडिकल समाजशास्त्र दोहरी नीति का विरोधी है। रेडिकल समाजशास्त्री कहते हैं कि एक तरफ हम स्वयं लिखते हैं कि दलित एवं शोषित वर्ग का उत्थान जरूरी है और हम स्वयं ही उनके साथ दुर्व्यवहार करें। ऐसा वैचारिक एवं व्यावहारिक विरोधाभास रेडिकल समाजशास्त्र में नहीं होता।
8. रेडिकल समाजशास्त्र का कार्य केवल आलोचना करके अन्य लोगों का ध्यान आकर्षित करना ही नहीं है, अपितु उनका काम स्वीकारोक्ति से समाज का यथार्थ प्रस्तुत करना है।
9. रेडिकल समाजशास्त्र परम्परागत या प्रदत्त भौतिक साधन व सुविधाओं के विरोधी है और अर्जित साधन, लक्ष्यों व सफलताओं के समर्थक है। अतः उनका विचार है, कि अध्ययन का लक्ष्य मात्र नौकरी या व्यवसाय प्राप्त करना न होकर अध्ययन को सामाजिक उन्नति का मार्ग प्रदान करना चाहिए।
10. रेडिकल समाजशास्त्र व्यक्तिगत या सीमित हितों को न चाहकर सामाजिक विकास द्वारा सम्पूर्ण समाज व देश की समस्याओं का समाधान व हित चाहते हैं।
11. रेडिकल समाजशास्त्र परम्परागत या रूढ़िवादी समाजशास्त्र के अध्ययन पद्धतियों व अध्ययन बिन्दुओं से हटकर नवीन सामाजिक आयामों की ओर जन सामान्य का ध्यान आकर्षित करता है।
12. सामाजिक व्यवस्था का विरोधी होने के कारण रेडिकल समाजशास्त्र विज्ञान और वस्तुपरक अध्ययन का आलोचक एवं मानवीय दृष्टिकोण का पोषक है।
13. रेडिकल समाजशास्त्री सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में पूर्वाग्रहों या मूल्यों द्वारा प्रभावित होकर निष्कर्ष निरूपण की बात करते हैं क्योंकि समाजशास्त्र में व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का अध्ययन किया जाता है।

रेडिकल समाजशास्त्र एवं मार्क्सवाद में अन्तर

कार्ल-मार्क्स भी संघर्ष द्वारा वर्ग-विहीन समाज की स्थापना की बात करते थे और रेडिकल समाजशास्त्र भी संघर्ष व क्रांतिकारी आन्दोलन द्वारा वस्तुस्थिति में परिवर्तन का जिज्ञा करते हैं। अतः शास्त्रीय समानता के बावजूद भी रेडिकल समाजशास्त्र ने मार्क्सवाद का पूरी तरह समर्थन नहीं किया तथा मार्क्सवाद में कुछ स्थानों पर कमियां बताई हैं जो निम्नवत हैं—

1. कार्ल-मार्क्स ने किसी भी सिद्धान्त के बारे में जो कुछ भी कहा है, उनके विचारों को अनेक मार्क्स समर्थकों ने अपने-अपने बौद्धिक स्तर पर समझ के अनुसार पृथक-पृथक अर्थ प्रदान किया है। अतः वास्तव में मार्क्स क्या कहते थे ? यह प्रमुखतः गौण रह गया। जबकि अनेक अन्य अर्थ स्वयं को मार्क्स-सिद्धान्त के प्रतीक समझने लगे। इन विभिन्न सामाजशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत भिन्न-भिन्न मार्क्सियन-सिद्धान्त अथवा उपागम में अनेक स्थानों पर प्रबल विरोधाभास नजर आता है।
2. कोई भी ज्ञान, विज्ञान, सिद्धान्त या उपागम जब निर्मित किये जाते हैं या जिस वातावरण एवं परिस्थितियों में उनका सृजन या सूत्रपात होता है, यदि वे स्थितियां एवं परिस्थितियां परिवर्तित हो जाती हैं या बदल जाती हैं तो उन सिद्धान्तों में भी परिवर्तन की गुंजाइश होनी चाहिए अथवा उसमें सुधार अपेक्षित है। किन्तु, मार्क्सियन सिद्धान्त परिस्थितियों के परिवर्तन के बावजूद भी अपनी विचारधारा के प्रति दृढ़ बने हुए हैं, अर्थात् उनमें परिवर्तन नहीं किया है।
3. कोई भी सिद्धान्त या उपागम जब अपने विकास के चर्म पर पहुंच जाता है और वह यह भी समझने लगता है कि यह उनकी चर्म स्थिति है। तब वह अवरोधित होकर स्वतः ही पतन की ओर अग्रसित होने लगता है। यही बात मार्क्सियन मत के साथ भी थी। अतः मार्क्सवाद कमजोर होता चला गया।

समाजशास्त्र में परम्परागत या वैज्ञानिक स्वरूप के प्रतिरोध के रूप में मानविकी समाजशास्त्र का प्ररिप्रेक्ष्य उभरकर आया और रेडिकल या आमूल परिवर्तनवादी समाजशास्त्र ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह की। क्योंकि रेडिकल समाजशास्त्र मुख्य रूप से विज्ञान एवं तकनीकी के प्रभाव से उत्पन्न सामाजिक स्थिति के विरोध में प्रकट हुई। जिसके अन्तर्गत इस बात पर जोर दिया गया है कि समाजशास्त्र में शोषित एवं उपेक्षित वर्ग का अध्ययन किया जाये और ज्ञान के सही उपयोग पर बल दिया है।

सत्याग्रह

गाँधी की विशिष्टता सत्य अहिंसा के नये सिद्धान्त प्रतिपादन में नहीं, अपितु नवीन व्याख्या प्रदान कर उनके समग्र व्यवहारिक प्रयोगों में परिलक्षित होती है। जीवन का कोई भी क्षेत्र इससे अछूता नहीं था। आपसी मतभेद व सघर्ष जीवन का आवश्यक अंग होने के कारण हर क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज करते हैं। गाँधी विश्व इतिहास से परिचित थे तथा अपने दो विश्व युद्धों के प्रत्यक्ष अनुभवों से इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि हिंसा द्वारा किसी भी समस्या का समाधान संभव नहीं है। यह सिर्फ विनाश को जन्म दे सकती है। गाँधी की मान्यता थी कि हिंसा द्वारा प्रतिकार करना अपने आत्मबल व नैतिकबल को कमजोर करना होता है। 'राजनीति का क्षेत्र छल-छद्म से परिपूर्ण होता है तथा येन केन प्रकारेण सफलता प्राप्त करना ही इसकी प्रक्रिया है' की प्रतिष्ठित धारणा का स्थानापन्न कर, राजनीति में नैतिकता को प्रतिष्ठित कर क्रांतिकारी परिवर्तन लाना गाँधी का उद्देश्य था। इन मान्यताओं के आधार पर राजनीति के क्षेत्र में अहिंसा के समावेश को सुनिश्चित कर अहिंसक विरोध की नीति (प्रक्रिया) व राजनैतिक अस्त्र के रूप में सत्याग्रह का प्रादुर्भाव हुआ।

यद्यपि अहिंसा की अवधारणा प्राचीन काल से ही विभिन्न रूपों, सन्दर्भों को लेकर विकसित होती रही है, तथापि व्यवहार में यह संत महात्माओं के आचरण में ही सीमित रही। गाँधी की विशेषता यह रही कि उन्होंने अहिंसा को सिद्धान्त के धरातल से उठाकर, व्यवहारोपयोगी बनाकर उसकी पुरातन अर्थों की सीमाओं का विस्तार किया। उनके अनुसार अहिंसा का अर्थ है सम्पूर्ण जीव जगत के साथ प्रेम व एकात्म भाव की अनुभूति। उन्होंने

अहिंसा का प्रयोग केवल व्यक्तिगत जीवन सुधार तक ही सीमित न रखकर उसे सामाजिक क्षेत्र तक विस्तृत किया। गाँधी ने बताया कि किस प्रकार सामूहिक, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्र में अहिंसा का समावेश व प्रयोग कर विभिन्न समस्याओं का समाधान कर आदर्श स्थिति तक पहुँचा जा सकता है और जब समाज में बुराई फैली हो तो अहिंसा वृत्ति द्वारा किस प्रकार प्रतिकार करना चाहिये। विभिन्न क्षेत्र में अहिंसक प्रयोग व प्रतिरोध के संदर्भ में विख्यात अहिंसक शास्त्री रिचर्ड बी. ग्रेग ने कहा है, “आधुनिक युग में गाँधी ही ऐसे प्रमुख व्यक्ति हैं जिन्होंने अहिंसात्मक प्रतिरोध के सिद्धान्त को विकसित किया है। संगठित व सामूहिक रूप से बड़े आन्दोलनों में इसका उपयोग किया है और अनेक कठिन परिस्थितियों में वास्तविक सफल लड़ाईयाँ लड़कर इस सिद्धान्त के विस्तार को सिद्ध कर दिखाया।” गाँधी के सत्य अहिंसा के उत्कृष्ट चिन्तन के फलस्वरूप उत्पन्न इसी अहिंसात्मक प्रतिरोध के सिद्धान्त को सत्याग्रह की संज्ञा दी गई।

गाँधी ने इसका प्रयोग सर्वप्रथम दक्षिण अफ्रीका में सरकार के रंगभेद पर आधारित भेद-भाव मूलक कानून के विरोध में किया। पहले इसे ‘निष्क्रिय प्रतिरोध’ के नाम से जाना गया, लेकिन गाँधी को लगा कि यह शब्द (नाम) उनके विचार का सही रूप में प्रतिनिधित्व नहीं कर रहा है। इसलिये उस परिवर्तित कर पहले इसका नाम सदाग्रह व अन्त में सत्याग्रह पड़ा। सत्याग्रह में व्यक्ति व समाज में अन्तर्निहित बुराईयों व संघर्षों का प्रतिकार अहिंसक तरीके से किया जाता है। सम्पूर्ण मानव इतिहास में गाँधी को छोड़कर किसी अन्य ने सत्याग्रह का प्रयोग इतने व्यापक स्तर (वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक) पर नहीं किया।

सत्याग्रह : अर्थ व दर्शन

सत्याग्रह से गाँधी का तात्पर्य अहिंसा में आस्था रखने वाले मनुष्य का सत्य के प्रति आग्रह है। इस सिद्धान्त में अहिंसा के साथ सत्य का समावेश हो जाने पर नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। सत्याग्रह में सभी बातें सत्य के सन्दर्भ में कही जाती हैं जिससे दूसरों को थोड़ा भी कष्ट न हो, यही सत्याग्रह का उच्च आदर्श है। सत्याग्रह सत्य की निरापद खोज है। इसके लिये व्यक्ति जीवनपर्यन्त प्रयास करता हुआ संघर्षरत रहता है। सत्याग्रह में सब कुछ स्वयं सहन किया जाता है इसलिये इसमें वैर-भाव का जन्म नहीं हो पाता है। गाँधी के अनुसार सत्याग्रह का अर्थ विरोधी को कष्ट देकर नहीं वरन् स्वयं कष्ट सहन कर सत्य की रक्षा करना है। डॉ. सीतारामैया ने सत्याग्रह के रचनात्मक पक्ष पर बल देते हुए कहा “सत्याग्रह एक विधेयात्मक व अप्रतिहत शक्ति के रूप में कार्य करता है जिसका प्रभाव अनुभव सिद्ध है।” स्पष्ट है कि सत्याग्रह का यह विधेयात्मक स्वरूप सत्य अहिंसा के कारण ही संभव है।

सत्याग्रह सत्य और आग्रह से निर्मित सामसिक शब्द है जिसका अर्थ है—सत्य का आग्रह। भिन्न-भिन्न व्यक्ति सत्य के भिन्न-भिन्न अर्थों का प्रतिपादन करते हैं, इसलिये इसके अर्थ में भी विभिन्नता आ गई है। जयन्तनुजा बंधोपाध्याय ने सत्य के मूल्यात्मक अर्थ पर बल देते हुए सत्य को न्याय का द्योतक कहा है। इसलिये सत्याग्रह का अर्थ होता है न्याय का आग्रह। डॉ. दासगुप्ता ने सत्य को भौतिक धारणा न मानकर इसे सामाजिक व्युत्पन्न वस्तु माना है। उन्होंने कहा कि अहिंसा मौलिक अवधारणा है जिसका मुख्य अर्थ है — अशोषण। अतः सामाजिक सत्य के रूप में सत्याग्रह अशोषण के रूप में एक अहिंसक प्रक्रिया है। किन्तु ये दोनों अर्थ सत्याग्रह के एक-एक पक्ष को उजागर करते हैं। गाँधी ने सत्याग्रह को सत्य की शक्ति माना तथा सत्य का अर्थ आत्मा स्वीकार किया। अतः गाँधी के अनुसार सत्याग्रह का अर्थ है आत्म शक्ति, प्रेम शक्ति या सत्य शक्ति का आग्रह। सत्याग्रह वह प्रक्रिया है जिसमें आत्मशक्ति तथा प्रेम शक्ति का विकास होता है। न्याय और अशोषण आत्मशक्ति

व प्रेम शक्ति के विकास के लिये आवश्यक है। यही कारण है कि सत्याग्रही को न्याय व अशोषण के प्रति आग्रह रखना पड़ता है। किन्तु अन्ततः न्याय व अशोषण आत्मशक्ति में विलीन हो जाते हैं, क्योंकि इनकी अपनी सत्ता नहीं होती है। आत्मशक्ति तथा प्रेम शक्ति अपने आप में पूर्ण अर्थ रखती है। ये स्वतः साध्य है, अतः सत्याग्रह का अर्थ है आत्म शक्ति व प्रेम शक्ति के प्रति आग्रह रखना।

सत्य अहिंसा पर निष्ठा रखते हुए हृदय के निर्देशानुसार आचरण करने से सत्याग्रह रूपी अस्त्र की तैयारी स्वतः हो जाती है। सत्याग्रह किसी भी नैतिक रूप से वांछनीय उद्देश्य की प्राप्ति के लिये किया जा सकता है। सत्याग्रह का यह विचार गाँधी के हाथों में आकर प्रेम का विधान बन गया। यह एक प्रेम का विधान तथा सभी मनुष्यों के लिये प्रेम का मार्ग है जिसमें सभी परिस्थितियों तथा सभी रूपों में सिद्धान्ततः हिंसा का परित्याग करना पड़ता है। यद्यपि सत्याग्रह व दुराग्रह एक दूसरे के विपरीत हैं, तथापि सत्याग्रह के अर्थ को समझने के लिये दोनों में अन्तर करना आवश्यक है। दुराग्रह एक ऐसी धारणा है जिसमें व्यक्ति (दुराग्रही) अपने स्वार्थपूर्ण विचार को विशेष महत्त्व देता है और सत्य, न्याय व सदाचार पर अपना एकाधिकार मानता है। वह मानता है कि केवल वही सत्य है तथा उसका विपक्षी गलत। वह दबाव के बल पर अपने पक्ष का समर्थन चाहता है। इसमें हिंसा की संभावना बढ़ जाती है और वह हिंसक साधनों को अपनाने में संकोच तक नहीं करता। किन्तु सत्याग्रही इस तथ्य से परिचित होता है कि व्यक्ति द्वारा प्राप्त ज्ञान सापेक्ष सत्य है अर्थात् जो एक के लिये सत्य है वह दूसरे के लिये असत्य हो सकता है। इसलिये वह अपने विपक्षी को नीचा दिखाने का प्रयास नहीं करता। वह सदा ऐसे विकल्पों की खोज करता है जो दोनों पक्ष को स्वीकार्य हो। वह सभी प्रकार की हिंसा व दबाव से मुक्त होता है। वह प्रतिपक्षी का हृदय परिवर्तन कर उसमें बदलाव लाता है। इस प्रकार सत्याग्रही कभी दुराग्रही नहीं हो सकता है।

प्रारंभ में सत्याग्रह 'निष्क्रिय प्रतिरोध' के नाम से जाना गया लेकिन बाद में गाँधी ने सत्याग्रह व निष्क्रिय प्रतिरोध में भेद को स्वीकार किया। निष्क्रिय प्रतिरोध दुर्बलों का अस्त्र है अतएवं इसमें हिंसा के प्रयोग की संभावना रहती है। इसमें व्यक्ति प्रतिपक्षी को परेशान कर उस पर अपना दबाव बनाना चाहता है। इसके विपरीत सत्याग्रह नैतिक अस्त्र है जिसका आधार है – आत्म शक्ति की श्रेष्ठता। यह वीरों का अस्त्र है जिसमें बिना मारे ही मरने का साहस है। सत्याग्रह हिंसा को कभी स्वीकार नहीं करता, वरन् उसके स्थान पर प्रेम व त्याग को महत्त्व देता है। इसका उद्देश्य प्रतिपक्षी को दबाने का नहीं, अपितु उसमें निहित बुराइयों का अन्त कर उसे भी सत्याग्रही बनाने का होता है। सत्याग्रह किसी भी नैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिये किया जा सकता है। इसका प्रयोग सत्याग्रही न केवल अपने विपक्षी के प्रति कर सकता है, बल्कि अपने निकटतम व प्रियतम के प्रति भी कर सकता है।

सत्याग्रह की आधारभूत मान्यताएं

गाँधी ने सत्याग्रह के प्रयोग हेतु सत्याग्रही के लिये कुछ मौलिक मान्यताओं, नियमों तथा शर्तों के पालन को अनिवार्य बताया था, जिनके पालन के अभाव में सत्याग्रह हिंसा से दूषित हो अपना वास्तविक अर्थ खोकर अन्य क्रियाओं में लिप्त हो जाता है। इन मान्यताओं व शर्तों को निम्न श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

नैतिक मान्यता

गाँधी ने सत्याग्रह का प्रयोग एक नैतिक विकल्प के रूप में किया था, अतः सत्याग्रही के लिये आवश्यक है कि वह उच्च कोटि की नैतिकता का पालन करे। चूँकि सत्याग्रह एक ऐसा अस्त्र है जिससे मानवता व नैतिकता की रक्षा की जा सकती है, इसलिये नैतिक दृष्टि से विचार करने पर सत्य अहिंसा ही इसके मुख्य अस्त्र के रूप

में नजर आते हैं। सत्याग्रही में उच्च कोटि की नैतिकता का विकास करने के लिये गाँधी ने एकादश व्रतों के पालन को आवश्यक बताया ये निम्नलिखित हैं –

(1) सत्य – नैतिक दृष्टिकोण से सत्य का अर्थ केवल सत्य बोलना ही नहीं, अपितु विचार, कर्म, वचन तीनों से सत्य का पालन करना है। गाँधी के अनुसार सत्य हमारी अन्तात्मा का सूचक है। अतः सत्य पालन का अर्थ है—अपनी अन्तात्मा के आदर्शों का पालन करना। गाँधी सत्याग्रही के लिये सत्य का पालन आवश्यक मानते थे और सत्य की साधना के लिये निस्वार्थ जीवन व्यतीत करना और तपस्या अनिवार्य होता है।

(2) अहिंसा – गाँधी ने सत्य की तरह अहिंसा पालन पर भी बल दिया। गाँधी की दृष्टि में क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष व स्वार्थ से प्रेरित होकर किसी भी प्राणी को अपने मन, वचन, कर्म द्वारा किसी भी प्रकार का कष्ट पहुंचाने का विचार न करना अहिंसा है। इस निषेधात्मक अर्थ के साथ-साथ विधेयात्मक रूप में सभी प्राणियों के साथ प्रेम, दया, सहानुभूति रखना अहिंसा है। गाँधी के अनुसार सत्याग्रही अहिंसा की शक्ति के आधार पर ही सत्याग्रह कर सकता है।

(3) अस्तेय – अस्तेय का शाब्दिक अर्थ है – चोरी न करना। लेकिन गाँधी इसे व्यापक अर्थ प्रदान करते हुए शारीरिक, मानसिक, वैचारिक या बौद्धिक चोरी से दूर रहने को अस्तेय व्रत की संज्ञा देते हैं। सत्याग्रही के लिये आवश्यक है कि वह अस्तेय व्रत का पालन करे। गाँधी का विचार था कि अस्तेय का आचरण किये बिना सत्य-अहिंसा का आचरण करना कठिन है। इसलिए उन्होंने अस्तेय को भी अनिवार्य नैतिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया।

(4) अपरिग्रह – गाँधी सत्य, अहिंसा के पालन के लिये अस्तेय के साथ अपरिग्रह का भी निष्ठापूर्वक पालन करना अनिवार्य मानते थे। अपरिग्रह का अर्थ है – सुख भोग के लिये आवश्यकता से अधिक प्रदार्थों का संचय न करना और उनके प्रति किसी प्रकार की आसक्ति न रखना। सत्याग्रही को अपरिग्रह व्रत का पालन करना चाहिये व धीरे-धीरे अपनी आवश्यकताएं को कम करते हुए पूर्ण अपरिग्रही बनने का प्रयास करते हुए जनता के सामने आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए।

(5) शरीर श्रम – अपरिग्रह की तरह शरीर श्रम भी अस्तेय से संबंधित है। गाँधी का विचार था कि जो व्यक्ति बिना शरीर श्रम किये भोजन करता है, वह चोर है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को शरीर श्रम करना चाहिये। सत्याग्रही के लिये भी शरीर श्रम अनिवार्य था। गाँधी शरीर श्रम के इस सिद्धान्त के द्वारा समाज में समानता की स्थापना करना चाहते थे।

(6) ब्रह्मचर्य – गाँधी ने सत्य अहिंसा के साथ सत्याग्रही के लिये ब्रह्मचर्य के पालन को आवश्यक माना। ब्रह्मचर्य इन्द्रिय निग्रह व आत्म संयम का द्योतक है। इन्द्रिय निग्रह व आत्म संयम के कारण सत्याग्रही में अपने भावों संवेगों के नियंत्रण की क्षमता विकसित होती है। इसके साथ ही ब्रह्मचर्य सार्वभौमिक प्रेम भावना के विकास को भी अवकाश प्रदान करती है।

(7) अस्वाद – गाँधी ने अस्वाद को भी अपने व्रतों में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हुए सत्याग्रही के लिये अस्वाद व्रत का पालन आवश्यक माना। अस्वाद का अर्थ है—स्वाद न लेना अर्थात् स्वादेन्द्रिय को वश में करना। गाँधी अन्य इन्द्रियों के साथ-साथ स्वादेन्द्रिय को वश में करना आवश्यक मानते थे। स्वादेन्द्रिय पर नियंत्रण रखकर व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन आसानी से कर सकता है।

(8) स्वदेशी — स्वदेशी से गाँधी का तात्पर्य है—दूसरे देशों की तुलना में अपने देश की सेवा करना व संकुचित अर्थ में अपने निकटम की सेवा करना। गाँधी के अनुसार व्यक्ति अपने समीप की वस्तुओं के उपयोग व पड़ोसी के सेवा का व्रत लेता है। यदि सभी इस व्रत का संकल्प लें तो सार्वभौम सेवा की प्राप्ति होती है। गाँधी सत्याग्रही की संकल्पशक्ति बढ़ाने के लिये व सार्वभौम प्रेम की अनुभूति के लिए इस व्रत के पालन को आवश्यक मानते थे। गाँधी के अनुसार इस व्रत के पालन से नैतिक ही नहीं, सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक व आर्थिक विकास भी सुनिश्चित हो जाता है।

(9) अस्पृश्यता निवारण — गाँधी अस्पृश्यता को मानव समाज के कलंक के रूप में स्वीकारते थे तथा मानते थे कि यदि सभी मनुष्यों के अन्तर्गत आध्यात्मिक एकता स्थापित कर दी जाये तो इस बुराई का निराकरण संभव है। ऐसा तभी संभव है जब व्यक्ति में दूसरों के प्रति समभाव जागे। अस्पृश्यता में अहिंसा धर्म व सर्वभूतात्मकता का निषेध हो जाता है। अतः अहिंसा व पूर्ण सकारात्मक भावों के विकास के लिये सत्याग्रही के लिये इस व्रत का पालन आवश्यक है।

(10) सर्वधर्म समभाव — गाँधी मानते थे कि सभी धर्म समान हैं व एक ही वृक्ष की अनन्त शाखाएँ हैं, जो व्यक्ति किसी धर्म का अपमान करता है वह ईश्वर के अस्तित्व को नकारता है। सभी धर्मों का सार एक ही है। सत्याग्रही के लिये आवश्यक है कि वह सर्वधर्म समभाव का पालन करे, तभी वह सत्य—अहिंसा की रक्षा कर सकता है।

(11) अभय — सत्य—अहिंसा का पालन अभय के बिना नहीं हो सकता है। जो व्यक्ति अपने मन के विकारों के अतिरिक्त अन्य आपत्तियों का भय रखता है, वह सत्य अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। इसलिये दैविय गुणों में प्राप्त करने योग्य अभय पहला गुण है। अतः उच्च गुणों के विकास हेतु निर्भयता का चिन्तन व शिक्षा आवश्यक है।

तात्त्विक मान्यता

तात्त्विक मान्यता के अनुसार प्रत्येक सत्याग्रही का ईश्वर में अटूट विश्वास होना आवश्यक है अर्थात् ईश्वर के नाम पर अपने समस्त सिद्धान्तों की पुष्टि करने के लिए उसे तैयार रहना चाहिए। ईश्वर में विश्वास का तात्पर्य यह नहीं कि सभी एक ही ईश्वर या ईश्वर के एक ही स्वरूप में विश्वास करे। प्रत्येक व्यक्ति की ईश्वर की परिभाषा भिन्न—भिन्न हो सकती है, अतः आवश्यक यह है कि सत्याग्रही अपने धर्म के अनुसार ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखे। क्योंकि गाँधी की मान्यता थी कि सभी प्रकार की पीड़ाओं को बिना किसी प्रतिकार की भावना के बिना सहना असंभव है। ईश्वर विश्वास से ही इन पीड़ाओं को सहने की शक्ति आती है। गाँधी की ईश्वर संबंधी कल्पना इतनी व्यापक थी कि उसमें ईश्वर में विश्वास न करने वाले भी समाहित हो जाते थे। गाँधी के अनुसार जो मानवता में विश्वास रखता है, समाज व्यवस्था में विश्वास रखता है वह भी अप्रत्यक्ष रूप से ईश्वर की सत्ता को स्वीकारता है, फलस्वरूप वह भी सत्याग्रही हो सकता है।

मनोवैज्ञानिक मान्यता

सत्याग्रह की मनोवैज्ञानिक मान्यता के अनुसार सत्याग्रही को मानसिक रूप से लोभ, स्वार्थ, घृणा, क्रोध आदि के स्थान पर प्रेम, सहयोग, करुणा, हर्ष, त्याग के द्वारा व्यक्तियों का हृदय परिवर्तन करना होता है। यद्यपि हृदय परिवर्तन के लिये इन मनोवैज्ञानिक उपायों का सहयोग लिया जाता है, किन्तु गंभीर रूप से विचार

करने पर इन सबका आधार नैतिकता सिद्ध होती है।

गांधी ने सत्याग्रही के लिये निम्न नियमों का पालन करना आवश्यक बताया गया है।

- (i) सत्याग्रही को क्रोध का परित्याग व अक्रोध का पालन करना चाहिये, क्योंकि क्रोधी व्यक्ति से सत्याग्रह पालन की अपेक्षा नहीं की जा सकती। क्रोध में व्यक्ति कोई भी अनैतिक कार्य कर सकता है।
- (ii) सत्याग्रही को सहिष्णु होना आवश्यक है। उसमें शत्रु के क्रोध व प्रहार सहन करने की क्षमता होनी चाहिए। और यदि वह प्रतिकार करे भी तो उसे अहिंसक अस्त्र का प्रयोग करना चाहिए।
- (iii) राजनैतिक सत्याग्रही को स्वेच्छा से शासन द्वारा बंदी होने के लिये तैयार होना चाहिये और अपनी सम्पत्ति इत्यादि के अपहरण में भी किसी प्रकार का प्रतिरोध नहीं करना चाहिये।
- (iv) सत्याग्रही को स्वयं को अपमान से दूर रखना चाहिये तथा प्रतिपक्षी को अपमानित नहीं करना चाहिये। यदि संघर्ष की अवधि में कोई प्रतिपक्षी को अपमानित करता है तो उसे प्रतिपक्षी की सुरक्षा में अपनी जान की बाजी लगा देनी चाहिए।
- (v) कैद होने पर जेल के सभी नियमों का पालन करना चाहिए।
- (vi) बिना किसी हिचकिचाहट के सत्याग्रह के नेता के आदेशों का पालन करना चाहिए।
- (vii) सत्याग्रही को जाति, धर्म, लिंग आदि के भेदभाव से उपर उठकर कार्य करना चाहिये व किसी साम्प्रदायिक दंगे का कारण नहीं बनना चाहिये।
- (viii) सत्याग्रही को अपने स्वार्थ से दूर रहना चाहिये तथा अपने आश्रितों के लिये भत्तों की मांग नहीं करनी चाहिये।

उपर्युक्त मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि सत्याग्रही को सत्य अहिंसा का पालन धर्म के रूप में करना पड़ता है। मानव की मूलभूत अच्छाइयों में विश्वास रखकर अपने प्रेम व आत्मपीड़ा के द्वारा दूसरों के हृदय को जगाना पड़ता है। सत्याग्रही का अपने उद्देश्यों के लिये अपना सम्पत्ति के साथ-साथ अपने प्राण तक छोड़ने के लिये तैयार रहना पड़ता है। इसके साथ ही सत्याग्रही को यह ध्यान भी देना पड़ता है कि वह स्वयं को समाज का एक आदर्श व्यक्ति व सच्चा सेवक होने का दावा कर सके। इसके लिये गाँधी के अनुसार एकादश व्रतों के पालन के अलावा उसे रचनात्मक कार्यक्रमों में भी भाग लेना आवश्यक होता है। इस प्रकार गाँधी मानते थे कि सत्याग्रह एक प्रकार की प्रगतिशील शैक्षणिक प्रक्रिया है, जिसका विकास धीरे-धीरे होता है।

सत्याग्रह की प्रक्रिया

सत्याग्रह की प्रक्रिया के तीन सोपान हैं – प्रथम आन्दोलनात्मक तथा संघर्षात्मक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति अन्याय का प्रतिकार अहिंसक प्रक्रिया के द्वारा करता है। आर.आर. दिवाकर ने इसे 'Aggressive Satyagraha' का नाम दिया। दूसरा सोपान है—भावात्मक प्रक्रिया, जिसमें समाज की सेवा रूपी रचनात्मक कार्यक्रम होता है इसे 'Constructive Satyagraha' का नाम दिया गया। तीसरी प्रक्रिया है – मूल्य परिवर्तनात्मक प्रक्रिया, जिसमें समाज व सत्याग्रही का मूल्य परिवर्तन होता है।

(1) आन्दोलनात्मक तथा संघर्षात्मक प्रक्रिया

यह सत्याग्रह की पहली प्रक्रिया है। अधिकांशतः सत्याग्रह को इसी प्रक्रिया तक सीमित समझ लिया जाता है। लेकिन यह पूर्ण सत्याग्रह न होकर उसका एक भाग है। इस प्रक्रिया के पीछे डा. हरिद्वार राय के अनुसार चार विचार हैं—पहला संसार में कुछ गलतियाँ या अव्यवस्थाएँ हैं, दूसरा इन पर विजय प्राप्त करना अनिवार्य है, तीसरा हिंसा के द्वारा इन पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती है। तथा इन पर विजय शुभ संकल्प से प्रेरित होकर ही पाई जा सकती है। इन चारों विचारों से यह स्पष्ट होता है कि सत्याग्रह की प्रक्रिया समाज में प्रचलित बुराइयों से संघर्ष करने से आरंभ होती है। इन बुराइयों में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक या धार्मिक कोई भी बुराई हो सकती है। इस संघर्ष में व्यक्ति, समुदाय, समाज या राष्ट्र कोई भी भाग ले सकता है। इस प्रकार सत्याग्रह यहाँ पर एक आन्दोलन या संघर्ष की अहिंसक प्रक्रिया के रूप में हमारे सामने आता है।

सत्याग्रह किसके द्वारा किया जाये? इस संबंध में गाँधी की मान्यता थी कि संघर्ष किसी भी व्यक्ति द्वारा किया जा सकता है। जो व्यक्ति संघर्ष को अहिंसात्मक प्रक्रिया के आधार पर करता है, सत्याग्रही के रूप में जाना जाता है। यह संघर्ष या सत्याग्रह व्यक्ति, समुदाय, समाज या राष्ट्र किसी के भी द्वारा किया जा सकता है। इस आधार पर सत्याग्रह के विविध रूप बन जाते हैं यथा—

(i) व्यक्तिगत सत्याग्रह

जब सत्याग्रह का प्रयोग किसी व्यक्ति द्वारा उसके जीवन में होने वाले अन्याय के विरुद्ध किया जाता है, वह व्यक्तिगत सत्याग्रह कहलाता है। व्यक्तिगत सत्याग्रह किसी भी व्यक्ति द्वारा किसी के भी प्रति किया जा सकता है।

(ii) सामुदायिक सत्याग्रह

यहाँ पर एक समुदाय किसी दूसरे समुदाय या अन्यायी व्यक्ति के अन्याय के विरुद्ध प्रतिकार करता है। जब किसी समुदाय द्वारा किसी व्यक्तिविशेष या राष्ट्र के अत्याचार का अहिंसक तरीके से प्रतिकार किया जाता है वह सामुदायिक सत्याग्रह की श्रेणी में आता है।

(iii) राष्ट्रीय सत्याग्रह

सत्याग्रह राष्ट्रीय जीवन में भी शोषण के खिलाफ अहिंसक प्रतिकार की पद्धति है जिसका सर्वप्रथम प्रयोग स्वयं गाँधी ने किया था। जब किसी व्यक्ति या शासन का अन्याय इतना बढ़ जाता है कि उस क्षेत्र में रहने वाले सभी लोग उसका प्रतिकार अहिंसक तरीके से करते हैं तो उसे राष्ट्रीय सत्याग्रह की संज्ञा दी जाती है।

(iv) अन्तर्राष्ट्रीय सत्याग्रह

जब कोई शक्तिशाली राष्ट्र दूसरे देश पर अत्याचार करे, तो ऐसी परिस्थिति में विश्व के अनेक राष्ट्र मिलकर उसकी भर्त्सना कर उसका अहिंसात्मक तरीके से प्रतिकार करते हैं, यह अन्तर्राष्ट्रीय सत्याग्रह कहलाता है।

संघर्ष विधि

सत्याग्रह में संघर्ष विधि की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। गाँधी ने आन्दोलनात्मक प्रक्रिया के अन्तर्गत

प्रतिरोध की विभिन्न क्रियाओं का उल्लेख किया था जिनका प्रयोग किसी भी क्षेत्र में अन्याय व अत्याचार के विरुद्ध प्रतिकार हेतु किया जा सकता है।

1. असहयोग

अहिंसक प्रतिकार की सबसे सरल विधि है असहयोग। यदि कोई विशेष प्रकार की राजनैतिक, आर्थिक या राजनैतिक व्यवस्था अन्याय व शोषण का बढ़ावा देती है तो इसके उन्मूलन का सबसे सरल उपाय है—असहयोग के आधार पर पुराने संबंधों का समाप्त करना व नई व्यवस्था में सहयोग देना। गाँधी की मान्यता थी कि सभी प्रकार के सामाजिक व राजनैतिक संबंध आपसी सहयोग पर आधारित होते हैं। शोषण के लिये केवल शोषक या उत्पीड़क को ही पूर्णतः दोषी नहीं ठहराया जा सकता है। शोषित भी शोषण के लिये समान रूप से जिम्मेदार होता है। शोषण शोषित की बाह्य इच्छा व सहयोग पर आधारित होता है। यदि सभी लोग शोषक के साथ सहयोग बंद कर दे या उसकी आज्ञा पालन बंद कर दे, तो शोषण नहीं हो सकता है। इसलिए गाँधी बुराई व अन्याय से असहयोग करने के लिये शोषित को प्रेरित करते हैं। असहयोग व्यक्तिगत व राजनैतिक दोनों प्रकार का हो सकता है। यदि असहयोग सरकार के विरुद्ध करना हो तो सरकार के साथ किसी प्रकार का सहयोग करना बंद करना होगा। इसके पश्चात् सरकारी नियंत्रण से मुक्त होकर, उसकी सुविधाओं से स्वतंत्र होकर असहयोग होने की भावना से छुटकारा पाना होता है। जब सरकार को जनता का सहयोग मिलना बंद हो जाएगा तो उसका अन्याय अत्याचार स्वतः जड़ें छोड़ देगा।

गाँधी के अनुसार असहयोग एक तत्त्वतः शोधन प्रक्रिया है। यह रोग के लक्षणों से अधिक कारण का उपचार करती है। यह एक ऐसा आन्दोलन है जिसका उद्देश्य ऐसे सामाजिक/राजनीतिक/आर्थिक संबंधों की स्थापना है जो हमारे आत्मसम्मान व गौरव के अनुकूल हो तथा जिनकी स्थापना व संचालन में किसी प्रकार की कठिनाई न हो। यह अहिंसा का गतिशील रूप है जिसका अर्थ है सचेत कष्ट वरण। असहयोग की उपयोगिता के संदर्भ में गाँधी ने कहा है कि यह वह पद्धति है जिसके द्वारा हम मुक्त जनमत का संवर्धन करते हैं और मत व्यक्त करने की पूर्ण स्वतंत्रता की स्थिति में बहुमत को कार्यान्वित करते हैं। इस प्रकार असहयोग एक अन्यायमूलक सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध जनमत की अभिव्यक्ति है।

असहयोग के संदर्भ में गाँधी इस बात पर ध्यान देना आवश्यक समझते थे कि अपने उद्देश्यों की पूर्ति में किसी व्यक्ति व सम्पत्ति को नुकसान नहीं पहुंचाना चाहिये, न ही नुकसान पहुंचाने की प्रेरणा दी जानी चाहिए। असहयोग के लिये जनता का परस्पर सहयोग आवश्यक है। असहयोग अहिंसक हो इसके लिये यह भी आवश्यक है कि असहयोगी (सत्याग्रही) मतभेदों के प्रति सहिष्णु रहे तथा विभिन्न मतानुयायियों की स्वतंत्रता की भी उसी प्रकार रक्षा की जाए जैसी कि उनसे अपेक्षा की जाती है। इस सत्याग्रह के क्रांतिकारी रूप की कोई सीमा नहीं है। व्यक्ति, समुदाय और जनसमूह सभी इसका सहारा ले सकते हैं। गाँधी मानते थे कि मुट्ठी भर अंग्रेज भारतीयों के सहयोग से ही उन पर शासन कर पाये थे। और अपनी इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध 1932 व 1942 में असहयोग आन्दोलन का आह्वान किया था व सफलता भी प्राप्त की। असहयोग के सहयोग के लिये अन्य अहिंसक साधनों का सहारा लिया जाता है जैसे हड़ताल, बहिष्कार, धरना आदि।

2. हड़ताल

यह असहयोग का ही एक महत्वपूर्ण अंग है। अहिंसक प्रतिकार या असहयोग के अन्तर्गत अन्यायपूर्ण

नीतियों के विरुद्ध विरोध प्रकट करने के लिये व्यवसाय को कुछ समय के लिये बंद करने की स्थिति को हड़ताल कहते हैं। इसके अन्तर्गत न केवल अपनी निजी नौकरी, व्यवसाय आदि का बंद करना शामिल है, वरन् विद्यालय महाविद्यालय आदि बंद करना भी शामिल है। यह प्रायः सांकेतिक होती है। इसका उद्देश्य होता है—जनता व सरकार के मन को प्रभावित करना। गाँधी ने इसका प्रयोग सर्वप्रथम 1918 में अहमदाबाद में श्रमिकों के हितों के लिये किया। उन्होंने मिल के कर्मचारियों को शपथ दिलवाई कि जब तक उनकी शिकायतें दूर नहीं की जाती, तब तक वे काम पर नहीं लौटेंगे। इस हड़ताल में गाँधी को उनके समुचित अधिकारों को दिलवाने में सफलता भी मिली थी।

गाँधी ने इस साधन का प्रयोग बड़ी सावधानी से करने की सलाह दी थी। उनके अनुसार हड़ताल स्वेच्छा से की जानी चाहिये। इसमें हिंसा का प्रयोग कतई नहीं होना चाहिये। वे न्यायपूर्ण व औचित्यपूर्ण शिकायतों को दूर करने के लिये हड़ताल करने के विरोधी नहीं थे, लेकिन सरकार को परेशान करने के लिये तोड़-फोड़ मूलक प्रवृत्तियों के साथ अपनी नाजायज मांगों को मनवाने के लिये हड़ताल के प्रयोग के विरुद्ध थे। वे मानते थे कि ये बार-बार नहीं होनी चाहिये।

गाँधी के अनुसार हड़ताल करने की छूट उन कर्मचारियों को बिलकुल नहीं दी जानी चाहिये जो जन उपयोगी सेवाओं से जुड़े हुए हों, क्योंकि उनके हड़ताल पर जाने से सामान्य जनजीवन पर नाकारात्मक असर होगा और उनका जीवन ठप्प हो जाएगा, जैसे रेलवे, बैंक, कारखाने, चिकित्सा सेवाएं, पुलिस आदि कार्यों में लगे कर्मचारी, जिनके काम पर न जाने से न केवल देश को आर्थिक हानि होगी, बल्कि आम आदमी भी परेशानी में पड़ जाएगा। मूलतः हड़ताल का प्रयोग औद्योगिक विवादों में होता है, किन्तु अब इसका प्रयोग अन्य क्षेत्रों में भी होने लग गया है।

3. बहिष्कार

यह असहयोग का ही रूप है, जिसमें सरकारी नीतियों के विरोधस्वरूप उपाधियों, सम्मानित पदों, सरकारी संस्थाओं में आने-जाने, सरकारी उत्सवों में भाग लेने, अदालतों, सरकारी स्कूलों में जाने, निर्वाचित होने व वोट देने का त्याग किया जाता है। इस प्रकार बहिष्कार कार्यक्रम चलाकर सरकार के विरुद्ध असन्तोष व्यक्त कर उस पर दबाव बनाया जाता है ताकि वह अपनी अन्यायपूर्ण नीतियों को न्यायपूर्ण बनाने के लिये बाध्य हो सके। गाँधी का कहना था कि यदि कोई पिता भी अन्याय करता है तो बच्चों का कर्तव्य है कि वह पैतृक छत्रछाया को छोड़ दे। इसी प्रकार यदि सरकार प्रजा के साथ अन्याय करती है तो प्रजा को विरोध स्वरूप उसका बहिष्कार कर उसका असहयोग करना चाहिए। सामान्यतः बहिष्कार के दो रूप प्रकट होते हैं — (1) सामाजिक बहिष्कार (2) आर्थिक बहिष्कार।

जो लोग जनमत की अवहेलना करते हैं, उन लोगों का बहिष्कार करना सामाजिक बहिष्कार कहलाता है। गाँधी के अनुसार जो लोग अल्पमत या सैद्धान्तिक कारणों से नहीं, अपितु केवल अवज्ञा के कारण या उससे भी अपकृष्ट कारणों से जनमत की अवहेलना करते हैं, उनका सहयोग नहीं करते उनके प्रति सामाजिक बहिष्कार किया जाना चाहिये। इसका प्रयोग बहुत मर्यादित रूप में किया जाना चाहिये। बहिष्कृत व्यक्ति को समाज की आवश्यक सेवाओं से वंचित नहीं किया जाना चाहिये। बहिष्कार तभी उपयोगी हो सकता है जब व्यक्ति उसे दण्ड की तरह नहीं, बल्कि अनुशासनात्मक कार्य की तरह स्वीकार करे और यह तभी संभव जब होगा जब बहिष्कार अहिंसात्मक हो और उसमें अमानवता की गंध न आवे। आर्थिक बहिष्कार में आर्थिक सेवाओं व वस्तुओं का बहिष्कार किया जाता है।

4. धरना

अहिंसक प्रतिरोध के अन्तर्गत धरना असहयोग का ही एक रूप है। इस प्रविधि का प्रयोग आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक दबाव डालने के लिये किया जाता है। इसका उद्देश्य सरकार पर दबाव डालकर, लोगों के बीच राजनैतिक चेतना व स्वदेशी चेतना को जागृत करना है। गाँधी ने धरने के अहिंसक स्वरूप को स्वीकार किया था, जिसमें हिंसात्मक कार्य नहीं किये जाते थे तथा किसी के रास्ते को रोककर दबाव नहीं डाला जाता। अहिंसक धरने पर बैठने वाले लोगों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे जनमत को जगाएं, उपयुक्त वातावरण का निर्माण करें व हृदय परिवर्तन के द्वारा प्रतिपक्षी को वस्तुस्थिति से अवगत कराये। इस प्रकार के धरने का प्रयोग मुख्यतः आर्थिक बहिष्कार के लिये किया जाता है। इस धरने में धमकाने, बल प्रयोग करने, भूख हड़ताल करने तथा अशिष्टता दिखाने के लिये कोई स्थान नहीं होना चाहिए। धरने में उपवास तभी किया जा सकता है जब करार भंग किया गया हो और दोनों पक्षों में पारस्परिक सम्मान व प्रेम की भावना न हो। गाँधी ने इसका प्रयोग 1907 में अफ्रीका में व 1920-22 व 1930 में भारत में किया।

(5) प्रदर्शन

सत्याग्रह की विधियों में प्रदर्शन भी एक महत्वपूर्ण विधि है। प्रतिपक्षी सरकार की अन्यायपूर्ण नीतियों के विरोधस्वरूप शिक्षित लोगों या लोगों के समूह को संगठित कर, प्रतिकात्मक रूप से विरोध का प्रदर्शन करना प्रदर्शन कहलाता है। प्रदर्शन के अन्तर्गत मुख्य रूप से जुलूस, नारेबाजी आदि को सम्मिलित किया जाता है। गाँधी ने इसका प्रयोग 1908 में दक्षिण अफ्रीका में रजिस्ट्रेशन सर्टिफिकेट एक्ट को जलाने के लिये, जलियावालाबाग हत्याकाण्ड के विरोध में, दाण्डी यात्रा के रूप में 1932 में द्वितीय असहयोग आन्दोलन व 1942 में भारत छोड़ो आन्दोलन के समय किया था।

(6) हिजरत

हिजरत का अर्थ है—अपने स्थायी या परम्परागत निवास स्थान को स्वेच्छा से छोड़कर दूसरे स्थान या अन्यत्र कहीं चले जाना। अर्थात् जब किसी स्थान पर आत्मसम्मानपूर्वक नहीं रहा जा सके, तब उस स्थान को त्यागकर अन्य जगह पर चले जाना हिजरत कहलाता है। गाँधी ने हिजरत की सिफारिश उन लोगों के लिये की जो यह महसूस करते हैं कि उनके साथ अत्याचार हो रहा है और वे उस स्थान पर आत्मसम्मान के साथ नहीं रह पा रहे हो। जो अन्याय के विरोध में न तो सत्याग्रह का नैतिक बल रखते हो और न ही हिंसा के प्रतिकार का साहस रखते हो, उन लोगों के लिये वह स्थान त्याग देना ही उचित है। ऐसे लोगों के लिये हिजरत का मार्ग अपनाने की सलाह गाँधी जी ने दी है। गाँधी के अनुसार, हिजरत असहनीय स्थिति से छुटकारा पाने का अहिंसक मार्ग है, न कि कायरता का। अतीत में उग्र अत्याचार से पीड़ित इजराइली जनता ने हिजरत का प्रयोग किया था। गाँधी ने आत्मसम्मान की रक्षा में 1928 में, बारडोली के सत्याग्रहियों को और 1939 में लिम्बडी, जूनागढ़, विट्टलगढ़ की जनता को हिजरत का साधन अपनाने की सलाह दी थी। 1935 में उन्होंने कैथा हरिजनों का अपना घर छोड़ने की सम्मति दी, क्योंकि सवर्ण हिन्दू नियमित रूप से आतंक फैला रहे थे और इससे उनमें भय उत्पन्न हो गया था।

(7) सविनय अवज्ञा

सविनय अवज्ञा का अर्थ है—अनैतिक कानूनों का उल्लंघन करना। इसमें प्रतिरोध कार्य सविनय अर्थात् अहिंसक रूप से कानून की अवज्ञा करके किया जाता है। यह वास्तव में विनय और आज्ञाभंग का समन्वय

है। अर्थात् अहिंसा और प्रतिरोध का सामंजस्य हैं सविनय अवज्ञा। मनुष्य के नैतिक विकास के लिये बुरे कानूनों का विरोध आवश्यक है, लेकिन समाज व्यवस्था के लिये, जिसके बिना मनुष्य का जीवन व विकास संभव नहीं है, विनय भी आवश्यक है। अवज्ञा शब्द स्वतः ही विनाशक व समाज विरोधी है, लेकिन उससे भी निकृष्ट कार्य है—अनैतिक कानूनों का पालन। मनुष्य को उन्हीं कानूनों का पालन करना चाहिये जो नैतिक रूप से करने योग्य हो। जब व्यक्ति वैधानिक साधनों से अनैतिक कानूनों को रद्द नहीं करा सके तो अपनी अन्तरात्मा के प्रति निष्ठापूर्ण बने रहने के लिए आवश्यक है कि वह उस कानून की अवज्ञा कर दे। लेकिन इस साधन के प्रयोग में सविनय पर अधिक बल होना चाहिये। और अवज्ञा सविनय तभी हो सकती है जब उसमें सच्चाई हो, उसके पीछे कोई दुर्भावना या घृणा का भाव न हो और वह नियंत्रित तथा किसी अच्छे सिद्धान्त पर आधारित हो। सतही तौर पर यह साधन स्पष्ट रूप से कानून की जानबूझकर अवहेलना प्रतीत होता है, लेकिन गाँधी के अनुसार इसका उद्देश्य किसी कानून विशेष का सार्वजनिक तथा सामूहिक रूप से उल्लंघन करके उस कानून की कमियों व त्रुटियों की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करना था, जिससे उन कानूनों की कमियों को दूर कर उनकी गुणवत्ता बढ़ाई जा सके ताकि लोग उसका पालन स्वेच्छा से कर सकें, न कि दंड के भय से। इस अवज्ञा को इसी अर्थ में सविनय कहते हैं कि वह सापराध नहीं होती।

गाँधी ने सविनय अवज्ञा को दो वर्गों में विभाजित किया था व्यक्तिगत तथा सामूहिक। व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा में एक व्यक्ति या व्यक्तियों की निश्चित संख्या या समुदाय द्वारा कानूनों की अवज्ञा है। इसलिये वह निषिद्ध सार्वजनिक सभा, जिसमें प्रवेश के लिये टिकट लेना पड़े, व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा का दृष्टांत है। जबकि वह सभा, जिसमें साधारण जनता बिना किसी टिकट या रूकावट के प्रवेश कर सके, सामूहिक सविनय अवज्ञा का दृष्टांत है। इन दोनों के बीच प्रमुख अन्तर यह है कि व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा में प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्र ईकाई है और उसके पतन का दूसरों पर प्रभाव नहीं पड़ता। सामूहिक सविनय अवज्ञा में एक का पतन दूसरों पर बुरा प्रभाव डालता है। सामूहिक प्रतिरोध में नेतृत्व आवश्यक है, जबकि व्यक्तिगत सविनय प्रतिरोध में व्यक्ति स्वयं अपना नेता होता है। सामूहिक सविनय प्रतिरोध में असफलता संभव है, व्यक्तिगत में सफलता निश्चित है। राज्य सामूहिक सविनय प्रतिरोध का तो सामना कर सकता है, लेकिन किसी भी राज्य में व्यक्तिगत प्रतिरोध का सामना करने की क्षमता नहीं है।

गाँधी जी ने सविनय अवज्ञा के दो रूपों का वर्णन किया—रक्षणात्मक व आक्रमणात्मक। आक्रमणात्मक सविनय अवज्ञा राज्य के उन कानूनों की स्वेच्छा से अहिंसक अवज्ञा है, जिनका उल्लंघन करना नैतिक भ्रष्टता नहीं है और यह अवज्ञा राज्य के विद्रोहस्वरूप की जाती है। ऐसे कानूनों से कोई कठिनाई नहीं होती न उन्हें बदलने की आवश्यकता है। इसे गाँधी ने अत्यधिक खतरनाक अस्त्र के रूप में वर्णित किया है। रक्षणात्मक सविनय अवज्ञा, ऐसे कानूनों का उल्लंघन है जो कि नैतिक दृष्टि से बुरे हैं व जिनको मानना मानवीय सम्मान व आत्मप्रतिष्ठा के प्रतिकूल है। वास्तव में, रक्षणात्मक अवज्ञा एक ऐसा कर्तव्य है जिसका पालन उस समय भी करना पड़ता है जबकि विरोधी कठिनाई में हो।

इस प्रकार गाँधी के अनुसार सविनय अवज्ञा असहयोग का उग्रतम रूप है। असहयोग के दूसरे साधनों की अपेक्षा यह अधिक उग्र व शीघ्रगामी भी है। अतएव इसके प्रयोग में सर्तकता का व्यवहार करना पड़ता है, क्योंकि इसमें खतरा होने की आशंका रहती है। गाँधी के अनुसार असहयोग का प्रयोग जनता व बच्चों द्वारा भी किया जा सकता है किन्तु सविनय अवज्ञा का प्रयोग कुछ चुने हुए व्यक्तियों द्वारा ही हो सकता है।

(8) आत्मपीड़न

सत्याग्रह की विधियों में कुछ विधियाँ प्रतिरोध के रूप में कार्य करती हैं तथा कुछ प्रक्रियाएं प्रतिपक्षी के हृदय परिवर्तन के द्वारा सत्याग्रह की प्रक्रिया को निष्पन्न करती हैं, जिनमें प्रमुख हैं—आत्मपीड़न। आत्मपीड़न का सामान्य अर्थ है — आत्मा को कष्ट देना। भारतीय परम्परा में महान उपलब्धियों के लिये साधना और तप के साथ ही आत्मपीड़न को भी आवश्यक समझा जाता है। इसके द्वारा व्यक्ति किसी भी प्रकार के कष्ट सहन करने की क्षमता विकसित कर सकता है। गाँधी ने आत्मपीड़न को साधना के आध्यात्मिक स्तर से उपर उठाकर जीवन के सभी पहलुओं में प्रवेश कराया। व्यक्तिगत मोक्ष के लिये आत्मपीड़न की बात तो भारतीय परम्परा में सामान्य बात है, किन्तु सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन के लिये आत्मपीड़न गाँधी की समाज को महान् मौलिक देन है।

सत्याग्रह की एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया के रूप में आत्मपीड़न में सत्याग्रही स्वयं को कष्ट देकर विरोधी के प्रति विरोध प्रदर्शित कर उसका हृदय परिवर्तित करने का प्रयास करता है। इसमें विरोधी का नहीं, उसकी अन्यायपूर्ण नीतियों का प्रतिकार किया जाता है। इसमें प्रेम की भावना प्रबल होती है। जब सत्याग्रही आत्मपीड़न करता है तथा दूसरों की पीड़ा में भाग लेता है, तो उसे एक प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूति होती है जो कि बुद्धि से परे की चीज है, इसे गाँधी ने हृदयात्मा का ज्ञान कहा है। जब प्रतिपक्षी सत्याग्रही के आत्मपीड़न पर विचार करता है तो उसके हृदय में परिवर्तन आ जाता है। इस प्रकार जब व्यक्ति पीड़ा के द्वारा दूसरे के हृदय में प्रवेश करने की कोशिश करता है तो उसे इस कार्य में काफी सफलता मिलती है। गाँधी ने भी जीवन में दक्षिण अफ्रीका में दो बार आत्मपीड़न का प्रयोग किया था।

(9) उपवास

सत्याग्रह का सबसे प्रबल शक्तिशाली अस्त्र उपवास है। यह आत्मपीड़न का ही एक रूप है। उपवास में सत्याग्रही स्वयं अहिंसात्मक मार्ग का वरण करके अपने शरीर को कष्ट देकर प्रतिपक्ष का हृदय परिवर्तन करने का प्रयास करता है। उपवास के उद्देश्य भी दो प्रकार हो सकते हैं — दुराग्रह तथा सदाग्रह। दुराग्रमूलक उपवास में उपवास करने वाला व्यक्ति अन्यायी को सुधारने की दृष्टि से उपवास नहीं करता, अपितु अपनी बातों को स्वीकार कराने के लिये यह धमकी देता है कि यदि उसकी बात नहीं सुनी गई तो भुखे मर जायेंगे। सदाग्रह मूलक उपवास में सद्भावनापूर्वक अन्यायी का हृदय परिवर्तित किया जाता है।

गाँधी की दृष्टि में उपवास अन्याय का विरोध तथा अन्यायी के हृदय परिवर्तन का साधन है, किन्तु इस अस्त्र का प्रयोग गंभीरता से करना चाहिये। इसका प्रयोग तभी करना चाहिये जब सभी उपलब्ध संवैधानिक तथा सत्याग्रहिक साधन असफल हो जाएँ और कोई अन्य रास्ता नहीं दिखाई दे। गाँधी के अनुसार उपवास के लिये महान आंतरिक शक्ति की आवश्यकता होती है। जिसमें आंतरिक शक्ति नहीं है उसे इसका नाम भी नहीं लेना चाहिये। इस अस्त्र का प्रयोग उपवास कला में दक्ष व्यक्तियों द्वारा या किसी व्यक्ति विशेष के निरीक्षण में ही हो सकता है। उपवास के लिये शारीरिक क्षमता का कोई महत्त्व नहीं है। उपवास के लिए सत्याग्रही में अर्न्तदृष्टि, आध्यात्मिक एकता तथा ईश्वर में जीवित श्रद्धा अनिवार्य हैं। सत्याग्रही में दृढ़ निश्चय, ध्येय की एकाग्रता, असीम धैर्य तथा शान्ति का होना भी अत्यावश्यक है। उपवास में सबसे बड़ी बात यह है कि वो सत्याग्रही की त्याग की भावना का प्रतीक है, न कि अपने प्रतिपक्षी पर दबाव डालने का।

गाँधी ने अपने जीवन में कुल सत्रह बार उपवास किया और वे कुल मिलाकर 138 दिन उपवास पर रहे थे। उपवास उन्होंने मुख्यतः आत्मशुद्धि के लिये, हिंसक घटनाओं को रोकने के लिये, साम्प्रदायिक दंगों को रोकने तथा

हरिजनों पर होने वाले अत्याचारों पर क्षोभ प्रकट करने के लिये किये और जहाँ तक उनके तात्कालिक प्रभाव का प्रश्न है, उसमें वह पूरी तरह सफल हुए।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गाँधी के सत्याग्रह की आन्दोलनात्मक प्रक्रिया का उद्देश्य समाज के दोषों का निवारण करना ही है। गाँधी के अनुसार सत्य, अहिंसा, प्रेम, न्याय, स्वतंत्रता आदि की स्थिति में सत्याग्रह की इन विधियों की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु, इसके विपरीत जहाँ पर अत्याचार, हिंसा, भय, परंत्रता आदि होते हैं वहाँ पर व्यक्ति, समुह, समुदाय, राष्ट्र या अन्तर्राष्ट्र को सत्याग्रह का सहारा लेना पड़ता है। सत्याग्रह इन संघर्षात्मक प्रक्रियाओं तक ही सीमित नहीं है। इन प्रक्रियाओं के बाद भी यह महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

2. रचनात्मक कार्यक्रम

सत्याग्रह की आन्दोलनात्मक प्रक्रिया वास्तव में सामाजिक संरचनाओं व संबंधों के मार्ग में व्यवधान के निराकरण का एक उपकरण है, परन्तु सत्याग्रह केवल इतना ही नहीं है। पूर्ण सत्याग्रह में निषेधात्मक तत्वों के साथ-साथ भावात्मक तत्व भी जुड़े हुए होते हैं। यह सम्पूर्ण जीवन पद्धति है, इसमें जीवन व जीवन से जुड़े सभी पहलुओं के प्रति विशेष दृष्टिकोण है। यह जीवन की ऐसी प्रवृत्ति है जो जीवन के निर्माण, उत्थान व विकास के साथ चलने वाली विकासात्मक शक्ति के अनुकूल है तथा जिसकी अभिव्यक्ति अनेक प्रकार के उत्पादक व रचनात्मक कार्यक्रमों में दृष्टिगोचर होती है। संक्षेप में, रचनात्मक कार्यक्रम सत्याग्रह का भावात्मक पक्ष है। अन्याय के प्रतिकार के लिये सत्याग्रह प्रविधियाँ और नई व्यवस्था के निर्माण के लिये रचनात्मक कार्यक्रम, ये दोनों सत्याग्रह के अविभाज्य अंग हैं। गाँधी ने स्वयं अपनी पुस्तक 'Constructive Programme' में लिखा था "My handling of disobedience without constructive programme will be like a paralysed hand attempting to lift a spoon."

गाँधी के अनुसार यदि प्रतिकारात्मक सत्याग्रह को रचनात्मक कार्यक्रम से नहीं जोड़ा जाए तो वह पूर्ण रूप से अहिंसक नहीं होगा। उनके अनुसार सेवा की भावना से प्रेरित होकर जेल जाना, लाठी खाना आदि की एक प्रकार से हिंसा है। वास्तव में रचनात्मक कार्यक्रम ही सत्याग्रह को पूर्णतः अहिंसक और सृजनात्मक बनाता है। रचनात्मक कार्यक्रम गाँधीवादी सत्याग्रह रूपी आत्मा का शरीर है। यह सत्याग्रह का सहवर्ती और पूरक तत्व है। डॉ. दिवाकर ने भी इसका सर्मथन करते हुए कहा कि गाँधी द्वारा बताये गये 18 प्रकार के तथा अन्य सभी रचनात्मक कार्यक्रम वस्तुतः सत्याग्रह के रचनात्मक और भावात्मक रूप हैं। इसी को डॉ. हरिद्वार राय ने दूसरे शब्दों में समझाते हुए कहा कि गाँधी के लिये सत्याग्रह केवल अन्याय के प्रतिकार का साधन नहीं था, अपितु यह एक स्पष्ट रूप से स्वस्थ और सृजनात्मक जीवन पद्धति है। इस प्रकार सभी सहमत हैं कि सत्याग्रह और रचनात्मक कार्यक्रम समाज परिवर्तन और समाज नियंत्रण की दो परस्पर पूरक पद्धतियाँ हैं।

गाँधी ने देशभर में अनेक रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाई थी, किन्तु अपनी पुस्तक रचनात्मक कार्यक्रम में निम्नलिखित 18 कार्यक्रमों का उल्लेख किया है –

1. साम्प्रदायिक एकता
2. अछूतोंद्वारा

3. मद्य निषेध
4. खादी
5. ग्रामीण व कुटीर उद्योग
6. ग्राम सफाई
7. नई तालीम
8. प्रौढ़ शिक्षा
9. नारी का उद्धार
10. समग्र ग्राम सेवा
11. राष्ट्र भाषा हिन्दी का प्रचार
12. मातृभाषा के प्रति प्रेम
13. आर्थिक समानता के लिये कार्य
14. आदिवासियों की सेवा
15. मजदूरों का संगठन
16. किसानों का संगठन
17. विद्यार्थियों का संगठन
18. प्राकृतिक चिकित्सा।

उपर्युक्त रचनात्मक कार्यक्रमों को गाँधी ने नवीन समाज रचना प्रस्तुत करने के लिये रखा था। परन्तु गाँधी ने इन्हें अंतिम व पूर्ण नहीं माना था। उन्होंने इन्हें उदाहरण के रूप में रखा था। समय परिवर्तन के साथ इनमें भी परिवर्तन संभव हो सकता है। इन कार्यक्रमों को लागू करने के लिये उन्होंने स्वयं सेवकों का भी संगठन किया।

3. मूल्यपरिवर्तनात्मक प्रक्रिया

सत्याग्रह की आन्दोलनात्मक प्रक्रिया का उद्देश्य समाज में अन्तर्नीहित बुराई का प्रतिकार करना होता है तथा रचनात्मक प्रक्रिया का उद्देश्य विधायक कार्यक्रमों के द्वारा नवीन समाज रचना होता है। इन प्रक्रियाओं के अतिरिक्त सत्याग्रह में एक और प्रक्रिया है जो सत्याग्रही और प्रतिपक्षी के बीच चलती है, जिसे मूल्यपरिवर्तनात्मक प्रक्रिया कहते हैं।

किसी भी समाज का अपना मूल्य, आदर्श व संस्कृति होती है। प्रत्येक संस्कृति, चाहे वह अन्यायी की हो या सत्याग्रही की, में कुछ अच्छे-बुरे मूल्य अवश्य रहते हैं। सत्याग्रह की प्रक्रिया द्वारा दोनों के बुरे मूल्यों में परिवर्तन होता है तथा शुभ मूल्यों का विकास होता है। सत्याग्रही को सत्याग्रह प्रारम्भ करने से पूर्व यह विश्वास होता है कि उसकी नैतिक शक्ति अन्यायी की हिंसा शक्ति से श्रेष्ठ है और वह अन्यायी का हृदय परिवर्तन कर सकता है। किन्तु साथ ही वह यह भी विश्वास रखता है कि अन्यायी चाहे कितना ही नृशंस, कठोर क्यों न हो, उसकी स्थिति परिवर्तित की जा सकती है। दूसरे शब्दों में, सत्याग्रही मनुष्य मात्र की शुभ प्रकृति में विश्वास रखता है। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि सत्याग्रही सत्याग्रह करने से पूर्व अपने बुरे मूल्यों को शुभ मूल्यों में परिवर्तित करे। इस प्रकार सत्याग्रही एक ओर सत्याग्रह में धर्म रक्षा के लिये अपनी आहूति देने के लिये तैयार हो जाता है, दूसरी ओर वह प्रतिपक्षी के नैतिक जागरण में भी विश्वास रखने

लगता है। इस आधार पर उसकी समस्त योजना चलती है। विशेष समुदाय जब इन मूल्यों को मानने लगता है तो परिवर्तन व्यक्ति से बढ़कर समुदाय तक आता है। जब समूचे समाज में यह मूल्य प्रतिष्ठित हो जाता है तो सामाजिक क्रांति होती है।

इसी प्रकार प्रतिपक्षी की ओर से भी मूल्य परिवर्तित होते हैं। प्रतिपक्षी का शोषण इस बात पर निर्भर करता है कि शोषित के बारे में उसकी क्या राय है। यदि वह शोषित व्यक्ति को स्वभाव से दुष्ट, कायर व हीन मानता है तो उसके साथ हीनता से पेश आता है। और जब शोषित हिंसा से प्रतिकार करता है तो शोषक की धारणा पुष्ट हो जाती है और हिंसा-प्रतिहिंसा चलती रहती है। परन्तु यदि शोषित अहिंसक साधनों को अपनाता है तो शोषक का विश्वास टूट जाता है और उसकी नैतिक हार हो जाती है। यदि वह शोषित की अपेक्षा स्वयं को दुष्ट पाता है तो उसके पुराने मूल्य बदल जाते हैं। विचार जब बदलता है तो उसके आधार भी बदलेंगे। पुराने मूल्य बदलकर नये मूल्य प्रतिष्ठित होते हैं और समाज का स्वरूप ही बदल जाता है। यही पर सत्याग्रह क्रांति की प्रक्रिया पूर्ण होती है। मूल्य परिवर्तन समाज परिवर्तन की आधारभूत शर्त है, इसके बिना क्रांति न तो प्रभावकारी होगी न स्थायी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सत्याग्रह प्रतिकार की वह पद्धति है जो शांतिपूर्ण व अहिंसक तरीके से उचित साधनों का प्रयोग कर एक ओर जहाँ सत्य की रक्षा व प्रतिपक्षी का हृदय परिवर्तन करती हैं वहीं दूसरी ओर रचनात्मक कार्यक्रमों के द्वारा नवीन समाज रचना का आधार प्रस्तुत करती है। गांधी ने इसका प्रयोग सूक्ष्म व विशाल दोनों स्तरों पर सफलतापूर्वक कर इसकी व्यवहारिकता को भी सिद्ध कर दिया।

सर्वोदय

अर्थ एवं दर्शन

सर्वोदय का शाब्दिक अर्थ है, “सब का उदय और सब प्रकार से उदय” अर्थात् समाज में प्रत्येक व्यक्ति का सर्वांगीण उत्थान। काका कालेलकर कहते हैं —“सर्वोदय कोई मामूली शब्द नहीं है, महात्मा जी के हृदय से निकली हुई यह एक ऋषि वाणी है। आज के युग का यह “युग मंत्र” है। सर्वोदय पूंजीवाद, समाजवाद और साम्यवाद की होड़ में खड़ा किया हुआ कोई नया वाद नहीं है। सर्वोदय सब वादों का समन्वय करने वाला कल्याणकारी मंत्र है। गांधी जी के एक अन्य सात्विक अनुयायी ने सर्वोदय का भाष्य करते हुए कहा है कि —“सर्वोदय के मानी है “अन्तोदय” जो सबसे पिछड़ा हुआ है, दलित और उपेक्षित है, उससे प्रारम्भ करके सबकी उन्नति के लिए प्रारम्भ किया जाता है, वह है सर्वोदय। सर्वोदय में पवित्र अपवित्र का भेद नहीं है। गुलामों की गुलामी नष्ट करने के लिए कटिबद्ध यह सर्वोदय जालिमों का भी कल्याण ही चाहता है अन्याय का प्रतिकार करते हुए अन्यायी के प्रति उसके मन में दया भाव ही रहता है।

विनोबा, सर्वोदय के अर्थ को साधारण यानी सरल बनाते हुए समझाते हैं कि हमने जीवन को एक-दूसरे के विरोध के निमित्त कर लिया है। जैसे धन के ही संग्रह में हम दूसरे के हितों को नजरअन्दाज कर करते हैं। एक प्रकार से यदि कहा जाये तो कभी-कभी तो दूसरों से छीनकर ही हम धन का अनावश्यक संग्रह करते हैं। मानवता और प्रेम से अधिक महत्व हमने धन को दे रखा है। नतीजा यह है कि परस्पर मेल या संबंध जो आसान होना चाहिए था, वह मुश्किल हो गया है। उस आसान प्रेम की शोध में कई राजकीय, सामाजिक और आर्थिक शास्त्र बन गये हैं। फिर भी सबका हित नहीं सध रहा है, सबका कल्याण नहीं हो रहा है। सबका हित या

कल्याण तो एक सीधी सी बात मान लेते हैं और वह यह कि हर व्यक्ति एक-दूसरे की फिक्र रखें और अपनी फिक्र भी ऐसी न रखें कि जिससे दूसरे को तकलीफ हो। यही कुटुम्ब में होता भी है, कुटुम्ब का न्याय समाज के लिए लागू करना कठिन नहीं होना चाहिए, बल्कि आसान होना चाहिए। ऐसे कौटुम्बिक न्याय को सर्वोदय कहते हैं। यह सर्वोदय का कम से कम और स्पष्ट अर्थ है और इसी से यह प्रेरणा मिलती है कि हमें दूसरे की कमाई का नहीं खाना चाहिए। हमें अपना भार दूसरे पर नहीं डालना चाहिए। दूसरे का धन हम किसी तरह ले इसे अपनी कमाई नहीं कहा जा सकता है और इस नीति से दूसरे के हित के बदले अहित ही होता है। कमाई का अर्थ प्रत्यक्ष उत्पादन है। सबका एक साथ विकास ही सर्वोदय है। सर्वोदय का यह अर्थ नहीं होगा कि कुछ का विकास हो और कुछ का नहीं हो, सर्वोदय बहुमत के हित की बात नहीं करता, वह तो समान रूप से सबका उदय चाहता है। सर्वोदय का साधन सर्व शब्द में हैं, जो कुछ भी प्राप्त हो, वह समाज के सभी व्यक्ति को प्राप्त हो। सर्वोदय इसी अर्थ में कहता है, जो कुछ भी पैदा करो, जो कुछ भी प्राप्त करो, वह सब में बांटें। श्रम का, धन का, जमीन का समान बंटवारा कर लो।

सर्वोदय का दर्शन

सर्वोदय ऐसा जीवन दर्शन है, जिसमें जीने का अनुपम तरीका निहित है। इसमें सब सुखी हम सुखी वाली बात है। यह कोई नई बात कहता हो, ऐसा नहीं है, पर पुरानी अच्छाइयों को जीवन में दाखिल करने का एक रास्ता जरूर बताता है। गांधी जी कहा करते थे जीवन जीना सबसे बड़ी कला है और जिसने इसको सीख लिया, वही सबसे बड़ा कलाकार है। मानव-जीवन एवं समाज के विकास के लिए प्रतिस्पर्धा को मुख्य साधन माना गया, लेकिन इसका परिणाम भयंकर हुआ। संघर्ष से संघर्ष, प्रतिस्पर्धा से प्रतिस्पर्धा विकसित हुई और फलस्वरूप आज विरोधवाद, संघर्षवाद और संहारवाद संस्कृति पर हावी है। राजनीति क्षेत्र में जहां इस विचार से द्वेष की भावना का जहर समाज की नस-नस में फैला हुआ है, वहीं आर्थिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा के विचार ने बड़े-बड़े पूंजीपतियों, सेठ-साहूकारों में और सामाजिक क्षेत्र में मदान्धता का विकास किया। सामान्य व्यक्ति सर्वहारा होकर शोषण के पहियों के नीचे दब गया। सर्वोदय ने संघर्ष के स्थान पर सहकार की बात कहकर जीवन के विकास की दिशा में समाज को एक अनोखा उपहार भेंट किया। डार्विन ने एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया, उसमें उन्होंने कहा कि जो सबसे अधिक सक्षम होगा वही जीवन-संग्राम में बचेगा। डार्विन के इस सिद्धान्त में हक्सले ने कमी देखी और एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो डार्विन महोदय के सिद्धान्त से उदारवादी है। हक्सले ने कहा – “जीओ और जीने दो” हालांकि हक्सले के सिद्धान्त में कोई त्रुटि नहीं लेकिन सर्वोदय सिद्धान्त मानवता के उच्चतम शिक्षर को प्राप्त करते हुए कहता है – दूसरे के लिए जीओ, जिलाने के लिए जीओ। सर्वोदय में सर्व का हित, सर्व के लिए हित, सर्व के द्वारा हित की साधना की बात कही गयी। केवल साधना की बात नहीं, वरन् जीवन के हर पहलू को यह विचार स्पर्श करता है। आदमी अपना रोजगार भी सर्वोदय की भावना से कर सकता है। व्यक्ति केवल अपने बारे में नहीं, बल्कि अपने पड़ोसी के बारे में भी सोचे, यह इस विचारधारा की नींव का पहला पत्थर है। तभी तो बापू ने कहा था – “अमेरिकन गेहूं खाकर अपने पड़ोसी अनाज के व्यापारी को ग्राहक के अभाव में भूखों मरने देना पीड़ादायक है। वैसे ही “रीजेन्ट स्ट्रीट इंग्लैण्ड के एक औद्योगिक नगर की नवीनतम व तड़क-भड़कदार पोशाक पहनना मेरे लिए पापपूर्ण है, जबकि मैं जानता हूं कि यदि मैंने अपने पड़ोसी जुलाहों की बनी पोशाक पहनी होती तो न केवल मेरा तन ढकता, बल्कि उनके तन भी ढकते और पेट भी भरते। पड़ोसी से सहयोग की बात व्यापक रूप में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ तक लागू होती है, यह सामाजिकता है। यदि हम सर्वोदय के इस विचार से मुंह मोड़ते हैं, तो फिर हमारे लिए समाजवाद, साम्यवाद या सभ्यता और

संस्कृति आदि की बात करना प्रवंचना मात्र है। फिर मनुष्य की मनुष्यता की असली परख भी तो उसकी पशुता में नहीं होकर उसकी आध्यात्मिक शक्ति, उसकी सर्वभूत हित-साधन की हृदयवत्ता में है। मानव-समाज भी पशुबल की उपेक्षा कर नीति एवं धर्मबल को ही स्वीकारता है। ऐशले माटेग्यू जैसे विचारक ने भी अपनी पुस्तक में कहा है कि संघर्ष या होड़ नहीं, सहयोग ही प्रकृति का सिद्धान्त है। विलर के विचार भी सर्वोदय के विचार का ही समर्थन करता हुआ कहता है कि प्रकृति में सबसे प्रवृत्ति पायी गयी है –सहजीवन और सहयोग की। सह-अस्तित्व प्रकृति का नियम है।

धर्म की दृष्टि से सर्वोदय को सभी धर्मों का समन्वय कहा जा सकता है। स्वयं विनोबा ने सर्वोदय को सर्वोत्तम धर्म तथा 'सर्वोदयमिद तीर्थम्' कहा है। लगता है विनोबा की यह मान्यता सच भी है। आखिर विश्व के सभी धर्मों का सार भी तो सबका हित, सबका कल्याण करना है। इसलिए सर्वोदय ऐसा धर्म दर्शन है, जिसके अन्तर्गत दुनिया के सभी धर्म समाये हुए हैं। सर्वोदय में प्रत्येक के दोषों का अस्वीकार कर सिर्फ गुण को स्वीकारा गया है। सर्वोदय सत्य, अहिंसा, प्रेम तथा सहयोग के आधार पर आदर्श सामाजिक व्यवस्था की स्थापना का संकल्प करता है। इस आदर्श व्यक्ति को अपने विकास का समान अवसर प्राप्त होगा, उसमें ऊँच-नीच, छूत-अछूत, गरीब-अमीर, मालिक-मजदूर और भूपति एवं खेत-मजदूर के बीच गहरी खाई न होगी, कोई किसी का शोषण नहीं कर सकेगा। ईर्ष्या और द्वेष के स्थान पर प्रेम और भलाई ही सामान्य व्यवहार के नियम होंगे और सब व्यक्ति एक-दूसरे की उन्नति करने का मान करेंगे। यह व्यवस्था स्वर्गतुल्य होगी। इसी को संक्षेप में सर्वोदय कहा गया है।

सर्वोदय ने मानव समाज के परिवर्तन एवं पुनर्निर्माण के लिए विश्व के अन्य धर्मों की तरह अहिंसा, प्रेम और करुणा को ही अपना मुख्य साधन माना है। समाजगत शोषण, उत्पीड़न, विषमता एवं अन्य सामाजिक, आर्थिक अन्याय के उन्मूलन के लिए सर्वोदय दण्ड शक्ति और हिंसा शक्ति के विरुद्ध अहिंसकजन शक्ति जिसे "तीसरी शक्ति" भी कहते हैं का सहारा लेता है। सर्वोदय विचार की यह मान्यता है कि "दण्डशक्ति" के आधार पर कभी भी स्वस्थ समाज की स्थापना नहीं हो सकती। इसके लिए तो विचार क्रांति करनी होगी। जनता के अभिक्रम और कर्तव्य शक्ति को जगाकर ही अहिंसक समाज की स्थापना की जा सकती है। सर्वोदय में त्याग के द्वारा हृदय परिवर्तन तर्क के द्वारा विचार परिवर्तन, शिक्षा के द्वारा संस्कार परिवर्तन एवं पुरुषार्थ के द्वारा स्थिति परिवर्तन कर स्वच्छ एवं नैतिकपूर्ण मानव समाज की रचना की जाती है। ऐसे समाज में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रहती है। समाज में प्रेम एवं सहयोग का स्वस्थ वातावरण रहता है।

सर्वोदय दर्शन के आधारभूत तत्व

सर्वोदय दर्शन के आधारभूत आध्यात्मिक तत्व—

1. सत्य — गांधी जी के लिए सत्य सर्वप्रथम सिद्धान्त है जो अपने में अनेक सिद्धान्तों को समेटे हुए है। उनका सारा जीवन सत्य के साथ किया गया प्रयोग है। उनके विचार में सत्य ही ईश्वर है। इसलिए इसी सत्य के प्रति निष्ठा ही व्यक्ति के अस्तित्व का एकमात्र औचित्य है। व्यक्ति की समस्त गतिविधियां सत्य केन्द्रित होनी चाहिए। सत्य ही व्यक्ति के जीवन का प्राण तत्व होना चाहिए, क्योंकि सत्य के बिना जीवन में किसी सिद्धान्त व नियम का पालन करना असंभव है। इसलिए सर्वोदय विचार के पालन करने के लिए सत्य का पालन अपरिहार्य है, क्योंकि सत्य का पालन तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपेक्षित है। सत्य के पालन में पूर्वाग्रह,

टाल-मटोल, दुराव, प्रवंचना या विकृति का कोई स्थान नहीं है। सर्वोदय विचार को व्यक्त करते समय आचार्य विनोबा भी कहा करते थे प्रत्येक मनुष्य अपने ज्ञान के अनुसार सत्य का पालन करे। समाज में रहकर सबका यही कर्तव्य होना चाहिए। साधारण अर्थ में सत्य को सत्य-आग्रह, सत्य-विचार, सत्य-वाणी एवं सत्य-कर्म से जान सकते हैं। असत्य का सत्यादि साधनों द्वारा प्रतिकार करना सत्याग्रह है। अतः सर्वोदय या सबके उत्थान में सत्य का बहुत महत्व है।

2. अहिंसा – सर्वोदय में सत्य की भांति अहिंसा का भी महत्व है। सामान्य अर्थ में किसी दूसरे जीव को न मारना ही अहिंसा है। व्यापक अर्थ में व्यक्ति द्वारा मन, वचन और कर्म द्वारा प्राणी-मात्र को किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुंचाना ही अहिंसा है। अहिंसा का दूसरा नाम प्रेम है। गांधी जी कहते हैं – “जो व्यक्ति अहिंसक होने का दावा करता है, उससे यह अपेक्षित है कि वह अपने को क्षतिग्रस्त करने वाले पर क्रोधित न हो। वह उसका बुरा नहीं चाहेगा, वह उसका भी भला चाहेगा, वह उसे किसी प्रकार का शारीरिक आघात नहीं पहुंचायेगा। वह अनिष्टकर्ता द्वारा उसे पहुंचायी गयी समस्त क्षति को सह लेगा। इस प्रकार समस्त जीवों के प्रति दुर्भावना का परिपूर्ण तिरो-भाव ही अहिंसा है। इसका प्रसार हानिकारक कीटाणु समेत मानवेत्तर योनियों तक है। उनकी सृष्टि हमारी विनाशात्मक प्रवृत्तियों की पूर्ति के लिए नहीं हुई है। सर्वोदय विचार में यह मान्य है कि एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के साथ अपने-अपने व्यवहार में अहिंसक होना चाहिए, तभी सर्वोदय का हित सधेगा। गांधी जी तो कहा करते थे मेरे लिए स्वराज्य से भी बढ़कर अहिंसा का स्थान है। सर्वोदय जनसमूह में अहिंसा को फैलाना चाहता है, क्योंकि जनसमूह द्वारा हिंसा के अवलम्बन से रोग कभी नहीं मिट सकता। आज का अनुभव यही बताता है कि हिंसा की सफलता क्षणिक होती है। अब तक हिंसा के विविध रूपों एवं मुख्यतः हिंसक की इच्छा पर निर्भर कृत्रिम नियंत्रणों का ही तो प्रयोग किया गया है। निर्णायक क्षणों में ये नियंत्रण स्वभावतः असफल रहे हैं। गांधीजी का विश्वास है कि लोकतांत्रिक सर्वोदय समाज-व्यवस्था के लिए अहिंसा अनिवार्य है। डॉ. राधाकृष्णन भी यह मानते हैं कि “आध्यात्मिक जीवन की पवित्रता एवं श्रेष्ठता, मानव-जाति के बन्धुत्व बोध तथा शान्ति, प्रेम, इन आदर्शों के आधार पर एक पूरी नई पीढ़ी को प्रशिक्षित करने की आवश्यकता है।

3. अपरिग्रह – सर्वोदय दर्शन का तीसरा मंत्र अपरिग्रह है। गांधीजी अपरिग्रह का अर्थ समझाते हुए कहते हैं, “आदर्श स्थिति में अपरिग्रह केवल शरीर के वस्त्रों तक का त्याग न होकर अपनी अस्थियों के मांस तक का त्याग है।” सर्वोदय दर्शन का जीवन में पालन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अपनी शारीरिक आवश्यकता के अनुसार किसी भी वस्तु का अधिक संग्रह न करे और न उससे किसी प्रकार का भेद करे। वस्तुओं का उपयोग केवल इस शरीर को चलाने के लिए हो। आचार्य विनोबा ने इस सम्बन्ध में कहा, “यदि इस दृष्टिकोण को अपनाया जाये तो इस संसार में कोई भी व्यक्ति भूखा न मरे। गांधीजी का विश्वास था कि ईश्वर पर निष्ठा रखने वाले व्यक्ति को परिग्रह की जरूरत नहीं होती है। सन्त और महापुरुषों का जीवन इसका सबल प्रमाण है। बिना संग्रह किये ही संग्रहकर्ता व्यक्ति से महापुरुषों का जीवन अधिक सुखमय होता है। इसलिए सर्वोदय विचार में अपरिग्रह का महत्वपूर्ण स्थान होना आवश्यक है।

4. आत्म-त्याग – सर्वोदय सिद्धान्त की मुख्य मान्यता यही है कि त्यागमय जीवन में ही सच्चा सुख है, सच्चा आनन्द है। निश्चय ही अपने कर्तव्यों का पालन करने वाला और सत्य मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति दूसरों की सेवा में शान्ति का अनुभव करेगा। वह कभी भी किसी को धोखा तो नहीं ही देगा, अपना जीवन भी सादगीपूर्ण व्यतीत करेगा। इसलिए सर्वोदय विचार के सूत्रधार महात्मा गांधी हरिजनों, दीन-दुखियों और दरिद्रों

की सेवा करने में गर्व का अनुभव करते थे और दूसरों को इस पुण्य में सहभागी होने को प्रेरित करते थे। बापू का कहना था, दूसरों की स्वेच्छापूर्वक सेवा में हमारी शक्तियां लगनी चाहिए। यही सब धर्मों एवं सर्वोदय का सार है। इसलिए तो विनोबा और जयप्रकाश ने दूसरों की सेवा में अपने को अर्पित कर दिया।

5. सर्वजनहिताय – सर्वोदय का अर्थ ही है सबका उदय। सर्वोदय की यह भावना सर्वोदय विचार का सार है। गांधीजी ने रस्किन की पुस्तक “अनटु दिस लास्ट” के आधार पर जो सर्वोदय के तीन सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं वे समष्टि के हित में ही निहित हैं। आचार्य विनोबा के मतानुसार “सर्वोदय” का तात्पर्य है हर-एक दूसरे के लिए फिक्र रखें, साथ ही केवल अपनी फिक्र न रखें जिससे कि दूसरों को कष्ट हो। यही हर कुटुम्ब में भी होता है। “वसुधैव कुटुम्बकम्” का यह न्याय समाज पर लागू करना कठिन नहीं, बल्कि आसान होना चाहिए। सर्वोदय के इस तत्व में गांधीजी और विनोबा जी ने समाज में सबके सुखी होने का विचार व्यक्त किया है। दोनों इस बात को स्वीकारते हैं कि नैतिक अच्छाई हवा में नहीं रहती, बल्कि समस्त राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों में निहित होती है। उन्होंने सामाजिक व्यवस्था के सभी स्तरों पर सर्वजन हिताय की नीति का समर्थन किया। इसी विशेषता के कारण उनके विचार सर्वोदय के नाम से प्रसिद्ध हैं।

6. वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त अनुचित – सर्वोदय दर्शन मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को बिल्कुल स्वीकार नहीं करता, क्योंकि जब तक समाज में वर्ग-भेद रहेगा, तो संघर्ष होना भी स्वाभाविक है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे साधन अपनाये जायें जो सभी वर्गों के लिए हितकर हो तथा संघर्ष को समाप्त किया जा सकता है। वर्ग-संघर्ष के विरोध में बोलते हुए विनोबा ने कहा, जो वर्ग-विग्रह के अनिवार्य होने की बात करते हैं, उन्होंने अहिंसा का गूढ़ अर्थ नहीं समझा है या केवल ऊपर-ऊपर से ही समझा है।

7. साधन शुद्धि – गांधी दर्शन में साधन को साध्य से विशेष महत्ता दी गयी है। इसलिए साधन शुद्धि पर विशेष बल दिया गया। गांधी जी के अनुसार साधन की पवित्रता ही साध्य को पवित्र बनाता है, क्योंकि जैसा साधन होगा, वैसे ही साध्य की प्राप्ति भी होगी। आचार्य विनोबा का विचार है कि अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए चाहे जैसे साधन यदि मान्य समझे जाते हैं तो फिर किसका उद्देश्य ठीक है, यह कौन तय करेगा ? हर-एक को अपना उद्देश्य ठीक ही लगता है, लेकिन कितने ही अलग-अलग उद्देश्य क्यों न हो, उनकी प्राप्ति के लिए हिंसा और असत्य का उपयोग तो करना ही नहीं है, क्योंकि अन्ततः साधन ही सब कुछ है। बापू ने साधन-साध्य का सम्बन्ध बीज और वृक्ष के सम्बन्ध जैसा बतलाया, जैसा बीज होगा, वैसा ही वृक्ष होगा। अतएव साध्य के सही होने पर भी यदि साधन अनुचित हो तो वे साध्य को नष्ट कर देंगे या उसे अनुचित दिशा में मोड़ देंगे। साधन और साध्य में गहरा और अटूट सम्बन्ध है, वे एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते।

8. कर्तव्यों का पालन – सर्वोदय में जिस आदर्श समाज व्यवस्था की कल्पना की गयी है, उसकी स्थापना तभी सम्भव है, जब प्रत्येक नागरिक बिना किसी आदेश या दबाव के अपने कर्तव्यों का पालन स्वेच्छा से करेगा। गांधी जी के सर्वोदय विचार में अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों का अधिक महत्व है। कर्तव्य का पालन करने से अधिकार स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार विनोबा भी सदैव कर्तव्यों का पालन के महत्व पर ही बल देते हैं। इस सम्बन्ध में उनका विचार था कि अगर केवल अधिकारों का आग्रह रखें और कर्तव्यों को नजर-अन्दाज कर दें तो चारों तरफ हिंसा का वातावरण उपस्थित हो जायेगा और अव्यवस्था फैल जायेगी। यदि अधिकारों के आग्रह के बजाय हर-एक अपना कर्तव्य पालन करें तो मानव-जाति में जल्द ही व्यवस्था का राज्य स्थापित हो जायेगा, जिससे सर्वोदय के उद्देश्यों को पूरा होने में भी आसानी होगी।

वास्तव में उपर्युक्त प्रमुख तत्वों के आधार पर ही विनोबा ने सर्वोदय के सफल होने की कल्पना की है। गांधीजी की कल्पना के रामराज्य का आधार भी यही सर्वोदय है और इन्हीं मानवोचित सिद्धान्तों के द्वारा वे रामराज्य स्थापित करना चाहते थे। सत्य तो यह है कि सर्वोदय के सिद्धान्तों पर चलकर ही संसार एक बन सकता है। यह भी स्पष्ट है कि सर्वोदय तब तक सम्पन्न नहीं हो सकता, जब तक कि भय, लोभी, द्वेष आदि समाज-विरोधी तत्वों के आधार पर चलनेवाले राष्ट्र के स्थान पर ऐसे सहकारी समाज की स्थापना न की जाये, जिसमें कि सामाजिक इच्छा और सामाजिक सहकारिता की पूर्ति समाज सदाचारपूर्ण उपायों से बुद्धिपूर्वक करें। विनोबा और अन्य सर्वोदयी विचारकों ने अपने इच्छित सर्वोदय समाज के सम्बन्ध में विचार प्रकट किये हैं। उन्होंने उसमें उन सिद्धान्तों का भी स्पष्टीकरण किया है, जिनके आधार पर समाज का पुनर्निर्माण किया जाता है।

सर्वोदय समाज

गांधीजी के स्वर्गवास के बाद गांधी-मार्ग को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से सेवाग्राम में मार्च 1948 में देश के सभी रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं तथा गांधी-विचार प्रेमियों का एक सम्मेलन गांधी सेवा संघ की ओर से हुआ, जिसमें सरकार में सम्मिलित नेता तथा मंत्रीगण भी उपस्थित हुए। इसी सम्मेलन में गहरे मंथन के बाद “सर्वोदय” और “सर्वसेवा संघ की स्थापना हुई। इसकी सदस्यता के लिए कोई कठोर शर्त नहीं रखी गयी और न ही इसकी सदस्यता संबंधी लम्बी चौड़ी फेहरिस्त की आशा की गयी। सर्वोदय समाज की सदस्यता के बारे में विनोबा जी ने इसकी स्थापना सम्मेलन में कहा था। “सर्वोदय समाज के सदस्य विचारों और भावनाओं में एक हों। किन उसूलों को मानते हैं, यह साफ हो। उसमें जो लोग दाखिल हों, उनसे किसी तरह की अपेक्षा है, इस बात में कम-से-कम नियम हों। उन नियमों को मानने वाले जो भी हों, वे सब उसके सदस्य हैं, उनकी फेहरिस्त की भी जरूरत नहीं, क्योंकि अगर फेहरिस्त बने तो मुश्किल पैदा होती है। कोई कहे कि मैं इसमें आने के योग्य हूँ, तो उसकी योग्यता जांचने की बात आयेगी। फेहरिस्त के साथ दूसरों को जज (न्याय) करने का, उनकी जांच पड़ताल करने का खतरा पैदा होता है। यह बात फिरकाबन्दी की तरफ ले जाने वाली है, जो समझते हैं कि हम इसके सदस्य हैं, वे सदस्य हैं। वे अपनी-अपनी जगह काम करते रहें।” वैसे “सर्वोदय समाज” की सदस्यों के लिए एक सदस्यता सूची बनायी गई और इसे विनोबा ने भी स्वीकृति देते हुए कहा, प्रस्ताव में यह बात लिखी है कि “सर्वोदय-समाज के विचारों को मानने वाले अपने-अपने नाम पोस्टकार्ड द्वारा भेज दें, ताकि उनकी फेहरिस्त रखी जा सके। मैं नहीं समझा हूँ, ऐसी फेहरिस्त का हम क्या करेंगे। फिर भी मैंने अनुमति दे दी, क्योंकि मैंने देखा कि उससे हमारे भाइयों को सन्तोष होता है, लेकिन इससे यह न समझा जाये कि सर्वोदय समाज के वे ही सेवक हैं, जिन्होंने अपने नाम भेजे हैं। जिनके नाम दफ्तर में दर्ज नहीं हैं, लेकिन जो इसी काम को कर रहे हैं, वे भी इस समाज के सेवक हैं। प्रतिवर्ष जो मेला लगेगा, उसमें जिनके नाम दफ्तर में हैं, वे ही आयें, ऐसा भी नहीं है। इस विचार में श्रद्धा रखने वाले सब कोई उस मेले में आ सकते हैं। खुद को सेवक भी जो नहीं कहते, लेकिन काम यही करते हैं, वे भी सर्वोदय समाज के सेवक हैं। ऐसा व्यापक हमारा सर्वोदय समाज है। विनोबा के उक्त दोनों उक्तियों से यह स्पष्ट है कि सर्वोदय समाज की सदस्यता के लिए यानी सर्वोदय समाज का सेवक कहलाने या बनने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि सर्वोदय समाज की सदस्यता सूची में उसका नाम अंकित हो। हाँ, सर्वोदय समाज के सेवक के लिए इतना तो आवश्यक है ही कि उसका काम सर्वोदय समाज के सिद्धान्तों के अनुकूल हो। मोटे रूप में नियमानुसार सर्वोदय समाज की सदस्यता के लिए शर्त रखी गयी, जो कि व्यक्ति सत्य-अहिंसा में भरोसा रखता हो, खादी पहनता हो, छुआ-छूत, जात-पात न मानता हो, शराब न पीता हो और सारे धर्मों को समान मानता है, वह सर्वोदय समाज का सदस्य होगा।

सर्वोदय समाज के कार्य एवं उद्देश्य

सर्वोदय समाज की स्थापना संगोष्ठी में दादा धर्माधिकारी द्वारा सुझाये गये सर्वोदय समाज के निम्नलिखित कार्य निर्धारित किये गये –

1. साम्प्रदायिक एकता या अलग-अलग धर्मों को मानने वालों में मेल कायम करना।
2. अस्पृश्यता निवारण (छूआ-छूत मिटाना)
3. जाति भेद निराकरण (जात-पात तोड़ना)
4. नशाबन्दी
5. खादी और दूसरे ग्रामोद्योग का प्रसार
6. गांव की सफाई
7. नई तालीम (बुनियादी शिक्षा)
8. स्त्रियों को पुरुषों के बराबर हक दिलाना
9. आरोग्य और स्वच्छता
10. प्रान्तीय भाषाओं की तरक्की तथा प्रान्तीय संकीर्णता का निराकरण
11. हिन्दुस्तानी का राष्ट्र भाषा के तौर पर प्रचार
12. आर्थिक समानता
13. खेती की तरक्की
14. मजदूर संगठन
15. आदिम जाति सेवा
16. विद्यार्थी संगठन
17. कुष्ठ रोगियों की सेवा
18. गौ-सेवा।

“सर्वोदय समाज के इस व्यापक संस्थान का उद्देश्य है सत्य और अहिंसा के आधार पर एक ऐसे आदर्श समाज की रचना करना, जिसमें जात-पात, धर्म या ऊँच-नीच का बिल्कुल भेद-भाव न होगा, शोषण की थोड़ी-सी भी गुंजाइश नहीं होगी, सबके साथ न्याय और समता का व्यवहार होगा और जिसमें व्यक्ति और संस्थाओं के विकास के लिए पूरा-पूरा अवसर उपलब्ध रहेगा। इस समाज का नाम “सर्वोदय समाज” होगा जिसे दूसरे शब्दों में विनोबा ‘अहिंसक-समाज भी कहते हैं। गांधीवादी विचारक कहते हैं, सर्वोदय समाज शोषण रहित, शासन निरपेक्ष स्वावलम्बी सहकारी समाज होगा। सर्वोदय समाज (संस्था) का लक्ष्य बताते हुए आचार्य विनोबा कहते हैं, हमें सारा समाज ही बदलना है और वह अहिंसक क्रांति के द्वारा ही बदलना है। विनोबा की चाह थी कि सर्वोदय समाज के सेवक के मन में यह भावना होनी चाहिए कि मैं सर्व-सेवक हूँ, सारे विश्व का सेवक हूँ, मैं प्रभु का दास, प्रभु का सेवक हूँ –इसी भूमिका से सारी सेवा (व्यक्ति की गरीबों की, गांव, देश तथा विश्व की) होनी चाहिए। ऐसी निष्ठा सर्वोदय समाज की है।

सर्वोदय समाज व्यवस्था का स्वरूप

ज्ञातव्य है विनोबा जी ने सर्वोदय समाज के निर्माण के लिए शुरुआत स्वयं से करने की सलाह दी। ऐसी मान्यता अन्य गांधीवादी विचारकों की भी है। “सर्वोदय समाज” की स्थापना के दिन यानी 11-15 मार्च, 1948

के सेवाग्राम सम्मेलन में प्रख्यात गांधीवादी विचारक तथा अर्थशास्त्री जे.सी. कुमारप्पा ने अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा था, “हम यदि अपना रोज का जीवन दूसरी तरह से ढाल देंगे तो सारा नक्शा बदल जायेगा। अहिंसा की बुनियाद पर पुनः नये सिरे से संगठन करना चाहिए। हमारा दैनिक जीवन यानी हमारा खाना-पीना, कपड़ा और मकान आदि तमाम बातों का सुयोग उस धरातल पर से होना चाहिए।” कुमारप्पा ने तो यह भी कहा, “सरकारी सेना में हम जिस हिंसा की परछाई देखते हैं, वह हिंसा हम ही पैदा करते हैं। हमारी रोजमर्रा की जिन्दगी में जो हिंसा पैदा होती है, उसी की परछाई हम अपनी सेनाओं में देखते हैं। यूरोपियन युद्ध, अमेरिकी युद्ध, सरकारी फौजें, पाकिस्तान का आविर्भाव—ये सब आखिर हमारी रोजमर्रा की जिन्दगी के नतीजे हैं। सचमुच अगर हमारा व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन अहिंसक होगा, प्रेममय होगा, द्वेष रहित होगा तो दुनिया में युद्ध हो नहीं सकते, हिंसा हो नहीं सकती। इसलिए हमें यह गम्भीरता से विचार करना चाहिए कि हमारी जीवन जीने की पद्धति कैसी हो ? जिससे हमारा व्यक्तिगत जीवन तो प्रेममय हो ही, साथ ही सामाजिक जीवन भी प्रेमपूर्ण हो, आनन्दमय हो। प्रेममय सामाजिक जीवन स्वभावतः सर्वोदय समाज की स्थापना कर देगा। जे.सी. कुमारप्पा के विचारों का समर्थन करते हुए शंकर राव देव जी ने भी कहा था, अगर सरकार में कोई दोष है तो वह जैसा कि कुमारप्पा ने कहा—हमारी कमजोरी का प्रतिबिम्ब है। जब तक हम अपने जीवन का नक्शा नहीं बदलते, तब तक सरकार से पुलिस और फौज हटाने को नहीं कह सकते। हिंसा और अहिंसा कोई भावनात्मक चीज नहीं है। वे तो सामाजिक रचना के परिणाम हैं। अहिंसक समाज में व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध ही ऐसे होंगे कि पुलिस और फौज की कोई जरूरत नहीं होगी। शंकरराव देव जी ने कहा, गांधी जी ने तो व्यक्तियों का जीवन अहिंसक बनाकर उसका व्यावहारिक नमूना हमारे सामने रख दिया.....जीवन में हिंसा पैदा इसलिए होती है कि हम असंयमी और भोगी हैं। सचमुच यदि हम दूसरों के हक पर जीवन व्यतीत करने की आदत छोड़ दे तो हिंसा स्वतः खत्म हो जायेगी।

सर्वोदय समाज को व्यावहारिक बतलाते हुए तथा उसकी स्थापना के सम्बन्ध में काका कालेलकर विचार व्यक्त करते हैं, आगे जो समाज होगा, उसकी रचना नये तरीके से करनी होगी, जिसमें भेद-भाव को महत्व नहीं दिया जायेगा, जाति-भेद तोड़ना ही होगा। लोगों में सामाजिकता, राष्ट्रीयता, औद्योगिकता और सर्वोदय वृत्ति का पोषण पूरे वेग से करना होगा। प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा का प्रचार गांवों में इतनी मात्रा में होना चाहिए कि उच्च शिक्षा के लिए भी गांव वालों को शहरों की ओर न दौड़ना पड़े। उत्तम रास्ते, उत्तम स्वच्छता, आरोग्य के लिए सब तरह की शिक्षा, चिकित्सा व सहायता गांवों को मिलेगी। शहरों के दोष एवं दुर्गुण गांवों में न फैले, ऐसे व्यवस्था की जायेगी। इसके लिए दुर्गुणों से शहरों को ही मुक्त करना होगा। गांव का विकास इस तरह होगा कि शहर और गांव का भेद ही न रहेगा। नेता लोग सारे देश में सेवा भाव से घूमते रहेंगे। ग्रामोद्योग का आधुनिक ढंग से विकास होगा और सच्चे स्वराज्य का आध्यात्मिक वायुमण्डल सर्वोदय के द्वारा समस्त प्रजा में फैल जायेगा। तब ग्राम-युग की स्थापना होगी। इसके लिए आज के बड़े-बड़े शहरों को यथा समय आत्मबलिदान करना होगा और तब अहिंसक समाज की स्थापना सारी दुनिया में होगी। इसमें यंत्रोद्योगों का विरोध नहीं, नाश नहीं, परन्तु नियंत्रण करना होगा, ताकि यंत्र ही मनुष्य जीवन पर सवार न हो जाए। ऐसा समाज ही सर्वोदय-समाज होगा, जो गांधी जी का सपना था।

मार्क्सवाद एवं सर्वोदय

मार्क्सवाद का अध्ययन सर्वोदय के संदर्भ में करना समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि मार्क्सवाद एवं सर्वोदय

विचार एवं कार्य दोनों ही वह क्रान्ति है जिनका जन्म समाज में वर्तमान असमानता तथा उत्पीड़न की प्रतिक्रिया स्वरूप ही हुआ। दोनों ही उस गहन मानवता के साक्षेप रूप हैं जो लोगों को अपने सहयोगियों के कष्टों को दूर करने की प्रेरणा देते हैं। यह भी सत्य है कि मार्क्सवाद और सर्वोदय दोनों ही एक दूसरे के सामानान्तर दौड़ रहे हैं और उनका मिलन कभी संभव नहीं है। मार्क्सवाद मानव मस्तिष्क का सबसे शक्तिशाली प्रयास है जिसके द्वारा संसार के विभिन्न वर्ग को कम किया जा सकता है। अर्थात् यह दरिद्रता एवं असमानता को दूर करने का प्रयत्न है जो असमानतावाद और औद्योगीकरण की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ है। सर्वोदय का उद्देश्य भी यही है, परन्तु वह इसे बिना हिंसा के या सामाजिक ढाँचे में तोड़ फोड़ लाये पूरा करना चाहता है। सामन्तवाद की इतनी शक्ति नहीं कि वह सर्वोदय के तेज को धूमिल कर सके। अतः हमें यह विश्वास कर लेना चाहिये कि सर्वोदय मार्क्सवाद की विरोधी शक्ति नहीं है।

वर्ग संघर्ष का मार्क्सवाद का यह संसारव्यापी आह्वान ही इसे सर्वोदय के सम्मुख ला खड़ा करता है। विनोबा के शब्दों में “ गांधीवाद और सामाजवाद दोनों ही पद दलितों के कल्याण की बातें ममता से परिपूर्ण होकर करते हैं।” यही एकमात्र संबंधित तथ्य है जो साम्यवाद को सर्वोदय के अध्ययन से संयुक्त करता है। डा. राधाकृष्ण ने साम्यवाद को सभी बड़े मानव धर्मों में से एक माना है वस्तुतः मार्क्सवादी दर्शन का केन्द्र बिन्दु मानव व्यक्तित्व ही है। यह मनुष्य के पद के मर्यादा की वृद्धि करता है। क्रान्ति का संपूर्ण मार्क्सवादी सिद्धान्त सामाजिक संबंधों में परिवर्तन के लिये मनुष्य की मर्यादा को और भी अधिक सम्मानित करने का प्रयास है साम्यवाद मनुष्य के अस्तित्व की रक्षा के लिये सामान्य जीवन दायक स्थितियों तथा परिवेश की स्थापना करना चाहता है। ऐसा परिवेश जिसमें उसका निजि प्रस्फुटन हो सके। यही सभी धर्मों का और साथ ही सर्वोदय का भी मूल मंत्र है। साम्यवाद तथा सर्वोदय में अंतर केवल कार्य पद्धति का ही है मार्क्स और गांधी दोनों का उद्देश्य एक ही है पर उनके विचार एवं योजनाओं के केन्द्र भिन्न हैं। गांधीवाद के आदर्शवाद में अध्यात्मवाद का पुष्ट है। उनका आदर्श नैतिकता के उच्चतम स्तर की कामना करता है। आत्मत्याग समाज सेवा की भावना, उनका सहयोगी चरण है। दूसरी ओर मार्क्सवाद सामाजिक उद्विकास के लिए वैज्ञानिक शब्दावली से समेकित है। यह अन्याय और शोषण के प्रति घृणा के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है और उच्चतम स्तर पर एक ऐसे समाज का दिग्दर्शन करता है जो पूर्ण रूप में बौद्धिक स्तर पर सुनियोजित है और जन समूह के लिये भौतिक और बौद्धिक कल्याण अधिक से अधिक प्रदान करता है। अतः मार्क्सवाद गम्भीरता के साथ कट्टर, नैतिक, अति उल्लास के स्तर तक सभी आदर्शवादिता, शक्ति परिचालन जो कुछ भी नैतिक उत्साह के अन्तर्गत संभव है इन सभी के साथ आगे बढ़ता है। मार्क्सवाद और गांधीवाद में मुख्यतः यही प्रतीत होता है कि जहां गांधीवाद अपने अनुयायियों के प्रति घृणा या निदर्यता का निषेध करता है। वही मार्क्सवाद विरोधियों के प्रति किसी तरह के समन्वय का समर्थन नहीं करता। किन्तु यदि विश्लेषणात्मक दृष्टि के आधार पर देखे तो ज्ञात होता है कि मार्क्सवाद और गांधीवाद दोनों में यदि कोई अंतर है तो मुख्यतः कार्य पद्धति का। साध्यों के संदर्भ में दोनों चिंतन का मत एक ही है। और वो है सर्वोदय समाज की स्थापना जो अपने समाज के सदस्यों के हित को सुनिश्चित कर सके। मार्क्सवाद व सर्वोदय के मध्य स्पष्ट भेद रेखा करने हेतु यह आवश्यक प्रतीत होता है कि मार्क्स और गांधी दोनों के संदर्भ में सामान्य व तुलनात्मक दृष्टि से भी अध्ययन किया जाए।

क्रांति के संदर्भ में मार्क्स का ये मानना था कि वर्ग—संघर्ष के माध्यम से वर्ग विहीन या राज्य विहीन समाज की स्थापना क्रान्ति का उद्देश्य होना चाहिये किन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति करने के अन्तराल में जिन प्रक्रियाओं का मार्क्स समर्थन करते थे सामान्यतः गांधी ने उन प्रक्रियाओं को स्वीकार नहीं किया। साधन और

साध्य के संदर्भ में भी गांधी और मार्क्स दोनों के मध्य मतभेद रहा है। जहां मार्क्स ने समग्रता से होने वाले परिवर्तन को प्राप्त करने के लिये सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को स्वीकार किया वहीं गांधी ने इस प्रकार के संक्रमण काल को अपेक्षित नहीं माना। चूंकि गांधी का जीवन आध्यात्मिकता से आप्लावित था इसलिये उनकी क्रान्ति की पृष्ठभूमि भी आध्यात्मिक रही तथा उनका क्रान्ति दर्शन मूल्यों पर आधारित था। जहां उन्होंने वैयक्तिक व सामाजिक मूल्य परिवर्तन को क्रान्ति की संज्ञा दी वहीं मार्क्स ने सामाजिक मूल्य परिवर्तन का नाम भी क्रान्ति माना।

मार्क्स का समाजदर्शन मूलतः दो आधारों पर खड़ा है। 1 वर्ग संघर्ष 2 आर्थिक सिद्धान्त। मार्क्स का यह विश्वास है कि समाज की स्थापना व विकास वर्ग संघर्ष द्वारा ही होता है। 1848 में '**Communist Manifesto**' में मार्क्स ने लिखा है कि वर्ग संघर्ष अब तक के समस्त समाजों का मूल मंत्र है। वर्ग संघर्ष को समाज का प्रमुख कारण बताते हुए मार्क्स इस निष्कर्ष तक पहुंचते हैं कि वैयक्तिक चेतना अपना अस्तित्व स्वयं निर्धारित नहीं करती अपितु सामाजिक या सामूहिक चेतना से ही उसका अस्तित्व निर्धारित होता है। गांधी का समाज सिद्धान्त समन्वयवादी है और गांधी व्यक्ति व समाज में दैवीय स्वरूप को देखते हुए तो एक ओर आदर्श समाज की रचना के लिये नियमों की स्थापना करते हैं साथ ही साथ मानव जीवन की तात्कालिक आवश्यकताओं की ओर ध्यान देते हैं। व्यक्तिगत मूल्यों को जहां गांधी जी ने अहिंसक समाज रचना के लिये आवश्यक माना वहीं मार्क्स ने समष्टिगत मूल्यों को ही उपयुक्त माना। वर्ग विहीन समाज तथा सर्वोदय समाज के आधारभूत तत्वों में मुख्यतः यही भेद दिखाई प्रतीत होता है।

मार्क्स के अनुसार यह विश्वास भ्रामक है कि शाश्वत सत्य न्याय, प्रेम, मानवता, आदि अमूर्त धारणाएं सामाजिक या राजनीतिक परिवर्तन करती हैं। वास्तविकता केवल यह है कि उत्पादन की शक्तियां उत्पादन के संबंधों को स्वरूप प्रदान करती हैं और उत्पादन के संबंधों के आधार पर सामाजिक संस्थाओं का ढांचा खड़ा होता है। सामाजिक संगठनों का एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तन उत्पादन के साधनों के आधार पर होता है। आधुनिक समाज व्यवस्था भी आर्थिक कारणों से प्रभावित है। गांधी जी समाज को पदार्थ जैसी वस्तु स्वीकार नहीं करते क्योंकि समाज की मूल इकाई व्यक्ति है। वास्तव में समाज दर्शन मानव व समाज के सिद्धान्तों के ईद-गिर्द परिक्रमा करता है। इसलिये सामाजिक सिद्धान्तों का शुभारंभ मानव विचार से किया जा सकता है। इस हेतु उन्होंने अहिंसक समाज रचना के अनगिनत सूत्र प्रस्तुत किये जो न केवल आर्थिक पक्षों से संबंधित थे अपितु मनुष्य व समाज के अन्य पक्ष भी उससे संबंधित थे जिससे वास्तविक अहिंसक समाज की संरचना सुनिश्चित की जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर समाज या समाजशास्त्र के संदर्भ में गांधी और मार्क्स आधुनिक काल के इन दो विशिष्ट व्यक्तियों के चिंतन से यह ज्ञात किया जा सकता है कि सामान्यतः प्रथम दृष्टया दोनों का लक्ष्य प्रायः समान प्रतीत होता है। गांधीवाद का विश्लेषण जहां उनके प्रगतितात्मक अहिंसा के आधार पर ऐसी सामान्य संकल्पना को प्रस्तुत करता है जो विषमता शोषण आदि तत्वों से मुक्त हो। वहीं मार्क्स के संदर्भ में प्रस्तुत अध्ययन एक ऐसे परिपक्व मार्क्स की प्रस्तुती करता है जिसका लक्ष्य भी ऐसे ही समाज की स्थापना को सुनिश्चित करना था। यदि गांधी की दृष्टि हमें आत्मपरक के साथ-साथ वस्तुपरक भी दिखाई देती है वहीं मार्क्स का चिंतन प्रायः वस्तुपरक ही दिखाई देता है। जहां मार्क्स ने सर्वहारा नामक वर्ग के शोषण मुक्ति की संकल्पना के साथ-साथ उनका सामाजिक उन्नयन संभव माना वहीं गांधी ने दरिद्रनारायण संबंधी संकल्पना प्रस्तुत कर उनके सामाजिक व आत्मिक उन्नयन को संभव माना। किन्तु मूलतः दोनों की दृष्टि एक ऐसे समाज को इंगित

करती थी जिसे राज्य विहीन, शासक विहीन या अहिंसक समाज, रामराज्य, ग्राम स्वराज्य, सर्वोदयी समाज की संज्ञा दे सकते हैं। अतः गांधी और मार्क्स यदि एक और भिन्न-भिन्न चित्र प्रस्तुत करते हैं वही दूसरी ओर वे प्रायः एक ही सिक्के के दो पहलू प्रतीत होते हैं।

पंचशील

वर्तमान युग अन्तर्राष्ट्रीयता का युग है। वैश्वीकरण के इस युग के साथ कई प्रकार की समस्याएं समाहित रही हैं। विभिन्न प्रकार की समस्याएं सामाजिक, राष्ट्रीय व अन्तराष्ट्रीय परिवेश में तथा अन्ततः मानव मात्र के विकास में बाधक बनता है। अतः समाधान के प्रयास निरंतर चलते रहने चाहिये। सामाजिक या राष्ट्रीय तनाव अथवा पड़ोसी राज्यों से तनाव आदि सृजन की चेतना को आहत करती है। अतः सैनिक व असैनिक समाधानों के द्वारा उन्मूलन का प्रयास किया जाता रहा है। इसी प्रकार के असैनिक प्रयासों के अर्न्तगत पंचशील के सिद्धान्त का नाम लिया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय शांति स्थापना में पंचशील सिद्धान्तों का प्रयोग भारत और चीन के संदर्भों में सर्वप्रथम जवाहर लाल नेहरू ने किया। किन्तु विश्लेषण के आधार पर ज्ञात होता है कि पंचशील सिद्धान्त अन्तराष्ट्रीय राजनीति को नेहरू की कोई मौलिक देन नहीं है। आचरण के इन सिद्धान्तों का सर्वप्रथम प्रतिपादन महात्मा बुद्ध ने किया। बौद्ध धर्म में यह अवधारणा सुप्रसिद्ध है और उसका उद्देश्य प्रकट है कि वह मनुष्यों को दुखों से बचाने के लिये संसार में पवित्र जीवन व्यतीत करने के लिये पूर्ण पाप रहित अवस्था में रहने के लिये उदीप्त करता है। महात्मा बुद्ध ने निम्नलिखित आचरण संबंधी सिद्धान्त प्रतिपादित किये।

1 अहिंसा 2 सत्य 3 अस्तेय 4 ब्रह्मचर्य 5 मद्य निषेध

पंचशील सिद्धान्त का राजनीतिक संदर्भों में शाब्दिक अर्थ है अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शांति बनाये रखना एक दूसरे के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना। परस्पर समानता तथा लाभ की स्थिति बनाये रखना एवं शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की भावना का विकास करना। यद्यपि पंचशील मूलतः मनुष्य द्वारा व्यवहार में अपनाने योग्य पांच नैतिक नियमों की ओर संकेत करता है तथापि विश्व राजनीति के संदर्भ में पंचशील के सिद्धान्त को एक ऐसी आचार संहिता के रूप में प्रस्तुत किया है जिसे व्यवहार में अपनाकर राष्ट्र अपनी स्वतंत्र एवं अखण्डता की रक्षा के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय शांति में अपना योगदान दे सके। पंचशील का सिद्धान्त इस रूप में गुटनिरपेक्षता की नीति का अनुपूरक है। अन्तराष्ट्रीय राजनीति में शक्ति आधारित राजनीति के विकल्प के रूप में नैतिक बल एवं आचार संहिता को प्रस्तुत करता है। यह सिद्धान्त अपनी प्रकृति से पूर्णतः नैतिक व आदर्शवादी सिद्धान्त है और इस सफलता के लिये आत्मनियंत्रण की अपेक्षा अधिक रहती है। जैसा कि पूर्व में उल्लेख हुआ है कि पंचशील सिद्धान्त का उद्देश्य देश में तथा सम्पूर्ण विश्व में शांति का वातावरण बनाये रखना, एक दूसरे का परस्पर सहयोग करना, एक दूसरे के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना, दूसरे देश पर आक्रमण न करना तथा शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की भावना अपनाना। एक शांतिवादी देश होने के कारण भारत हमेशा से ही विश्व शांति का समर्थक रहा है तथा इसका निरंतर प्रयास भी यही रहा है कि वह और उसके पड़ोसी राज्य सम्पूर्ण विश्व शांति की अनुपालना करे तथा परस्पर मैत्री पूर्ण संबंध बनाये रखे ताकि किसी भी राष्ट्र को संकट का सामना न करना पड़े।

नेहरू के पंचशील सिद्धान्त ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता का मार्ग प्रशस्त किया। इस सिद्धान्त की मूल

धारणा यह रही कि राष्ट्र एक दूसरे अधिकारों को समझने का प्रयत्न करे व एक दूसरे अधिकारों का शांतिपूर्वक और सच्चाई के साथ मूल्यांकन करे। पंचशील सिद्धान्त भारतीय विदेश नीति का आधार स्तंभ है। भारतीय विदेश नीति में पंचशील की नीति इसके नैतिक एवं शांति स्थापना के मूल्यों के द्योतक है। पंचशील के बाद नेहरू एशिया में शांति क्षेत्र को बढ़ाना चाहते ताकि विश्व शांति में सहायक हो सके। सभवतः यही कारण था कि इस सिद्धान्त को 14 दिसम्बर 1959 के UNO के महासभा में 82 देशों द्वारा भारत की पहल पर स्वीकृत किया गया। अन्तराष्ट्रीय राजनीति में नेहरू ने पड़ोसी देश चीन के साथ संधि कर संबंधों के प्रगाढ़ बनाने की दिशा में प्रयास प्रारंभ किये। चीन के प्रधानमंत्री चाउ न लाई जब भारत की यात्रा पर आए तो नेहरू के साथ हुई संधि वार्ता के उपरान्त जिन नियमों को पंचशील के नाम से स्वीकार किया गया वे इस प्रकार है।

1. एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता तथा प्रभुसत्ता का आदर करेंगे।
 2. परस्पर युद्ध नहीं करेंगे।
 3. एक दूसरे को आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे।
 4. समानता तथा परस्पर लाभ
 5. शांतिपूर्ण सहअस्तित्व
1. यदि कोई राष्ट्र किसी भी राष्ट्र की अखण्डता व स्वतंत्रता का सम्मान करे तथा उसे पूर्ण रूप से स्वीकार करेगा व उसका आदर करेगा तो उस स्थिति में सम्पूर्ण विश्व के लिये ये उपक्रम शांति बनाये रखने में सहायक होगा। भारत व चीन के संदर्भ में इसके अर्न्तगत प्रादेशिक अखण्डता, प्रभुसत्ता, शासन पद्धति आदि का सम्मान करने का प्रावधान रखा गया है।
 2. पंचशील के दूसरे सिद्धान्त परस्पर युद्ध न करने के संदर्भ में संबंधित दोनों देशों का मानना था कि विश्व में शांति तभी स्थापित होगी जब कोई राष्ट्र परस्पर युद्ध नहीं करेंगे। यदि युद्ध की संभावना हो भी जाये तो आपसी मेल मिलाप , संधि वार्ता या सहयोग से ही उसे मिटाने का प्रयास करेंगे। यदि सम्पूर्ण विश्व में मैत्री सहयोग की नीति को आजमाकर शांति स्थापना करना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि राष्ट्र परस्पर एक दूसरे से युद्ध न करे तथा मैत्रीपूर्ण संबंध बनाये रखे।
 3. पंचशील सिद्धान्तों के अर्न्तगत एक सिद्धान्त ये भी था कि कोई राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा। कोई राष्ट्र यदि अन्य राष्ट्र के साथ मधुर संबंध बनाने का प्रयास कर रहे हो तो किसी भी राष्ट्र के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने से संबंध बिगड़ सकते हैं। इस सिद्धान्त को गुट निरपेक्ष की नीति में भी स्वीकार किया गया है।
 4. पंचशील का अगला सिद्धान्त समानता तथा परस्पर लाभ का सिद्धान्त था जिसमें नेहरू ने यह प्रस्तावित किया था कि सभी राष्ट्र एक दूसरे के साथ समानता का व्यवहार करे तथा राष्ट्र एक दूसरे के पारस्परिक हित में सहयोग प्रदान करे। विश्व के शांति के लक्ष्य को यदि प्राप्त करना है तो समस्त राष्ट्र को समानता तथा सहयोग पूर्ण व्यवहार करना चाहिये।
 5. शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का सिद्धान्त दोनों राष्ट्रों ने इस आधार पर प्रस्तावित किया था कि सभी राष्ट्र शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्त में विश्वास करे तथा इसी सिद्धान्त के आधार पर एक दूसरे के साथ शांतिपूर्वक रहे एवं अपनी पृथक सत्ता व स्वतंत्रता बनाये रखे। भारत द्वारा अपनाया गया यह सिद्धान्त UNO के अर्न्तगत राज्यों के आपसी संबंधों को निर्धारित करने वाला प्रमुख नियम है। इस सिद्धान्त के

अन्तर्गत यह चिंतन निश्चित हुआ है कि छोटा या बड़ा हर प्रकार का राष्ट्र अपने शांतिपूर्ण तरीकों से संबंध बनाने हेतु विश्व शांति का प्रयास करना अपेक्षित माना गया।

पंचशील सिद्धान्त एक नैतिक व आदर्शवादी सिद्धान्त है। जिसे अपनाकर विश्व में शांति स्थापित हो सकती है। पंचशील का आज भी उतना महत्व है जितना कि उसे स्थापित करते समय था। भारतीय राजनीति ने प्रायः इस नीति का अनुसरण ही किया है तथा भविष्य में भी यही नीति भारतीय राजनीति की दिशा रहेगी ऐसी संभावना व्यक्त की जा सकती है। यह नीति जीओ और जीने दो की भावना पर आधारित है जो पूरे विश्व को शांति का संदेश देता है। यदि इन सिद्धान्तों को हर देश व्यवहार में लाये कभी भी ऐसी कोई समस्या नहीं होगी जैसी समस्याओं से वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय जगह पीड़ित है। इस प्रकार पंचशील सिद्धान्त संपूर्ण विश्व में शांति का प्रचारक सिद्धान्त है।

सम्पूर्ण क्रांति

व्यक्ति स्वातंत्र्य की भावना मानव-मन की एक मूल वृत्ति है। भारत के सन्दर्भ में पुनरुत्थान के आन्दोलन से लेकर लोकमान्य तिलक तक स्वतंत्रता की भावना जन-मानस में बैठ चुकी थी, यह महात्मा गांधी की मौलिक देन नहीं थी। उनका मूल उद्देश्य सत्य और अहिंसा पर आधारित सर्वोदय समाज की क्रांतिकारी कल्पना को जन आकांक्षा बनाना और सत्याग्रह के प्रयोगों की सिद्धि थी, किन्तु जनता को तो उनसे आजादी की अपेक्षा थी। प्रतिनिधित्व करने वाले जन-संगठन कांग्रेस के अधिकांश कार्यकर्ता भी बापू की इस क्रांतिकारी कल्पना से अछूते रहे। बापू को इसी जनता और इन्हीं कार्यकर्ताओं तथा इसी संगठन से काम लेना था। उन्हें आशा थी कि स्वतंत्रता के बाद उसके ये तथाकथित अनुयायी उनकी समूची परिकल्पना को अपना लेंगे, किन्तु सत्ता पर आने के बाद सत्ताधारियों ने उनकी और उनके सपनों की नितांत उपेक्षा की और समाज लगभग उन्हीं ढांचों, मूल्यों एवं पद्धति में फंसा रह गया, जो कि आजादी के पूर्व थी। यहां तक कि बापू के भागीरथ प्रयत्न में सामाजिक जीवन के अनेक क्षेत्रों में परिवर्तन की जो धाराएं फूट पड़ी थी, वे भी कुण्ठित हो गयीं। कांग्रेस कार्यकर्ताओं और जन-सामान्य ने आजादी प्राप्त कर लेने से भले ही ऐसा महसूस किया हो कि बापू और हम अपने उद्देश्य प्राप्ति में सफल हो गये लेकिन बापू ने स्वतंत्रता प्राप्ति को भी अपने आन्दोलन की पूर्णाहुति नहीं माना, बल्कि उन्होंने तो कहा, हमारा काम पूर्ण नहीं हुआ है, हमारा असली काम तो स्वतन्त्रता के बाद शुरू हुआ है। अपने काम की पूर्णता के लिए ही उन्होंने कांग्रेस को लोक सेवक संघ के रूप में भारत के लाखों गांवों में बिखर जाने को कहा। परन्तु गांधी जी के इस विचार की अवहेलना की गयी, जिसका परिणाम सामने है। जनशक्ति दिनो-दिन कुंठित होती गयी। लोकतंत्र तो चलता रहा, परन्तु लोक लुप्त हो गया और तंत्र अपना दानवाकार रूप धारण कर जनता के सारे अधिकारों, इच्छा और आकांक्षाओं को लीलता चला गया। लोकनायक जयप्रकाश को तंत्र के इस दानवी कुकृत्य ने कुछ सोचने के लिए विवश कर दिया, फलतः सम्पूर्ण क्रांति का विचार सामने आया।

जयप्रकाश जी ने देखा हमें आजादी तो मिल गयी, लेकिन सामाजिक एवं राजनीतिक ढांचा तो पूर्ववत् बना रहा गया, जनता अब भी विदेशी शोषकों के बजाय देशी शोषकों के द्वारा शोषित हो रही है। कानूनन जमीन्दारी प्रथा उठा दी गई है, भूमि सुधार के कानून भी पारित किये जा चुके हैं, अस्पृश्यता पर कानूनी रोक लग गयी है, साथ ही कुछ कानून व्यवहार में भी लाये गये हैं, परन्तु देश के अधिकांश भागों में गांव पर अब भी ऊँची जातियों का, बड़े और मंझोले भूमिपतियों का कब्जा है। भूमिपति भूमिहीनों का शोषण करते हैं। भारत

के विकास के नाम पर मात्र 20 प्रतिशत लोग सुखी-सम्पन्न हुए हैं और वे ही 20 प्रतिशत लोग सारे विकास योजनाओं को अपनी झोली में समेटते जा रही हैं। ऐसे सम्पन्न लोगों द्वारा निर्मित की गयी व्यवस्था ऐसे ही तत्वों के पक्ष में होगी। ऐसे सम्पन्न लोगों द्वारा निर्मित की गयी व्यवस्था का दर्शन यह है कि सम्पन्न लोगों के पास जितनी अधिक सुविधाएं प्राप्त हैं, उससे और अधिक सुविधाएं उन्हें प्राप्त हो और वे और भी ऊँचा उठ सकें। सारी राजनीतिक, सारी शिक्षा, सारे विशेषाधिकार इसी छोटे शीर्षस्थ तबके (20 प्रतिशत समृद्धशाली लोगों) तक सीमित हैं।

जयप्रकाश जी ने यह भी देखा कि पंचवर्षीय योजनाओं में अरबों रुपये खर्च करने के बाद भी भारत की गरीबी और बरोजगारी बढ़ती जा रही है, इसलिए अब प्रचलित अर्थनीति को छोड़कर गांधी जी की अर्थनीति का अवलम्बन करना होगा। इसके साथ ही विभिन्न प्रकार की सामाजिक बुराइयों ने भी भारतीय समाज को अस्त-व्यस्त कर रखा था। जे.पी. तिलक, दहेज प्रथा तथा जात-पात को समाज को कोढ़ मानने थे। गरीब लड़कियों के मां-बाप की स्थिति, हरिजन तथा आदिवासियों की दयनीय स्थिति देखकर उनका हृदय रो पड़ता।। ऐसी भयानक परिस्थिति में जयप्रकाश जी का विचार था कि साधन सम्पन्न तथा विलासित प्रिय लोगों को अपनी आवश्यकताएं घटानी चाहिए, जिन्दगी को विलासमय बनने-बनाने से रोकना चाहिए। जे.पी. इस विचार के विपरीत थे समृद्धशाली तथा सत्ताधारी वर्ग अपनी विलासमय जिन्दगी को और ही विलासितपूर्ण बनाता रहा। विकास और प्रगति वाली पश्चिम की पुरानी कल्पनाओं पर मोहित होता चला गया। यही कारण है कि हमारी योजना तथा विकास के सारे कार्यक्रम समस्याओं को सुलझाने के बजाय उसे उलझाते जा रहे हैं, पेचिदा बनाते जा रहे हैं। सादगी तथा भौतिक आवश्यकताओं पर स्वैच्छिक नियंत्रण गांधी जी के जीवन-दर्शन का मुख्य सन्देश रहा है, परन्तु इस देश के राजनीतिक व बौद्धिक वर्ग ने इस आदर्श को अभी तक स्वीकार नहीं किया है। इसका मूल्य अभी भी उसके मन में स्थापित नहीं हुआ है। गांधी जी का एक मार्मिक कथन है कि मनुष्य की जरूरतों को पूरा कर सकने की भरपूर साधन सामग्री इस दुनिया में है, परन्तु उसकी लोभ-लालसा को सन्तुष्ट करने की नहीं है। कथन के मर्म को समझना और देश की योजना तथा विकास में उसे केन्द्रिय स्थान देना अभी बाकी है।

लोकनायक जयप्रकाश के विचार में आजादी के बाद जिस लोकतांत्रिक पद्धति को अपनाया गया, सचमुच वह पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सका। देश की राजनीति तो दूषित हो ही गयी, आर्थिक स्थिति भी शोचनीय हुई है। फिर वैवाहिक परम्पराओं में तिलक-दहेज जैसी कुप्रथा अपनी जड़ें और गहरे जमा चुकी है। इस बुराई को कानून से दूर करने की कोशिशें भी की गयी, परन्तु कानून निष्प्राण ही सिद्ध हुआ है। शिक्षा व्यवस्था भी बुनियादी रूप से वहीं रह गयी है, जो अंग्रेजी शासन में थी। ऐसी बात नहीं कि शिक्षा-व्यवस्था में सुधार के लिए किसी तरह का विचार-विमर्श नहीं हुआ, आयोगों और गोष्ठियों का आयोजन नहीं हुआ। यह सब कुछ हुआ, सैकड़ों गोष्ठियों आयोजित की गईं, कई अयोग नियुक्त किये गये फिर भी शिक्षा न तो भारतवासियों के चरित्र के निर्माण में सफल हो सकी, और न ही इसके पेट भरने में सहायक हो सकी।

जयप्रकाश जी ने सन् 1954 से 1974 तक लगभग बीस सालों तक सर्वोदय आन्दोलन में अपना निष्ठापूर्वक योगदान दिया। अनेकों युवा कार्यकर्ताओं ने जे.पी. के साथ सर्वोदय कार्य में हिस्सा लिया। सोखेदेवरा में जे.पी. आश्रमीय जीवन व्यतीत करने लगे। समय-समय पर वे मुसहरी जैसे प्रखण्डों में हिंसाचार करने वाले नक्सलवादियों के आमने-सामने खड़े हुए। परन्तु धीरे-धीरे विनोबा के विचारों से जयप्रकाश जी के मतभेद होने शुरू हो गये। शुरू-शुरू में जब जमींदारों के अत्याचारों के खिलाफ सत्याग्रह करने की युवा कार्यकर्ताओं ने

विनोबा जी से अनुमति मांगी, तब वैसी अनुमति नहीं मिली। कई जगहों पर जमींदारों के द्वारा किसानों की अपनी जमीन पर से बेदखली हुई तो सर्वोदय में काम करने वाले युवा कार्यकर्ताओं का खून गर्म हुआ। अन्याय को देखकर संतप्त होने वाले इन युवकों को क्या मार्गदर्शन किया जायें, इस पर जयप्रकाश जी गंभीरतापूर्वक विचार करने लगे।

गुजरात और बिहार में विद्यार्थियों ने भ्रष्टाचार के विरुद्ध आन्दोलन शुरू किया। शासनकर्ताओं द्वारा छात्र-आन्दोलन के विरुद्ध दमन चक्र चलने लगा। संविधान में दिये नागरिकों के मौलिक स्वतंत्रता के अधिकारों पर अतिक्रमण होने लगा। छात्रों की प्रार्थना पर जयप्रकाश जी ने उनके आन्दोलन का नेतृत्व संशर्त स्वीकार किया। शर्त यही थी कि आन्दोलन शान्तिमय और अहिंसात्मक तरीके से चलना चाहिए। हमला चाहे जैसा होगा, हाथ हमारा नहीं उठेगा ऐसी घोषणा छात्रों ने की। सन् 1974 में इसी छात्र आन्दोलन के क्रम में जे.पी. ने पटना के गांधी मैदान में सम्पूर्ण क्रांति की घोषणा की। देश भर में इमरजेन्सी लागू की गई। हजारों लाखों कार्यकर्ता अपने लोकतांत्रिक अधिकारों की रक्षा के लिए सत्याग्रह करके जेल गये। यह सम्पूर्ण क्रांति लोकशक्ति जगाने का प्रयोग था, युवाशक्ति को राष्ट्र के नवनिर्माण में लगाने का प्रयोग था, सर्वोदय आन्दोलन को आगे बढ़ाने का प्रयोग था, लोकतंत्र की नींव को मजबूत बनाने का प्रयोग था। भ्रष्टाचार के खिलाफ भी आवाज उठी। जयप्रकाश जी ने देखा कि देश में भारी अशान्ति है, लोग बेहद परेशान हैं, इस अर्थ में देश में एक क्रांतिकारी परिस्थिति का निर्माण हो रहा है। बिहार के आन्दोलन ने उन्हें अपने चिंतन का प्रायोगिक रूप देने का मौका दिया। स्वयं जे.पी. ने कहा, “छात्र आन्दोलन ने मुझे यह अवसर दिया कि मैं जिसे क्रांति के लिए परिपक्व स्थिति मानता था। उस परिस्थिति को मैं किसी वृहद् उद्देश्य के लिए एक शान्तिपूर्ण जन आन्दोलन में परिवर्तित कर सकूँ।” इस तरह जे.पी. ने उस आन्दोलन के साथ सम्पूर्ण क्रांति का एक बहुत दूर का सपना जोड़ दिया। वे छात्रों एवं जनता को लगातार समझाते रहे कि यह संघर्ष केवल सीमित उद्देश्यों के लिए नहीं रहा है। इसके उद्देश्य तो बहुत दूरगामी हैं। इसमें पूरे जीवन को बदलने की बात है, एक नये समाज की रचना करने की बात है, व्यक्ति और समाज के हर एक पहलू को बदलने की बात है। इस आन्दोलन ने हमें सुनहरा अवसर दिया है कि हम जन-जीवन में इस आन्दोलन को फैलाकर देश का नैतिक वातावरण ऊँचा ला सकें और एक नैतिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक क्रांति हो।

लोकनायक जयप्रकाश यह भी कहते रहे कि भारतीय लोकतंत्र को रियल याने वास्तविक तथा सुदृढ़ बनाना, जनता का सच्चा राज कायम करना यह भी इस आन्दोलन का उद्देश्य है। हमें सत्ता हाथ में लेने या कब्जा करने में कोई रस नहीं है, “कन्ट्रोल ऑफ पावर सत्ता अंकुश रखने में रस है, एण्ड दैट टू बाइ पीपुल और वह भी लोगों के द्वारा।” राज्य शक्ति पर जन-शक्ति पर जन-शक्ति का अंकुश होना चाहिए। जे.पी. बार-बार यह शब्द स्पष्ट करते रहे कि सत्ता की गद्दी पर कौन बैठा है, यह बात मेरे मन में महत्वपूर्ण नहीं है, परन्तु सत्ता का उपयोग कैसे हो रहा है, यह बात अवश्य मेरे मन में महत्व की है। सत्ता का उपयोग कैसे हो रहा है, यह बात अवश्य मेरे मन में महत्व की है। सत्ता का उपयोग जनता के सहयोग से हो रहा है, जनता के हित में हो रहा है, या जनता की अवहेलना करके जनता के विरुद्ध हो रहा है, यह देखना अवश्य महत्वपूर्ण है। एक सरकार जायेगी और दूसरी सरकार आयेगी, इतने से कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं होगा। इसलिए हमारे सामने चुनौती तो यह है कि जनता को जागृत करें, किन्तु दुर्भाग्यवश सत्ताधारियों ने इस आन्दोलन को अपने खिलाफ चुनौती मान लिया और इसे दबाने के लिए

उन्होंने सब तरह के प्रयत्न किये। देश में आपातकाल की घोषणा कर दी गई, लोकतंत्र पर प्रहार हुआ। जे.पी. के आन्दोलन के लिए बड़ा विघ्न खड़ा हो गया। लोकशक्ति जगाने का उनका प्रयोग मंझधार में ही अटक गया। जे.पी. भी आखिर बार-बार कहते रहे, मेरे मूल उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं आया है। पिछले दस पन्द्रह सालों में नयी समाज व्यवस्था के स्वरूप के बारे में मैंने जो विचार व्यक्त किये हैं वे आज भी उतने ही सच हैं। शायद पद्धति में थोड़ा अन्तर हो। संक्षेप में हिन्द-स्वराज्य, सम्पूर्ण क्रांति एवं सर्वोदय तीनों का भावार्थ एक ही है, केवल शब्द अलग-अलग हैं।

लोकतंत्र समाजवाद जयप्रकाश जी की जीवन निष्ठा थी। विनोबा जी के नेतृत्व में चले भूदान आन्दोलन के सर्वोदय मार्ग से समाजवाद इस देश में आयेगा, उन्हें ऐसी आशा थी, परन्तु पूरे भारत की बात तो दूर रही, विनोबा जी की घोर प्रतिज्ञा के अनुसार कम-से-कम बिहार के भूमिहीनों की समस्या का समाधान भी नहीं निकला और लोकतंत्र का भी जब आपातकाल में गला घोंटा गया तो विनोबा जी के नेतृत्व में जयप्रकाश जी को पूरी निराशा हुई और उन्होंने कहा, सर्वोदय आन्दोलन के नेतृत्व के लिए हमें फिर गांधी जी के पास जाना होगा। आपात काल के लिए विनोबा जी ने अनुशासन पर्व ऐसे शब्दों का प्रयोग किया। उसका कुछ स्पष्टीकरण भी उन्होंने नहीं दिया, वे मौन रहे। इसका फायदा शासनकर्ताओं ने उठाया। विनोबा जी के ऐसे रवैये से सर्वोदय में शामिल हुए युवा कार्यकर्ताओं का मोह तेजी से भंग हो गया। विनोबा जी के नेतृत्व के बारे में आशा भंग हो गयी। विनोबा जी को सरकारी संत के नाम से पुकारा गया। सालभर के मौन की समाप्ति के अवसर पर विनोबा जी ने अनुशासन पर्व का स्पष्टीकरण दिया, परन्तु तब तक सर्वोदय आन्दोलन की जो हानि हो चुकी थी, उसकी क्षतिपूर्ति नहीं हो सकती थी।

सम्पूर्ण क्रांति का अर्थ

सम्पूर्ण क्रांति जैसा कि सम्पूर्ण शब्द से विदित होता है, यह समाज के सभी अंगों में पूर्णतः परिवर्तन चाहता है, इसलिए अगर हम सम्पूर्ण क्रांति का अर्थ सत्ता हथियाने की लड़ाई या गद्दी छीनने की एक साजिश से लगाते हैं तो वह हमारा भ्रम ही कहा जायेगा। सम्पूर्ण क्रांति तो व्यवस्था परिवर्तन चाहता है। साथ ही समाज संचालन की सारी गली-सड़ी तथा अक्षम प्रक्रियाओं को बदल कर समाज का नव-निर्माण चाहता है। जे.पी. ने स्वयं कहा था, सम्पूर्ण क्रांति का मोर्चा केवल राजधानियों में नहीं है, बल्कि हर गांव और हर शहर में है, हर कार्यालय, विद्यालय और कारखाने में है, यहां तक कि हर परिवार में है। हर मोर्चे पर सम्पूर्ण क्रांति की लड़ाई लड़नी है। सचमुच जिस संघर्ष में मात्र सत्ता हथियाने की, गद्दी छीनने की बात रहती है, वह संघर्ष मात्र राजधानी तक ही सीमित रह जाता है। सम्पूर्ण क्रांति की पहुंच भारत की गली-गली में व्यक्ति-व्यक्ति तक में है। जे.पी. कहते हैं, सम्पूर्ण क्रांति का मोर्चा प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर भी है, क्योंकि अपने पुराने और गलत संस्कारों से भी हमें लड़ना है। फिर व्यक्ति के अच्छे संस्कारों से ही तो अच्छे-बुरे की रचना होती है। लोकनायक ने कहा, केवल शासन बदले इतना ही नहीं, व्यक्ति और समाज भी बदले इसलिए मैंने इसे सम्पूर्ण क्रांति कहा है।

उद्देश्य

सम्पूर्ण क्रांति के उद्देश्य बहुत दूरगामी हैं। इसमें पूरे जीवन को बदलने की बात है, व्यक्ति और समाज के जीवन के हर एक पहलू को बदलने की बात है, एक नये समाज की रचना करने की बात है। जयप्रकाश ने कहा है, 5 जून 1974 की घटना के गांधी मैदान की विशाल सभा में बोलते हुए सहज ही मेरे मुंह से पहली

बार सम्पूर्ण क्रांति शब्द निकल पड़े थे। उस दिन मैंने कहा था कि यह आन्दोलन छात्र-संघर्ष समिति की मात्र 10-20 मांगों की पूर्ति के लिए नहीं है, यह तो सम्पूर्ण क्रांति की शुरुआत है। उसके उद्देश्य बहुत दूरगामी हैं, भारतीय लोकतंत्र को वास्तविक तथा सृष्टि बनाना, जनता का सच्चा राज्य कायम करना, समाज में अन्याय, शोषण आदि का अंत करना, एक नैतिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक क्रांति करना, नया बिहार बनाना और अन्ततोगत्वा नया भारत बनाना है।

सम्पूर्ण क्रांति का क्षेत्र

1. सामाजिक क्रांति – जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि सम्पूर्ण क्रांति समाज के हर एक क्षेत्र में बदलाव लाकर एक नये समाज का निर्माण चाहता है। वर्तमान समाज में कई ऐसी सामाजिक बुराइयां शामिल हैं, जिसके कारण स्वस्थ समाज का निर्माण अभी तक नहीं हो सका है। इन सामाजिक बुरायों में मुख्यतः जाति-प्रथा, छूआ-छूत, ऊँच-नीच का भेदभाव, तिलक-दहेज जैसी कुरीतियां शामिल हैं। इन सामाजिक बुराइयों को दूर करके जे.पी. सामाजिक परिवर्तन करना चाहते थे।

2. जातिवाद का उन्मूलन – भारतीय समाज व्यवस्था को सन्तुलित ढंग से संचालित करने हेतु ऋषि-मुनियों ने वर्ण व्यवस्था कायम की थी। वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के विभिन्न पक्षों में पड़े बिना हमें विद्वानों की इस मान्यता को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का कारण व्यवसाय मूलक विभाजन ही है। इसे सब मानते हैं कि देर-सबेर वर्ण व्यवस्था का आधार-व्यवसाय आधारित हो गया। गांधी जी भी यह मानते कि सही वैदिक अर्थ में “वर्ण धर्म” का तात्पर्य है – व्यवसाय मूलक विभाजन पर आधारित सामाजिक संगठन। बापू का कहना है, “वर्ण धर्म का अर्थ है कि हर एक को धर्म का, कर्तव्य के रूप में अपने पुरखों के आनुवंशिक व्यवसाय का निर्वाह करना चाहिए जहां तक वह आधारभूत नैतिकता के विरुद्ध न जाता हो। वह उसी व्यवसाय का पालन कर जीविकोपार्जन करे। वह अत्यधिक धन संग्रह कर अतिरिक्त धन को लोक-कल्याण के लिए अर्पित करेगा। दुर्भाग्य से प्रभुता सम्पन्न ब्राह्मण एवं क्षत्रिय उच्च वर्णों ने अपने स्वार्थ के कारण वर्ण-धर्म को बदनाम कर रखा है। हिन्दू समाज सम्पूर्ण वर्गों (वर्णों) के सोपानात्मक संगठन के कारण अधःपतित हो गया है। जाति-भेद इस स्थिति तक पहुंच गया है कि आज प्रत्येक हिन्दू इससे लज्जित हैं। जाति भेद के कारण ही अस्पृश्यता जैसी घृणित प्रथा की उत्पत्ति हुई। गांधी जी की तरह ही जयप्रकाश जी जातीयता को घोर अभिशाप मानते थे। लोकनायक के विचार में जातीयता के उभरने वाले कुविचारों से समाज का हर क्षेत्र प्रभावित होता है। जाति-व्यवस्था को जीवित रखने और इसे उग्र रूप प्रदान करने हेतु जे.पी. राजनीतिक दलों को यानी राज-नेताओं को जिम्मेदार बतलाते हैं। जे.पी. जातिवाद के विष से इतना आतंकित थे कि वे वर्ग-भेद को मिटाने से जाति-भेद को मिटाना कभी-कभी अधिक महत्वपूर्ण मानते थे। जातिप्रथा को समाप्त करने के लिए छूआ-छूत को समाप्त करने व जाति-प्रथा को तोड़ने के लिए जे.पी. ने अन्तर्जातीय विवाह करने की भी सलाह दी। उनके विचार में ऐसा हो सकता है कि अन्तर्जातीय विवाह करने वाले युवक-युवतियों के माता-पिता या अभिभावक तथा समाज के अन्य सदस्य विरोध करें, उनके विरोध करने पर युग-युवतियां व्यक्तिगत तौर पर तथा सामूहिक रूप में अन्तर्जातीय विवाह के गुण, इसकी आवश्यकताओं तथा उपदेयताओं को बतलाकर उन्हें समझाये।

सामाजिक कुरीतियों में से तिलक दहेज भी एक मुख्य कुरीति है, जिसे दूर करने के लिए भी जे.पी. ने युवक-युवतियों को प्रेरित किया। जे.पी. ने जहां युवकों को दहेज मांगने वाले मां-पिता के दहेज के मांग का बहिष्कार करने को कहा, वहीं दूसरी ओर लड़कियों को दहेज मांगने वाले लड़कों से शादी नहीं करने की सलाह

दी। लोकनायक ने समाज की उन खर्चीली और उपद्रव मचाने वाले रिवाजों का भी बहिष्कार करने की सलाह दी, जिसमें रुपये तो खर्च होते हैं, साथ वे किसी-किसी रूप में हमारे व्यक्तित्व निर्माण तथा स्वस्थ समाज निर्माण के बाधक तत्व का कार्य करती हैं। धनवानों तथा मंत्रियों द्वारा विवाह तथा अन्य उत्सवों के अवसर पर अपने वैभव के दिखावें के लिए लाखों करोड़ों रुपये खर्च कर देना तथा उस खर्च के लिए धन इकट्ठा करने हेतु गलत तरीकों के अपनाने की भी जे.पी. घोर निन्दा करते हैं। सम्पूर्ण क्रांति को ऐसे सभी अन्ध-विश्वासों, रूढ़ियों, कुरीतियों तक पहुंचना होगा, जिसके चलते कि हमारा समाज बर्बादी के कगार पर खड़ा हो गया है। सम्पूर्ण क्रांति का अर्थ ही है — समाज के एक एक अंग, एक एक तन्तु को स्पर्श करने वाली क्रांति।

शैक्षिक क्रांति

शिक्षा से मनुष्य का जीवन विशुद्ध, प्रज्ञा सम्पन्न, परिष्कृत और समुन्नत ही नहीं होता, बल्कि समाज भी सात्विक और नैतिक निर्देशों का पालन करता हुआ सन्मार्ग पर चलकर विकसित होता है। मनुष्य का जीवन शिक्षा और ज्ञान से धर्म-प्रवण, नैतिक मूल्यों से युक्त, उच्च आदर्शों से सम्बन्धित बहुमुखी व्यक्तित्व से युक्त होता है। विद्यार्जन से व्यक्ति आत्म-निर्भरता तो प्राप्त करता ही है, साथ ही परिवार और समाज के निर्माण में भी योग प्रदान करता है। मनुष्य की धार्मिक वृत्तियों का उत्थान, उसके सामाजिक उत्तरदायित्वों का निष्पादन और उसके सांस्कृतिक जीवन का उन्नयन शिक्षा प्रधान उद्देश्य हैं। शिक्षा के माध्यम से मनुष्य अपने इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति में लगा रहता है। अथर्ववेद में विद्या अथवा शिक्षा के उद्देश्य और उनके परिणाम का उल्लेख किया गया है जिसमें शिक्षा में श्रद्धा, मेधा, प्रज्ञा, धन, आयु और अमृतत्व को सन्निहित किया गया है।

लोकनायक जयप्रकाश ने अपनी सम्पूर्ण क्रांति के विचार में शिक्षा की उक्त महत्ता से लोगों को आभास कराया और वर्तमान प्राणहीन शिक्षा पद्धति में परिवर्तन की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने कहा मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण तथा समाज का पुनर्निर्माण वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में बिना आमूल-चूल परिवर्तन किये संभव नहीं है। हमें वर्तमान परिस्थिति की मांग के अनुसार शिक्षा के स्वरूप का निर्धारण करना होगा। वर्तमान सड़ी हुई व्यर्थ की शिक्षा-पद्धति निश्चय ही मानव-समाज के लिए घातक सिद्ध हो रही है। लोकनायक के अनुसार शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व निर्माण में सहायक सिद्ध हो सके। विशेषकर भारत की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्ति को छोटे-बड़े कारखानों, कार्यालयों के अलावा खेतों में भी भेजे। अर्थात् शिक्षा पद्धति ऐसी हो, जिसके अन्तर्गत विद्यार्थी शिक्षित होकर स्वावलम्बी बने, उसका आत्मविश्वास बढ़े, उसके नैतिक चरित्र में निखार आये।

आर्थिक क्रांति

समाज के पुनर्निर्माण के लिए जितना महत्व सामाजिक क्रांति का है, उससे किसी भी मायने में आर्थिक क्रांति का महत्व कम नहीं है। मानव व्यक्तित्व के निर्माण में आर्थिक परिस्थितियां महत्वपूर्ण योगदान देती हैं। मानव जीवन के लिए आर्थिक क्रियाओं की अनिवार्यता को लक्ष्य करते हुए गांधी जी ने भी कहा है, आज मानवीय क्रियाकलाप का पूरा सप्तक मिलकर एक अविच्छेद समग्र की रचना करता है, एवं सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं विशुद्ध धार्मिक कार्य को एक-दूसरे से बिल्कुल पृथक् नहीं रख सकता। जयप्रकाश जी की भी जीवन के प्रति ऐसी ही समन्वित दृष्टि थी, जिसके कारण उन्हें आर्थिक व्यवस्था के बारे में सोचना और कहना पड़ा। उन्होंने गांधी जी की तरह ही कुछ सिद्धान्त बनाये, जिन पर आर्थिक संगठन को आधारित होना चाहिए।

भारत एक कृषि प्रधान देश है, इसलिए यहां की आर्थिक-व्यवस्था कृषि व्यवस्था के अनुसार ही संचालित होनी चाहिए। कृषि के लिए सबसे आवश्यक तत्व भूमि है, इसलिए भारत में आर्थिक क्रांति के लिए सर्वप्रथम भूमि से सम्बन्धित क्रांति करनी होगी। भूमि-क्रांति का अर्थ है —“भूमि का समान वितरण ऐसा नहीं कि किसी के पास सैंकड़ों के एकड़ भूमि हो, जिसमें से फसल नहीं ऊपजा पाने के कारण बहुत भूमि बंजर हुई है और कुछ लोग भूमि नहीं रहने के कारण भूखों मरते हों। जे.पी. ने सम्पूर्ण क्रांति के तहत आर्थिक क्रांति लाने के लिए सर्वप्रथम भूमि के सम-वितरण पर बल दिया। उन्होंने विनोबा के विचार का अनुसरण किया कि जमीन जोतेने वालों की होनी चाहिए, एक व्यक्ति या परिवार के पास उसकी आवश्यकतानुसार ही भूमि रहे, ऐसी व्यवस्था करनी होगी। जयप्रकाश के विचार में भूमि के सम-वितरण के लिए सरकार की ओर से सीलिंग कानून बना, लेकिन उसका ईमानदारी से पालन नहीं किया गया और न ही करवाया गया, इसलिए उन्होंने भूमि व्यवस्था में सुधार हेतु सीलिंग कानून की ईमानदारी से लागू करने की आवश्यकता बल दिया। वे भूदान आन्दोलन के द्वारा ही भूमि क्रांति करना चाहते थे।

एक प्रबुद्ध गांधीवादी चिन्तक होने के नाते जयप्रकाश ने विनोबा की तरह गांधी जी द्वारा प्रतिपादित ट्रस्टीशिप-सिद्धान्त में आस्था दिखलायी और इसे सम्पूर्ण क्रांति में स्थान दिया है। आर्थिक समानता लाने हेतु उन्होंने ट्रस्टीशिप-सिद्धान्त का अनुसरण करने का विचार व्यक्त किया। ट्रस्टी का अर्थ होता है —संरक्षक। इसलिए ट्रस्टीशिप अपने व्यापक अर्थ में मात्र सम्पत्ति को ही त्याग करके उपभोग करने की प्रेरणा नहीं देता है, बल्कि यह सिद्धान्त कहता है कि जो जिसके पास है, वह उसे समाज को समर्पित कर ही उसका उपभोग करे।

राजनीतिक क्रांति

आजाद भारत के पुनर्निर्माण के लिए गांधी जी के राजनीतिक विचारों की अनदेखी कर मैक्यावली और कौटिल्य के राजनीतिक विचारों का अवलम्बन करते हुए भारत में इंग्लैण्ड के संसदीय प्रजातंत्र को लागू किया गया। भारतीय संविधान निर्माताओं ने चाहे किसी भी शासन-पद्धति को अपनाया हो, उद्देश्य था, जनता का कल्याण करना, एक नये सुदृढ़ सबल भारत का निर्माण करना, लेकिन बाद के वर्षों में वे अपने स्वार्थी और महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति में डूबे रहे। दिनानुदिन शक्ति और सत्ता कुछ इने-गिने व्यक्तियों तक, पदों तक सिमटती चली गयी। सत्ता और शक्ति का केन्द्रीकरण सामान्य जन के लिए अभिशाप साबित हुआ। इसलिए जे.पी. ने सम्पूर्ण क्रांति के विचार में राजनीतिक शक्ति और सत्ता के विकेन्द्रीकरण का विचार व्यक्त किया।

सम्पूर्ण क्रांति की राजनीतिक व्यवस्था प्रजातांत्रिक ही होगी, लेकिन प्रचलित पाश्चात्य राजनीतिक लोकतंत्र से बिल्कुल भिन्न होगी। राजनीतिक संगठन की शुरुआत ग्राम स्तर से होगी। इस व्यवस्था में गांव की राजनीतिक प्रशासनिक व्यवस्था गांव के लोगों के ही पास होगी, जिसका वे स्वयं संचालन करेंगे। जयप्रकाश द्वारा परिकल्पित लोकतंत्र में ग्राम, प्रखण्ड और जिला स्तर की ये स्थानीय स्वायत्तशासी संस्थाएं ही राज्य-व्यवस्था की बुनियाद होगी। ऐसी विकेन्द्रित राजनीतिक व्यवस्था में सत्ता हथियाने, तानाशाही लादने की दूर-दूर तक कोई संभावना भी नहीं दिखलाई पड़ेगी। ऐसी प्रजातांत्रिक व्यवस्था में दलवाद का स्थान नहीं रहेगा। सचमुच सम्पूर्ण क्रांति की उक्त विकेन्द्रित राजनीतिक प्रशासनिक व्यवस्था में प्रजातंत्र वास्तविक रूप में जनता के समक्ष आयेगा। सम्पूर्ण क्रांति में चूंकि व्यक्ति और समाज दोनों में सर्वांगीण परिवर्तन लाने की शक्ति समाहित होती है, इसलिए इसमें अन्य सात प्रकार की क्रांतियां —सामाजिक क्रांति, आर्थिक क्रांति, राजनीतिक क्रांति, सांस्कृतिक क्रांति, वैचारिक अथवा बौद्धिक क्रांति, शैक्षणिक क्रांति एवं आध्यात्मिक क्रांति का समन्वय होना आवश्यक है। ऐसी सम्पूर्ण क्रांति से एक नया समाज बनेगा, जो मौजूदा समाज में भिन्न होगा, वह समाज होगा — “सर्वोदय समाज”, वह राज्य होगा —“अहिसंक राज्य” तथा वह स्वराज्य होगा —“ग्राम स्वराज्य”।

सम्पूर्ण क्रांति की प्रक्रिया

लोकयनायक जयप्रकाश ने विचार व्यक्त किया है कि समाज आमूल परिवर्तन चाहता है और यह आमूल

परिवर्तन सरकार द्वारा कभी नहीं हो सकता और सत्ता के स्थानों पर बैठे हुए नेताओं के भाषणों या आह्वानों से भी नहीं हो सकता। ऐसा परिवर्तन मात्र उन्हीं लोक नेताओं और लोक सेवकों द्वारा ही संभव हो सकता है, जिन्होंने स्वेच्छा तथा खुशी से अपने को सत्ता स्थानों से दूर रखा हो और जनता तक जिनकी पहुंच है यानी जनता के बीच में रहकर जिन्होंने काम किया है। जे.पी. कहा करते थे केवल सरकार से बस काम हो जायेगा और सरकारी योजनाएं, बजट आदि के द्वारा परिवर्तन आ जायेगा, ऐसा मानकर अभी भी हम चलेंगे तो फिर हम भटकते ही रहेंगे। सम्पूर्ण क्रांति तो पूरी जनता की शक्ति को देश के नव-निर्माण में लगाने से ही होगा। देश के नव-निर्माण में स्त्री-पुरुष, बच्चे बूढ़े, छात्र और शिक्षक, सैनिक और स्वयं-सेवक सभी को इसमें शामिल होना चाहिए। सम्पूर्ण क्रांति की प्रक्रिया में जनता की सतत् जागरूकता को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। स्वावलम्बन और आपसी सहयोग की भावना जनता में अपार शक्ति पैदा करेगी, जो सम्पूर्ण क्रांति के लिए वरदान साबित होगा इसके बिना सम्पूर्ण क्रांति की कल्पना भी नहीं करनी चाहिए।

चूंकि सम्पूर्ण क्रांति का लक्ष्य सर्वोदय समाज तथा ग्राम स्वराज्य की स्थापना करना है, इसलिए इनमें राजनीतिक क्रांति के तहत सत्ता ऊपर से नीचे गांव में लानी होगी, सत्ता जनता के हाथों में स्वयं जनता द्वारा लानी हो। ऐसी गांव की सत्ता के लिए जनता को अपने कर्तव्यों और अधिकारों के प्रति सचेत होने के साथ-साथ संगठित होना होगा, क्योंकि लोकतंत्र में नागरिक अपने अधिकारों और कर्तव्यों से जितना उदासीन रहेगा लोकतंत्र उतना ही कमजोर और कुण्ठित होगा।

समालोचना

सम्पूर्ण क्रांति की दिशा में जयप्रकाश द्वारा गुजरात और बिहार में किये गये आन्दोलनों पर लिखी अपनी पुस्तक में घनश्यामदान ने लिखा, जे.पी. के आन्दोलन में जिन लोगों ने भाग लिया, वे शहरी, मध्यम और ऊपर के तबके के लोग थे। जमींदार और बड़े किसान, जिन्हें आज की व्यवस्था से लाभ मिला था और जो उसमें कुछ परिवर्तनों के द्वारा अपने लाभ को बढ़ाना चाहते थे। यद्यपि माना गया था कि यह क्रांतिकारी आन्दोलन है, किन्तु उसमें आवश्यक सुधारवादी मांगों पर भी जोर नहीं दिया गया। उद्देश्य की स्पष्टता नहीं थी। मांग सूक्ष्म थी यानि एकाएक पकड़ में नहीं आती थी और ध्येय बहुत दूर के थे। इन ध्येयों को भी विस्तार या बारीकी से सामने नहीं रखा गया, फल यह हुआ कि आन्दोलन दलीय राजनीतिक आन्दोलन होकर रह गया और उसका सम्बन्ध “सर्वोदय” या सम्पूर्ण क्रांति से नहीं जुड़ा। जो दल इकट्ठा हुए उन सब में एक ही तत्व समान था, कांग्रेस को सत्ताच्युत करना। सन् 1977 में ही टाइम्स ऑफ इण्डिया ने लिखा, जे.पी. के आन्दोलन ने आर्थिक समस्याओं को एक तरफ छोड़ कर ऐसे अस्पष्ट राजनीतिक और नैतिक ध्येयों को सामने रखा, जो किसी आधारभूत कार्यक्रम से सम्बन्धित नहीं लगते।

सन् 1974 में सम्पूर्ण क्रांति के लिए किये गये बिहार-गुजरात के आन्दोलन की असफलता को स्वयं जयप्रकाश जी ने भी स्वीकार करते हुए कहा, हमारी मुख्य चिन्ता राष्ट्रनिर्माण के काम पर केन्द्रित होनी चाहिए थी, लेकिन राजनीतिक गतिविधियों ने वैसा होने नहीं दिया। राज्य शक्ति के साथ ही टक्कर में शक्ति का ह्रास हुआ। नहीं तो आन्दोलन को हम कहां तक आगे ले गये होते। बिहार या गुजरात के आन्दोलन तो मात्र कुछ सीमित मांगों को लेकर छात्र आन्दोलन था जिसकी बागडोर अनायास ही जयप्रकाश जी के हाथों में आ गयी और उन्होंने इस आन्दोलन को अपनी सम्पूर्ण क्रांति से जोड़ने का प्रयास किया। जे.पी. के आन्दोलन में साथ दे रहे राजनीतिक दल के नेताओं तथा अन्य जुड़े हुए निहित स्वार्थ वालों की स्वार्थपूर्ण नीति का शायद आभास नहीं रहा हो, इसी कारण उन्होंने उस आन्दोलन से सम्पूर्ण क्रांति का सपना देखा। जे.पी. का यह मोह आन्दोलन में सम्मिलित दलों का जनता पार्टी के नाम से सत्ता पर आसीन हो जाने के बाद भंग हुआ, तब उन लोगों ने सत्ता हाथ में आ जाने पर जे.पी. के विचारों की अवहेलना कर दी। विनय भाई ने सम्पूर्ण क्रांति का सिंहावलोकन करते हुए लिखा है, “जिस प्रकार विदेशी शासन से मुक्ति पाने के लिए तत्कालिक उद्देश्य की पूर्ति में बापू ने स्वयं कांग्रेस की सदस्यता छोड़ देने पर भी उस संगठन को अपना नेतृत्व दिया, किन्तु कांग्रेस के सत्तारूढ़ हो

जाने पर उसे अपेक्षित दिशा में मोड़ने में असफल रहे। उसी प्रकार तानाशाही से मुक्ति के संघर्ष में स्वयं किसी राजनैतिक पक्ष में शामिल हुए बिना उनका मार्गदर्शन करने के बाद लोकयनायक भी सत्तारूढ़ दल पर अंकुश नहीं रख पाये और न ही उसे सम्पूर्ण क्रांति की दिशा में ही ले जा पाये। दूसरे शब्दों में यह स्वीकार करने योग्य तथ्य है कि गैर-राजनीतिक या नैतिक नेतृत्व द्वारा जन साधारण को प्रभावित करके जो परिवर्तन लाया गया, उसका लाभ राजनीतिक सत्तारूढ़ दल को मिला और नैतिक नेतृत्व की क्रांतिकारी कल्पनाओं तथा जनता की आशा आकांक्षाओं को साकार करने के लिए सर्वथा एक नये अभिनव आन्दोलन की अपेक्षा रह गयी।

(अ) वस्तुपरक/लघुत्तम उत्तर

1. 'सम्पत्ति छीनने को विद्रोह या बगावत, भले ही कह ले, यह क्रांति हरगिज नहीं है।' किसने कहा है ?
2. आ. डी. होपर के अनुसार क्रांति की परिभाषा लिखें।
3. फ्रांस की क्रांति में सम्राट लुई सोलहवें के बाद कौन शासक बना?
4. क्रांति के लिए विनोबा ने किन तीन तत्वों को प्रमुख माना?
5. 'दी पॉवर इलीट' के कौन लेखक हैं ?
6. 'दी आलवटरनेटिव सोशियलोजी' के कौन लेखक हैं ?
7. गांधी ने सत्याग्रही के लिए कितने व्रतों का प्रावधान किया है?
8. सत्याग्रह की कितनी प्रक्रियाएँ हैं ?
9. 'Constructive Programme' के लेखक कौन हैं ?
10. सम्पूर्ण क्रांति के प्रणेता कौन थे ?

(ब) लघु उत्तर

1. सामाजिक क्रांति का अर्थ एवं प्रकृति को लिखें।
2. हिंसक क्रांति के क्या दुष्परिणाम हैं?
3. रक्तविहीन क्रांति की क्या विशेषताएँ हैं ?
4. जेनेस्की के विचार में रेडिकल समाजशास्त्र की क्या तीन विशेषताएँ हैं ?
5. एकादश व्रतों का क्या स्वरूप है ?
6. असहयोग विधि का वर्णन करें।
7. गांधी के रचनात्मक कार्यक्रमों का उल्लेख करें।
8. पंचशील के सिद्धान्त का वर्णन करें।
9. सम्पूर्ण क्रांति का क्या उद्देश्य है?
10. सम्पूर्ण क्रांति के क्षेत्रों का वर्णन करें।

(स) निबन्धात्मक प्रश्न

1. क्रांति का अर्थ, प्रकार आदि की व्याख्या करते हुए हिंसक क्रांति के दुष्परिणाम लिखें।
2. रेडिकल समाजशास्त्र किस दिशा में कार्य करता है?
3. सत्याग्रह के कितने चरण हैं, विस्तार पूर्वक लिखें।
4. अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य में पंचशील को व्यवहारिकता का वर्णन करें।
5. सम्पूर्ण क्रांति पर एक विस्तृत लेख लिखें।

इकाई-4

संचार एवं शांति स्थापना में योगदान

भूमिका

अहिंसा एवं शांति के समाजशास्त्र के अन्तर्गत इस चौथी ईकाई में हम अहिंसा एवं शांति की स्थापना में संचार के व्यापक बदलते स्वरूप की चर्चा करेंगे तथा शांति स्थापना में इसके योगदान की चर्चा करेंगे, जिसके अन्तर्गत निम्न बिन्दु विचारनीय होंगे :

1. संचार का अर्थ एवं अवधारणा
2. संचार की प्रक्रिया
3. संचार की विशेषताएं
4. संचार के माध्यम
5. संचार की भूमिका
6. संचार का महत्व
7. संचार की प्रभावशीलता को घटाने वाले तत्व
8. संचार में बाधाएं
9. संचार के प्रमुख अवरोध
10. अहिंसा एवं शांति में संचार का योगदान

उद्देश्य

1. संचार के अर्थ एवं प्रक्रिया को समझना।
2. संचार की विशेषताओं, माध्यम, भूमिका पर विचार करना।
3. संचार के क्षेत्र की बाधाओं को समझना।
4. शांति के क्षेत्र में संचार की भूमिका समझना।

भूमिका

शांतिपूर्ण समाज के समन्वयात्मक स्थिति एवं सहअस्तित्व के आधार सामान्यतः विचार संप्रेषण को माना जा सकता है। मानव समाज में विचार, मत, भावनाएं आदि के संप्रेषण हेतु प्रक्रिया एवं कार्यविधि ने यद्यपि

आधुनिक काल में उल्लेखनीय प्रगति की है तथापि मानव समाज में संप्रेषण की क्रियाएँ पुरातन काल से ही पाई जाती हैं जिन के प्रमाण पुरातात्विक अन्वेषण के माध्यम से आज भी सिद्ध हो रही हैं। किन्तु प्रश्न उत्पन्न होता है कि मानव समाज में यह संप्रेषण की क्रियाएँ कब से प्रारम्भ हुई होंगी। आधुनिक समाजशास्त्र जहाँ इनका प्रारम्भ भाषा के प्रारम्भ से मानता है, तथापि प्रायः ऐसे प्रमाण भी प्राप्त होते हैं कि उस काल में भी विचार एवं भावना संप्रेषण से मानव समाज परिचित था जिस काल में भाषा पूरी तरह से विकसित नहीं हुई थी। पुरातन सभ्यताओं के अवशेष असभ्य मानव के सांस्कृतिक विकास की गति को इंगित करते हैं, जिसे उस काल के मनुष्यों ने अपनी जीवनशैली के विभिन्न स्वरूपों को विभिन्न रूपों में विभिन्न शिलाओं आदि पर अंकित किया है। यद्यपि इन प्रमाणों से यह स्थापित नहीं होता है कि ये तत्कालीन समाज में विचारों के आदान प्रदान की कोई निर्धारित प्रक्रिया रही होगी तथापि इससे यह प्रमाणित होता है कि तत्कालीन मनुष्य ने अपने विचारों एवं भावों की अभिव्यक्ति को आकार देना प्रारम्भ कर दिया था। पुरातात्विक अवशेष अभिव्यक्ति एवं संप्रेषण के माध्यमों का कृमिक विकास भी हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। जिसमें क्रमशः भाषा लेखन, मुद्रण, आदि परिलक्षित होती है। आधुनिक काल तक आते आते सूचना विचार एवं भाव संप्रेषण हेतु विधि का विकास हुआ उसे संचार की संज्ञा देते हैं। आधुनिक विज्ञान ने संचार के विस्तार में उल्लेखनीय प्रगति का अवकाश प्रदान किया। विशेषतः इलेक्ट्रॉनिक युग में तार और बेतार प्रौद्योगिकी ने संचार को एक विशेष गति प्रदान की। वर्तमान में मुख्यतः संचार के अन्तर्गत प्रिंट मीडिया इलेक्ट्रॉनिक मीडिया तथा सूचना तंत्र की विशिष्ट क्रान्ति इंटरनेट आदि संचार की भूमिका का निर्वहन कर रहे हैं।

संचार का तात्पर्य है दो या दो से अधिक प्राणियों के मध्य सूचना, विचार, भावनाओं, मनोवृत्तियों को संप्रेषित करना। वास्तव में संचार वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा अभिव्यक्ति के माध्यम से हम अन्य व्यक्तियों को और अन्य व्यक्ति हमें समझते हैं। अतः संचार का अर्थ सूचना, विचारों अथवा भावनाओं को संदेश के द्वारा उद्गम स्थल से लक्ष्य तक पहुँचाना है। मनुष्य संचार का जन्मदाता नहीं हैं। अपितु प्रवृत्ति ने ही संचरण की सुविधा प्रदान की है। समस्त प्राणियों में संचार की प्रक्रिया पाई जाती है और मनुष्य केवल संचार की प्रक्रिया को विज्ञान और तकनीक की सहायता से विकसित करने वाला माध्यम है। आज संचार क्रान्ति के इस युग में समस्त दूरी प्रायः समाप्त हो गई है और संपूर्ण विश्व एक ग्राम की संज्ञा प्राप्त कर चुका है।

संचार की विशेषताये

1. संचार एक स्रोत से दूसरे स्रोत तक संप्रेषण की कला है।
 2. संचार एक ही समय पर अनेक लक्ष्यों तक पहुँच सकता है।
 3. संचार में कोई न कोई संदेश अथवा उद्देश्य होना आवश्यक है।
 4. संचार अपना कार्य विशाल जनसमुदाय तक पहुँचाता है।
 5. संचार की कोई सीमा नहीं होती है।
 6. संचार में दो या दो से अधिक पक्षों का होना आवश्यक है
- संचार के दो महत्वपूर्ण पक्ष हैं 1 अन्तर्व्यक्तिक संचार 2 आन्तरिक संचार
- 1 इस संचार का संबंध व्यक्तियों के आपसी संबंधों के भावनाओं पर होता है।
 - 2 इस प्रकार का संचार आज्ञाओं, निर्देश, अनुदेश, नियम आदि के रूप में दिया जाता है। संचार प्रतिवेदन

प्रार्थना के रूप में भी हो सकता है व कभी कभी सूचनाओं आदि के मौखिक अथवा लिखित आदान प्रदान पर आधारित होते हैं।

संचार के माध्यम

आधुनिक मानव समाज में विचारों सूचनाओं आदि की अभिव्यक्ति हेतु विज्ञान ने अनेक आविष्कार किये। वर्तमान में संचार के माध्यमों में मुख्यतः समाचार पत्र, साहित्य, दूरदर्शन, रेडियों, सिनेमा और इंटरनेट है।

इन उपर्युक्त संचार सहयोगी उपक्रमों को प्रभावशाली बनाने वाले तत्व निम्न हैं।

- 1 संचार स्पष्ट हो।
- 2 संचार समुचित हो।
- 3 संचार समयानुसार हो।
- 4 संचार स्वीकार करने योग्य हो।
- 5 संचार प्राप्तकर्ता के प्रत्याशाओं के अनुरूप हो।

जनसंचार

मुख्यतः संचार के प्रकारों में जनसंचार को स्वीकारा जाता है। यह वह प्रक्रिया है जो दो या दो से अधिक व्यक्तियों के लिये किसी बात को सर्वमान्य बना सकती है या उन्हें सूचित कर सकती है। जनसंचार संचार प्रक्रिया का उच्चतम और आधुनिकतम स्तर है। सामान्य अर्थों में हम कह सकते हैं कि विकसित माध्यमों

द्वारा वृहद्व एवं विविध श्रोतागणों तक सूचना, विचार, मनोवृत्तियों को पहुंचाना ही जन संचार है। **Heman** का विचार है कि “संचार सूचना और ज्ञान को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुंचाने की प्रक्रिया है।” संचार व्यवस्था द्वारा जो विचारों का आदान प्रदान किया जाता है वह उसी दशा में सफल हो सकता है जबकि वह परस्पर परिचित हो। इस प्रकार संचार व्यवस्था में दोनों पक्षों को एक दूसरे के बारे में जानकारी होनी आवश्यक है। अकेले में बोले गये वाक्य संचार नहीं होते। ये एक दोहरी व्यवस्था है जिसमें पारस्परिकता व सूचना दोनों का योगदान होता है।

संचार की भूमिका

आज के आधुनिक समाज में संचार के कार्यों में दिन प्रतिदिन बढ़ोतरी हो रही है। परम्परागत समाज से लेकर आधुनिक काल तक संचार क्रान्ति में तकनीक, गुणवत्ता, विविधता आदि की दृष्टि से उल्लेखनीय प्रगति हुई है। संचार क्रान्ति ने व्यक्तियों के ज्ञान में, राष्ट्रीय भावना के विकास में तथा वैश्विक शांति की स्थापना में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है जिसे निम्नतः रेखांकित किया जा सकता है :

- 1 ज्ञानात्मक या निर्देशात्मक तत्वों वाली सूचना को पहुंचाना— संचार के द्वारा सामाजिक सांस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाती है। संचार की विभिन्न विधाओं के बिना सामाजिक निरंतरता को बनाये रखने की कठिनाइयों का ज्ञान सहज की ज्ञात हो सकता है। इस प्रकार सांस्कृतिक निरंतरता और परिवर्तन संचार तंत्र पर आधारित होती हैं।
- 2 मनोवृत्तियों व भावनाओं को अभिव्यक्त करना— संचार के माध्यम से विभिन्न व्यक्ति, समूह अपने मनोवृत्तियों व भावनाओं को अभिव्यक्त करने में सक्षम हैं।

- 3 व्यक्ति और समाज के ज्ञान में वृद्धि— संचार की महत्वपूर्ण भूमिका व्यक्ति और समाज में पारस्परिकता का विकास करती है तथा नयी-नयी सूचनाओं से मानसिक क्षितिज को आलोकित करती है व आकांक्षाओं को धरातल प्रदान करती है जिसके निष्पत्ति स्वरूप व्यक्ति व समाज उत्तरोत्तर विकास प्राप्त करने तथा व्याप्त समस्याओं के निराकरण हेतु प्रेरित होते हैं।
- 4 मनोरंजन— संचार के कुछ साधनों का उपयोग मनोरंजन के लिये भी किया जाता है। वास्तव में मनोरंजन के अधिकांश स्वरूपों में मनोरंजन के साथ-साथ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कोई न कोई उद्देश्य अवश्य जुड़ा होता है। सामाजिक विकास व आधुनिकीकरण में ये उद्देश्य किसी न किसी रूप में सहायक होते हैं। संचार के द्वारा परम्परागत और रूढ़ीवादी तत्वों को प्रगति की ओर उन्मुख किया जा सकता है तथा इसकी सहायता से जनमानस को आधुनिकीकरण के लक्ष्य व कार्यक्रमों को अपनाने के लिये प्रेरित किया जाता है।
- 5 सामाजिक गतिविधियों की निगरानी करना— संचार की महत्वपूर्ण भूमिका केवल परम्परा का निर्वाह करना नहीं है, अपितु सामाजिक आलोचना करना भी है। इस प्रकार विशेषतः आधुनिक युग में संचार एक रक्षक तथा शिक्षक की भूमिका भी निर्वहन करता है।
- 6 सामाजिक प्रतिष्ठा को बढ़ाना— संचार साधन के द्वारा सामाजिक प्रतिष्ठा को गुणात्मक रूप से बढ़ाया जा सकता है। व्यक्ति चाहे किसी भी क्षेत्र का हो संचार विद्या में व्यक्तियों के महत्वपूर्ण उपलब्धियों को सार्वजनिक कर तथा संबंधित क्षेत्र में नवीन ज्ञान उपलब्ध कराकर कार्यक्षमता एवं प्रतिष्ठा में गुणात्मक रूप से वृद्धि करता है। जनसंचार के साधनों ने व्यक्ति और विचारों के मूल्यों को परिष्कृत करके सामाजिक नव निर्माण की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है।
- 7 जन चेतना में वृद्धि— संचार के साधनों द्वारा आज विश्व के किसी भी कोने में हो रही प्रत्येक गतिविधि से जनमानस को अवगत कराया जा सकता है। सरकार के द्वारा किये जाने वाले कार्य एवं उसकी नीतियां, विपक्ष की आलोचना, संसद में विचारणीय विषयों की जानकारी, दुनिया में होने वाले नवीन आविष्कार, फैशन आदि समस्त गतिविधियों की जानकारी, आम जन को जागरूक बनाये रखती है तथा जन चेतना में वृद्धि करती है। जागरूकता का ये स्तर व्यक्ति को सभ्य नागरिक और अपने कर्तव्यों के प्रति चेतनाशील बनाने में मदद करता है।
- 8 समाजीकरण में भूमिका— संचार समाजीकरण का एक प्रमुख साधन है। संचार की विभिन्न विधाओं के बिना सामाजिक निरंतरता को बनाये नहीं रखा जा सकता। सामाजीकरण की प्रत्येक स्थिति का स्वरूप संचार पर आश्रित है।
- 9 राष्ट्रीय विकास में भूमिका— संचार साधनों के द्वारा जहां जन चेतना के माध्यम से सभ्य नागरिक बनाये जाते हैं वही देश की आर्थिक प्रगति व समृद्धि में योगदान करके संचार राष्ट्रीय विकास को और अधिक निश्चित करता है। सूचनाओं के माध्यम से राष्ट्रीय विकास में अभिवृद्धि करने वाले तत्वों को जनसमूह तक पहुंचाकर राष्ट्रीय विकास को संभव बनाता है। नवीन सूचनाओं का प्रसार कर तथा महत्वाकांक्षाओं में वृद्धि कर संचार मानव संसाधन का गुणात्मक रूप से विकास करता है। जन सहयोग को प्राप्त करने के सहायक तत्व के रूप में राष्ट्रीय विकास की दृष्टि से योजनाओं के क्रियान्वयन आर्थिक

प्रौद्योगिक विकास में ये सकारात्मक भूमिका निभाता है।

संचार की प्रभावशीलता को बढ़ाने वाले तत्व

किसी भी विशाल संगठन में संचार की प्रभावशीलता बढ़ाना एक काम है। इस दृष्टि से निम्नलिखित तत्वों की उपस्थिति आवश्यक है।

- 1 संचार यथा संभव स्पष्ट हो तथा सभी आवश्यक बातों से युक्त होना चाहिये।
- 2 उच्चाधिकारियों और अधीनस्थ अधिकारियों के बीच विचारों की एकरूपता कायम रहनी चाहिये ताकि संचार के सही स्वरूप का प्रतिपादन होता रहे।
- 3 सूचना पर्याप्त हो अधूरी नहीं हो। उसे इस ढंग से प्रेषित किया जाना आवश्यक है ताकि उसका अभिप्राय एक दम स्पष्ट हो जाये। सूचना यथा समय अर्थात् सही अवसर एवं समय पर दी जाये।

संचार का महत्व

संचार की उचित व्यवस्था के अभाव में कोई भी प्रशासकीय संगठन कार्य नहीं कर सकता, और यदि संगठन अपने स्वरूप में अत्यधिक विस्तृत हो तब तो यह अनिवार्य हो जाता है कि उसके संचालन अथवा नियंत्रण के स्तर पर कार्य की प्रगति से सम्बन्धित पर्याप्त सूचनाएं निश्चित समय पर मिलती हैं। संचार व्यवस्था प्रशासन का प्रथम सिद्धान्त माना जाता है। मिलेट ने इसे प्रशासकीय संगठन की रक्तधारा और पिफनर ने प्रबन्धन का हृदय कहा है।

यह युग संचार व्यवस्था का युग है। आज औसत दर्जे का आदमी भी अपनी सरकार तथा पड़ोसियों के अधिक निकट है। वह अपने चारों ओर के जीवन से अधिक एकरूपता का अनुभव करता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी अब हम एक विश्व की दिशा में अग्रसर हो रहे हैं। लोकतंत्र की यह प्रथम आवश्यकता है कि जनता प्रशासन से अधिकधिक सम्बन्धित होनी चाहिए। इसी कारण व्यापार तथा शासन दोनों क्षेत्रों के संगठनों में अति उत्तम संचार व्यवस्था को स्थापित करने की आवश्यकता को स्वीकार कर लिया गया है। मिलजुल कर कार्य करने में संचार द्वारा अदा किये गये भाग को प्रबन्ध स्वीकार करता है। आज लगभग सभी सभ्य सरकारों ने सूचना, प्रकाशन तथा लोक सम्पर्क विभाग स्थापित कर लिये हैं। प्रबन्ध सम्बन्धी साहित्य संचार से सम्बन्धित लेखों से भरा पड़ा है। संचार कौशल को विकसित करने के लिए विशेषतः सभाएं, कार्यशालाएं तथा अन्य प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित किये जा रहे हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में यह विशेष रूप से हो रहा है।

संचार की व्यापकता

संचार व्यवस्था का आशय सूचना या संदेश भेजने की व्यवस्था मात्र नहीं है। इसका अर्थ व्यापक है। इसमें विचारों का आदान-प्रदान, विचारों की साझेदारी तथा भाग लेने की भावना सम्मिलित है। इस प्रकार, संचार का मूल अर्थ सूचना नहीं, बल्कि समझना है। मिलेट ने इसकी परिभाषा को किसी साझे प्रयोजन को साझा समझ के रूप में की है। टीड भी ऐसे ही विचार प्रकट करते हैं – “संचार का मूल लक्ष्य समान विषयों पर मस्तिष्कों में मेल स्थापित करना है।

किसी संगठन में संचार तीन प्रकार के होते हैं। आन्तरिक, बाह्य तथा अन्तःव्ययक्तिक। आन्तरिक संचार

का सम्बन्ध संगठन तथा कर्मचारियों के मध्य के सम्बन्धों से होता है। बाह्य संचार का सम्बन्ध जनता और संगठन के अभिकरणों के सम्बन्धों से होता है। अन्तर्व्यक्तिक संचार का सम्बन्ध अभिकरण के कर्मचारियों के अपने आपस के ही अन्तःसम्बन्धों से होता है। संचार को तीन वर्गों में वर्गीकृत किया गया है। ऊर्ध्व, अधो और अधोपार्श्व। ऊर्ध्व संचार कार्य करने तथा प्रगति के विषय में लिखित, मौलिक तथा व्यवस्थित प्रतिवेदन की रीतियों से प्राप्त होता है। कार्य के सम्बन्ध में सांख्यिकी तथा गणना सम्बन्धी प्रतिवेदन, मार्गदर्शन, सुझावों तथा चर्चाओं सम्बन्धी लिखित तथा मौखिक निवेदन किये जाते हैं।

‘अधो’ संचार निर्देश पुस्तिका, लिखित या मौखिक, विशिष्ट आदेश या अनुदेश, कर्मचारी वर्ग के सम्मेलन, बजट अनुमोदन तथा स्थापना प्राधिकरण जैसे साधनों से सम्भव होता है। अधोपार्श्व संचार लिखित या मौखिक सूचना तथा प्रतिवेदन के आदान-प्रदान, औपचारिक तथा अनौपचारिक व्यक्तिगत सम्पर्कों, कर्मचारी वर्ग की बैठकों तथा समन्वय करने वाली समितियों द्वारा सम्भव होता है।

संचार के माध्यम

संचार अनेक माध्यमों द्वारा संभव है जिन्हें तीन मुख्य वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

1. श्रव्य श्रव्य अर्थात् सुनना इस माध्यम के उदाहरण है —सम्मेलन, समितियाँ, साक्षात्कार, टेलीफोन, रेडियों प्रसार, जनसभाएं आदि।

2. दृश्य इस माध्यम के अन्तर्गत लिखित सम्प्रेषण सम्मिलित है। जैसे —परिपत्र, पुस्तिकाएं, प्रतिवेदन, विवरणिका, हस्तलेख आदि तथा चित्रण (फोटो, पोस्टर, व्यंगचित्र, झण्डे आदि)।

इन तीनों में से प्रत्येक माध्यम के अपने-अपने गुण हैं तथा अपनी-अपनी सीमाएं हैं। यह प्रबन्ध पर निर्भर है कि वह इस बात का निर्णय करे कि कब कौन सा संचार माध्यम उपयुक्त होगा। आजकल व्यापारिक और प्रशासकीय दोनों ही प्रकार के संगठनों में संचार को प्रोत्साहित करने के लिए सम्मेलन प्रणाली का प्रयोग बढ़ रहा है। यह प्रयोग अधिक लोकप्रिय इसलिए हो रहा है कि इससे विलम्ब नहीं होता, पत्रव्यवहार भी कम होता है और लालफीताशाही नहीं पनप पाती।

मिलेट के अनुसार सम्मेलन प्रणाली (संचार) के महत्वपूर्ण उपयोग एवं फायदे हैं —

1. समस्या सम्बन्धी जानकारी प्राप्त होती है।
2. समस्या के समाधान में सहायता होती है।
3. निर्णय की स्वीकृति तथा निष्पादन सम्भव होता है।
4. संगठन में काम करने वाले अधिकारियों में एकता की भावना उत्पन्न करने में सहायता होती है।
5. कर्मचारी वर्ग के मूल्यांकन में सहायता होती है।
6. प्रशासकीय कर्मचारियों को सूचना का आदान-प्रदान सम्बन्धी प्रोत्साहन मिलता है।

संचार की प्रभावशीलता को बढ़ाने वाले तत्व

किसी भी विशाल संगठन में संचार की प्रभावशीलता बढ़ाना एक कठिन कार्य है। इस दृष्टि से निम्नलिखित तत्वों की उपस्थिति आवश्यक है—

1. संचार यथासंभव स्पष्ट और सभी आवश्यक बातों से युक्त होना चाहिए।

2. उच्चाधिकारियों और अधीनस्थ अधिकारियों के बीच विचारों की एकरूपता कायम रहे ताकि अधिकारियों का कर्मचारियों पर विश्वास रहे और कर्मचारी अपने कार्यों में रुचि लें।
3. सूचना पर्याप्त हो, अधूरी नहीं अर्थात् उसे इस ढंग से प्रेषित किया जाए कि उसका अभिप्राय एकदम स्पष्ट हो जाए।
4. सूचना यथासमय अर्थात् सही समय पर दी जानी चाहिए।
5. संचार देने से पूर्व संचार प्राप्तकर्ता को यदि अधिकारी पहले से ही अपने विश्वास में ले तो संचार की प्रभावशीलता बढ़ जाना संभव है।

संचार की प्रभावशीलता को घटाने वाले तत्व

संचार के मार्ग में अनेक कठिनाइयों और अवरोध हैं। वास्तव में जो तत्व संचार के प्रभाव में वृद्धि करते हैं, यदि उनका प्रयोग न किया जाए तो संचार का प्रभाव घटने लगता है। संचार के प्रभाव को घटाने वाले तत्व मुख्यतः इस प्रकार हैं –

1. भाषा की अस्पष्टता, असंगति और जटिलता हानिकारक है। शब्दों के अत्याचार से संचार कठिन हो जाता है।
2. फिफनर ने सैद्धान्तिक बाधाओं का उल्लेख किया है कि “पृष्ठभूमि, शिक्षा और प्रत्याशा में अन्तर होने के कारण सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों में भी अन्तर आ जाता है। सम्भवतः प्रभावशाली संचार में ये सबसे बड़ी बाधाएं हैं जिन्हें पार करना सबसे कठिन है।”
3. संचार की तीसरी बाधा आकार तथा दूरी मानी जाती है। संगठन जितना बड़ा होगा तथा उसके कर्मचारियों की संख्या जितनी अधिक होगी, संचार को कठिनाई भी उतनी ही अधिक होगी। अधिक दूरी होने पर तार, फोन आदि द्वारा संचार भेजा जा सकता है तथा कुछ भौगोलिक दूरियां हैं जहां संचार साधन पर्याप्त नहीं है।
4. यदि उच्च प्रशासक समय-समय पर अपनी संचार-व्यवस्था की जांच न करे और उसमें आवश्यक सुधारों के प्रति उदासीन रहें तो भी संचार को प्रभावशाली बनाए रखना कठिन है।
5. संगठन में विभिन्न व्यक्तियों की पद-प्रतिष्ठा तथा उनकी वैचारिक पृष्ठभूमि भी संचार में अवरोध उत्पन्न करती है। जो अधिकारी जरासी बात पर नाराज होकर अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हैं, उनसे अधीनस्थ प्रायः डरते रहते हैं और ऐसा प्रयत्न करते हैं कि वे उन अधिकारियों के सामने जितना कम आएँ उतना ही अच्छा है।

संचार में बाधाएं

संचार की सफलता के लिए आवश्यक है कि संचार प्रक्रिया का सच्चे अर्थों में क्रियान्वयन किया जाए। मूलतः संचार एक प्रक्रिया है जिसमें सन्देशों के प्रेषक एवं प्राप्तकर्ता के बीच एक लेन-देन के तत्वों में चयनित सन्देश माध्यम एवं श्रृंखला शामिल है। यह सूचनाओं तथा अर्थों को विषय विशेष पर दो या अधिक लोगों के बीच सामान्य सूझ-बूझ तथा अर्थ पाने की प्रक्रिया होती है। संचार प्रक्रिया पर यदि गहन दृष्टिपात किया जाए तो निम्न स्तरों पर संचार में बाधाएं, रुकावटें या समस्याएं उत्पन्न होती हैं—

प्रेषक के स्तर पर

संचार का प्रथम स्तर प्रेषक का स्तर है। प्रेषक स्तर पर निम्न बाधाएं या समस्याएं उत्पन्न हो सकती हैं—

1. संदेश की रचना एवं विचार के गठन में
2. संदेश के अर्थ को संकेत प्रदान करने में

प्राप्तकर्ता के स्तर पर

संचार प्रक्रिया में दूसरा महत्वपूर्ण स्तर प्राप्तकर्ता का स्तर है। प्राप्तकर्ता के स्तर पर निम्न बाधाएं या समस्याएं आ सकती हैं।

1. संदेश की प्राप्ति
2. संदेश संकेत को समझने योग्य भाषा में परिवर्तन करने पर

प्रसारण स्तर पर — सन्देश प्रक्रिया का अन्तिम स्तर वह है जहां की प्रतिक्रिया सम्बन्धी वांछित जानकारी संदेश प्रेषक को वापस की जाती है।

संचार के प्रमुख अवरोध

संचार प्रक्रिया में अनेक कारण संदेश प्रेषक एवं संदेश प्राप्तकर्ता के बीच अवरोध पैदा करते हैं। इन बाधाओं, रुकावटों अथवा अवरोधों के कारण अपूर्ण संचार कुसंचार, गलत संचार कुरचित सम्प्रेषण, एवं संचारहीनता की स्थितियां उत्पन्न करती है जो संगठन में अनेक व्यावसायिक एवं प्रबन्धकीय समस्याओं एवं जटिलताओं को जन्म देती है। संचार की प्रमुख बाधाओं को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है —

भाषागत अवरोध

1. अस्पष्टित पूर्वधारणा
2. विभेदात्मक मान्यताएं
3. गलत शब्दों में अभिव्यक्त संदेश
4. दोषपूर्ण अनुवाद
5. शब्दों एवं संकेतों के विविध अर्थ

संचार अवरोध : दृष्टिकोणात्मक अवरोध

1. ध्यान न देना
2. अपरिपक्व मूल्यांकन
3. संचार पर अविश्वास
4. संचार का विरोध
5. चयनित बोध
6. संचार न करना
7. अनावश्यक मिश्रण एवं छानना

संगठनात्मक अवरोध

1. शोर

2. समय एवं दूरी
3. संगठनात्मक नीतियां, नियम एवं नियमवली
4. भय
5. मार्गस्थ हानि
6. घटिया रख-रखाव
7. अपर्याप्त सन्तुलन काल
8. तथ्यों का विवाद

व्यक्तिगत अवरोध

1. उच्चाधिकारियों की बाधाएं
2. अधीनस्थों की बाधाएं

अन्य अवरोध

भाषागत अवरोध

संचार के लिए भाषा अनिवार्य माध्यम हैं शाब्दिक अथवा अशाब्दिक दोनों ही प्रकार की भाषाओं का संचार में प्रयोग किया जाता है। अधूरी, अस्पष्ट, असामयिक, विविध अर्थों वाले शब्दों या संकेतों का चयन संचार में प्रमुख अवरोध है। भाषागत विधाओं को निम्न शीर्षकों में स्पष्ट किया जा सकता है।

1. अस्पष्टित पूर्वधारणा : अस्पष्टित पूर्वधारणाएं, जो प्रायः प्रत्येक संदेश में मौजूद होती हैं संचार में काफी अधिक रुकावटें पैदा करती हैं। भेजने वाला संदेश में प्रत्येक बात का विस्तृत ब्योरा नहीं देता, कुछ चीजों के बारे में वह सोच लेता है कि संदेश पाने वाला व्यक्ति खुद ही समझा जाएगा। दूसरी ओर संदेश पाने वाला व्यक्ति संदेश के एक-एक शब्द को ज्यों का त्यों लेता है तथा उन शब्दों के अतिरिक्त अपनी ओर से कुछ नहीं सोचता या कुछ और हो सोचता है।

2. विभेदात्मक मान्यताएं — संचार में सन्निहित सूचनाओं को सामान्यतः अनेक मान्यताओं द्वारा समर्थित किया जाता है। प्रेषक को इन मान्यताओं के बारे में पूर्णतः स्पष्ट होना पड़ता है लेकिन जब तक उनको प्राप्तकर्ता के साथ बांटा नहीं जाता इस बात की बड़ी सम्भावना रहती है कि संचार अपूर्ण रहेगा जिसके अलग-अलग अर्थ निकाले जाएंगे। अतः संचारक के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि अपने संदेश में अन्तर्निहित मान्यताओं को स्पष्ट करे।

3. गलत शब्दों में अभिव्यक्ति संदेश — दुर्बल चयनित एवं अर्थहीन शब्दों एवं वाक्यांशों, असावधानी के कारण मूल तारतम्यता का अभाव, विचारों का दुर्बल संगठन, अशुद्ध वाक्य रचना, अपर्याप्त शब्द ज्ञान, अन्धाधुन्ध पुनरावृत्तियां, ढीली अभिव्यक्तियां, अविवेकपूर्ण व्याख्यान तथा परिणामों के स्पष्टीकरण की असफलता जैसी गलतियां सामान्य बात है। स्पष्टता एवं संक्षिप्तता का यह अभाव, कीमती भूलों और महंगे सुधार की उत्पत्ति का स्रोत है तथा संचार प्रक्रिया में अवरोध उत्पन्न करता है।

4. दोषपूर्ण अनुवाद — प्रबन्धकगण उपक्रम के संचार केन्द्रों में बैठे होते हैं तथा संदेश के संवाहक एवं प्राप्तकर्ता का कार्य करते हैं। वे अधिकारियों, समान स्तर के व्यक्तियों एवं अधीनस्थों से विभिन्न प्रकार के संदेश पाते हैं तथा इसी क्रम में उन सभी प्रकार के व्यक्तियों के हितार्थ उनके लिए उपयुक्त भाषा में अनुवाद करते

हैं। बहुधा यह प्रयाप्त नहीं होता कि संदेश को केवल शब्दों की तरह ही ज्यों का त्यों आगे बढ़ा दे। प्राप्तकर्ता द्वारा संदेश को सरलता से समझने के लिए उसे उपयुक्त शब्दों द्वारा उसे ढांचे में ढला जाए जिसमें प्राप्त कर्ता संचालन करता है। यह प्रक्रिया चातुर्य की मांग करती है जो बहुधा विद्यमान नहीं होती।

5. शब्दों एवं संकेतों के विविध अर्थ — संचार में अनेक समस्याएं शब्द एवं संकेतों के अर्थ समझने में विभिन्नता होने के कारण उत्पन्न होती है जबकि संदेश प्रेषक तथा प्राप्तकर्ता सम्बन्धित अर्थ ही प्रयोग करें। जटिल एवं द्विअर्थी संकेतों एवं शब्दों से संचार अर्थहीन हो जाता है।

दृष्टिकोणात्मक अवरोध

दृष्टिकोण, बोध अथवा नजरिया व्यक्ति के व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण भाग है जो स्वयं ही अनेक घटकों एवं चरों का एक समूह होता है। समय एवं परिस्थितियों पर निर्भर व्यक्ति की व्यापक सोच, रुझान, भावना तथा मनोविज्ञान के द्वारा दृष्टिकोण का सृजन होता है। यह दृष्टिकोण क्रमिक स्वयं संचार में व्यवधान साधारण बात होती है जो सम्पूर्ण संचार तन्त्र को बिगाड़ देती है। ये प्रभावी संचार की भौतिक बाधाएं हैं। प्रमुख दृष्टिकोणात्मक अवरोध निम्न है—

1. ध्यान न देना — कई बार संदेश पाने वाले व्यक्ति की संदेश में कोई रुचि नहीं होती। लोग आमतौर पर लम्बी-लम्बी रिपोर्टें, सरकुलर, पत्रों, नोटिसों, बुलेटिनों को पढ़ते ही नहीं हैं। मौखिक संचार में श्रोता शारीरिक रूप से उपस्थित तथा मानसिक रूप से अनुपस्थित हो जाता है। किसी की बात न सुनना इन्सान का परम्परागत गुण है। हमारी आदत है कि हम वही बात सुनते हैं जिसमें हमारा स्वार्थ होता है। संचार की सबसे बड़ी रुकावट मनुष्यों की यह मनोवृत्ति है कि वे प्रत्येक मामले का अपने व्यक्तिगत नजरिये से देखते हैं तथा बहुत सी चीजों को अनदेखा व अनसुना कर देते हैं।

2. अपरिपक्व मूल्यांकन — कुछ लोग सूचनाओं के संचार में इतने तेज होते हैं कि प्रेषक से पूरी सूचनाओं की प्रतीक्षा किए बिना ही उसको प्राप्त हुआ समझ बैठते हैं। यह प्रेषक को भ्रम की ओर धकेल सकता है तथा एक व्यर्थ की गतिविधि बन जाती है। फिर प्रेषक ऐसी जल्दी करने वाले मूल्यांककों को सूचनाओं के प्रेषण में शंकातीत हो सकता है।

3. संचार पर अविश्वास — कुछ उच्चाधिकारी बिना सोचे-विचारे, अविवेकपूर्ण, बढेंगे निर्णयों, दुर्बल चयनित शब्दावली, गलत निर्णयों के संचार के लिए प्रसिद्ध होते हैं। इनके संदेशों के साथ बार-बार होने वाले अनुभव अधीनस्थों की धीरे-धीरे कार्य करने में देरी तथा निरुत्साहित होकर काम करने की दशाएं उत्पन्न करते हैं। क्योंकि ऐसे व्यक्तियों से मिले संदेशों के विषय में सदैव पुर्वानुमान लगा लिया जाता है कि उस निर्णय में परिवर्तन के आदेश पुनः आते ही होंगे। अधीनस्थ ऐसे संचारों को गंभीरता से नहीं लेते तथा संचारक का अविश्वास संचार की प्रभावपूर्णता को अवरुद्ध करता है।

4. संचार का विरोध — संचार का विरोध संप्रेषित की एक व्यापक बाधा होती है। कुछ लोग गलत सोचने की ओर उद्यत होते हैं कि सूचनाओं को संप्रेषित करना नहीं चाहिए। इसकी कोई आवश्यकता नहीं है तथा लोग इसके बारे में पहले ही जानते हैं। संचार में असफलता इस भावना से भी उत्पन्न होती है कि प्राप्तकर्ता को नीचा दिखाया जाए या उच्च।

5. चयनित बोध — संचार प्रक्रिया में अन्तर्निहित एक मान्यता है कि प्राप्तकर्ता और प्रेषक दोनों खुले दिमाग वाले होते हैं, जो अबाध तरीकों से सूचनाओं के प्रक्रियाकरण हेतु उनको समर्थ बनाते हैं। यदि लोग अपने निजी संकीर्ण उद्देश्यों तथा विचारों के प्रति अपनी कार्य सूची को सीमित करते हैं तो कोई भी प्रभावी संचार सम्भव नहीं हो पाएगा, क्योंकि बन्द दिमाग वाले सभी सूचनाओं की अनावश्यक अधिकार मानकर लेते हैं तथा निश्चित नजरिया मानते हैं।

6. संचार न करना — कई बार सूचना रखने वाला व्यक्ति सुस्ती के कारण सूचना भेजता ही नहीं है जो यह सोच लेता है कि यह बात तो सबको पता है, इसे क्या संचारित करना।

7. अनावश्यक मिश्रण एवं छानना — प्रत्येक व्यक्ति अपने निहित दृष्टिकोण से संदेश का अवलोकन एवं मूल्यांकन करता है। स्वाभाविक रूप में कोई भी व्यक्ति अपनी कमजोरी दूसरों को नहीं बताता और वह सूचना की जांच पडताल करके वही संदेश आगे भेजता है जो उसके हित में है तथा वह मौखिक संदेश में निहित कारणों से अनावश्यक मिश्रण भी कर देता है। इसमें संदेश का निरूपण हो जाता है और प्राप्त कर्ता को संदेश तोड़-मोड़कर प्रस्तुत करता है।

संगठनात्मक अवरोध

व्यवसाय में पूर्व-निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संगठनात्मक ढांचे का निर्माण आवश्यक है ताकि प्रत्येक अपनी सम्पूर्ण क्षमता से समान उद्देश्यों की प्रगति के लिए अग्रसर हो सके। इस संरचना के सफल संचालन के लिए औपचारिक सम्बन्ध का सृजन, नीतियों, कार्यक्रमों, आचार-संहिता, नियमावली तथा मार्गदर्शक सिद्धान्तों की रचना की जाती है। संगठन के कार्यों एवं संरचना को एक सूत्र में पिरोने के लिए संचार व्यवस्था अपरिहार्य होती है। संचार तन्त्र शृंखला एवं प्रक्रिया में अनेक बाधाओं का समावेश हो जाता है। संचार की प्रमुख संगठनात्मक अवरोध निम्नलिखित हैं —

1. शोर — मौखिक संचार में शोर एक प्रमुख भौतिक बाधा है। कारखानों में मशीनों एवं कलपुर्जों की आवाज में मौखिक संचार दब जाते हैं एवं कोई प्रभाव नहीं छोड़ते। इसी प्रकार विभिन्न यन्त्रों में दोष होने से उत्पन्न शोर के द्वारा संचार अप्रभावी होता है, टेलीफोन के ढीले कनेक्शन अथवा तारों की खराबी के कारण, टी. वी. प्रसारण अथवा ध्वनि तरंगों के अन्य कमियों के कारण दोषपूर्ण संचार होता है। कार्यालय में भी जहां शोर रहता है, जैसे आगन्तुक स्थल, टंकण मशीन या शोर पैदा करने वाले उपकरण के समीप स्थानों पर संचार में रुकावट एवं बाधा उत्पन्न होती है।

2. समय एवं दूरी — समय एवं दूरी भी संचार के स्वाभाविक प्रवाह में महत्वपूर्ण बाधा है। यद्यपि सूचना तकनीक के नवीन यन्त्रों कम्प्यूटर, इ. मेल, वीडियो कान्फ्रेंसिंग, इन्टरनेट आदि ने दूरी एवं समय की बाधा को काफी कम किया है। लेकिन यदि यान्त्रिक खराबी के कारण उक्त यन्त्रों में रुकावटें आती हैं, तो यह सुविधाएं अर्थहीन हो जाती हैं। संचारक तथा संचार प्राप्तकर्ता के मध्य की दूरी एवं समय विभिन्नता अनेक संचार समस्याओं को जन्म देती है। इसी प्रकार यदि कार्यालयों में बैठने की दोषपूर्ण व्यवस्था है तो संचार में बाधा उत्पन्न होती है।

3. संगठनात्मक नीतियां, नियम एवं नियमावली — संगठन की नीतियां, नियम एवं नियमावली भी संचार प्रवाह को प्रभावित करते हैं। संगठनात्मक नीति संचार माध्यम की दिशाओं एवं मार्ग को प्रभावित करती है। इसी प्रकार

संगठन के नियम एवं नियमावली भी संचार शृंखला, स्तरों एवं जाल का निर्माण करते हैं। नियम कठोर एवं ढांचा विषम हो तो संचार प्रक्रिया में बाधाएं होने की अधिक संभावना रहती है। संचार में विलम्ब, संचार के उचित फैलाव का अभाव, संचार के कुछ अंश के छूट जाने का भय, अफवाहों का जन्म, आदि प्रमुख समस्याएं उत्पन्न होती हैं।

4. भय — नीचे से ऊपर की ओर आने वाले संचार की दशा में अधीनस्थ कर्मचारी अपने अफसरों को अप्रिय सूचनाएं भेजते हुए डरते हैं। बुरी या अप्रिय सूचना से उत्पन्न होने वाले परिणामों से वे जानबूझ कर अपने अफसरों से ऐसी सूचनाएं छिपाकर उन्हें गुमराह करते हैं। बहुत से कर्मचारी डरते हैं कि संस्था के सम्बन्ध में अपनी सही भावनाओं को अफसरों को बताना खतरनाक हो सकता है। यह भी धारणा रहती है कि जब उन्हें अच्छे सुझाव देने से कोई फायदा ही नहीं होगा तो कोई सुझाव दिया ही क्यों जाए।

5. मार्गस्थ हानि — प्रत्येक स्तर पर मौखिक संचार में एक ही संदेश क्रमिक घटते हुए दर से होता है। यदि संरचना में कई स्तर हैं तो मौखिक संदेश प्रत्येक स्तर पर घटता जाता है या कुछ परिवर्तित हो जाता है। एक अधिकृत अनुमान के अनुसार मौखिक संचार में प्रत्येक स्तर पर लगभग 30 प्रतिशत सूचनाएं खो जाती हैं। अतः यह कठिन हो जाता है कि विभिन्न स्तरों से गुजरकर प्राप्त संदेश पर विश्वास किया जाए।

6. घटिया रख-रखाव — लिखित संदेशों का उचित विधि से रख-रखाव न होना भी एक गंभीर समस्या है। विभिन्न अध्ययनों से यह पता चलता है कि कर्मचारी केवल 50 प्रतिशत संचार योग्य सूचनाओं तथा अधीक्षकगण 60 प्रतिशत संचार योग्य सूचनाओं का रखाव करते हैं। ऐसी स्थिति में संचार पुनरावृत्ति की आवश्यकता प्रतीत होती है।

7. अपर्याप्त सन्तुलन काल — कभी-कभी संचार समय, स्थान, प्रकार तथा कार्य के क्रम में तथा सामूहिक व्यवस्थाओं, में परिवर्तन के रूप में, जिसके कर्मचारियों पर गंभीर प्रभाव पड़ता है, परिवर्तनों की घोषणा करता है। कुछ संदेश अतिरिक्त प्रशिक्षण, व्यावसायिक समायोजन या पदस्थिति व्यवस्थाओं के परिवर्तन की ओर संकेत करते हैं। परिवर्तन अधीनस्थों को अनेक रूपों से प्रभावित करता है तथा संदेश के पूर्ण अर्थ के बारे में सोचने में समय लग सकता है। संचार को तभी प्रभावी बनाया जा सकता है जबकि अधीनस्थों को पर्याप्त समय दिया जाए।

8. लक्ष्यों का विवाद — संगठनात्मक संरचना में विभिन्न विभागों एवं उप-विभागों के अपने आन्तरिक लक्ष्य होते हैं। विभागीय लक्ष्यों के कारण विवादों का जन्म होता है। यद्यपि संचार विवादों को कम करने वाला प्रमुख प्रबन्धकीय तन्त्र है, लेकिन विवाद संचार में कमी लाते हैं। यदि दो पक्षों में विवाद है तो संचार न्यूनतम होता है। इसी प्रकार शिकायतें, संदेश, परिवेदनाएं, अनावश्यक सूचनाएं संचारित करने लगते हैं तो संचार में अनेक बाधाएं उपस्थित हो जाती हैं।

व्यक्तिगत अवरोध

संचार अन्तःव्यक्तिक सम्बन्धों की भी प्रक्रिया है। संदेश प्रेषक एवं प्राप्तकर्ता के मध्य अन्तव्यैक्तिक सम्बन्ध विभिन्न मात्राओं में विभिन्न स्तरों में विद्यमान होता है। स्थिति एवं पद, विवाद, अधिकार सम्बन्ध की असंगतता परस्पर विरोधी व्यक्तिगत मूल्य तथा हित एवं व्यक्तित्व टकराव संचार शृंखलाओं में व्यवधान करते हैं। संगठनात्मक संरचना में उपरिमुखी एवं अधोमुखी संचार का विश्लेषण करें तो निम्न दो प्रकार की व्यक्तिगत अवरोध दृष्टिगोचर होते हैं।

(अ) उच्चाधिकारियों की बाधाएं — वरिष्ठ एवं उच्चाधिकारियों की संचार में महत्वपूर्ण भूमिका होती है क्योंकि संगठन संरचना में शीर्ष पर अधिकार सम्पन्न होने के कारण संचार को प्रभावित करने की स्थितियों में होते हैं। इस वर्ग को प्रमुख बाधाएं निम्न हैं —

1. समय का अभाव — उच्चाधिकारी यह महसूस करते हैं कि उन पर कार्य का अधिक बोझ है। समयाभाव के कारण वह कम सन्देशों का आदान-प्रदान करते हैं।

2. संचार से बचाव — कभी-कभी उच्चाधिकारी अपने महत्व को प्रदर्शित करने के लिए जान-बूझकर संचार से बचते हैं। पद के गौरव के कारण अधीनस्थों से खुले हृदय से बात नहीं कर पाते या आक्रमक शैली में संचार करते हैं।

3. उचित माध्यम से संचार — उच्चाधिकारियों में यह स्वाभाविक मनोवृत्ति होती है कि संदेशों को उचित माध्यम से ही स्वीकार करते हैं। वे संचार कमियों को अनेदखा करना पसन्द नहीं करते हैं जिसमें कभी संचार में अनावश्यक विलम्ब भी होता है। अपनी झूठी शान के कारण अपने अधीनस्थों की बात नहीं सुनते।

4. अधीनस्थों पर विश्वास की कमी — उच्चाधिकारियों में साधारण धारणा होती है कि अधीनस्थ कम कौशल एवं क्षमता वाले होते हैं। वे उच्चाधिकारियों को रचनात्मक सुझाव या वांछित जानकारी का संचार नहीं कर सकते हैं।

(ब) अधीनस्थों की बाधाएं —संचार प्रक्रिया तभी प्रभावी हो सकता है जब अधीनस्थों की अधिक प्रभावी भूमिका हो। संचार प्रक्रिया में अधीनस्थों की बाधाएं निम्न हैं —

1. संचार में अरुचि — अधीनस्थों में संचार के प्रति जागरूकता का अभाव होता है। वे अनजाने भय एवं लापरवाही के कारण भी संचार नहीं करते हैं। उच्चाधिकारियों के नाराज होने की आशंका में सूचनाओं को प्रेषित करने से बचते हैं। अधीनस्थ हीन बोध के कारण निर्भीक भाव से अपने विचारों को उच्चाधिकारियों के समक्ष प्रस्तुत नहीं कर पाते हैं।

3. उचित प्रेरणा का अभाव — प्रेरणा का अभाव भी अधीनस्थों को संचार के प्रति उदासीन बनाता है। संस्था की पुरस्कार एवं दण्ड नीति भी इसके लिए उत्तरदायी होती है। वे महसूस करते हैं कि उनके सुझाव, शिकायत आदि परिस्थितियों में कोई परिवर्तन नहीं करेगी।

3. सुरक्षात्मक संचार — अधीनस्थ अधिकांशतः सुरक्षात्मक शैली में संचार करते हैं। सदैव बचाव वाली मुद्रा में अपना संचार करते हैं।

अहिंसा एवं शांति में संचार व्यवस्था का योगदान

हमारे समाज के परिवर्तन हेतु संचार माध्यम का बहुत बड़ा योगदान होता है। इसके लिये विभिन्न सभाओं, गोष्ठियों, पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से विचारों के आदान प्रदान होता है। संचार माध्यम इस तरह के वातावरण के निर्माण में सक्षम होता है जिससे व्यक्ति एवं समाज में समन्वय का वातावरण निर्मित हो। वर्तमान में अपनी सृजनात्मक उपयोगिता के संदर्भ में उल्लेखनीय भूमिका का निर्वहन कर रहा है। विश्लेषण की दृष्टि से यदि विचार करे तो आज यांत्रिकता प्रायः समस्त क्षेत्रों में हावी हो गई है। किन्तु इतनी सर्तकता अवश्य रखी जानी चाहिये जिससे मनुष्य का विवेक जागृत अवस्था में रहें। यदि वर्तमान के यांत्रिकता सदृश्य जीवन से उत्पन्न जटिलताओं को समय पर समझ लिया जाए तो इसके दुष्प्रभावों को समय रहते रोका भी जा सकता है।

सामाजिक, पारिवारिक , और इससे उत्पन्न शांति के बीच गहरा संबंध है इन संबंधों पर विचार करने पर हम पाते हैं कि संचार क्रांति ने इन्हे मजबूत करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। संचार क्रांति की इस विविध बहुरंगी बहुआयामी संरचना का मूल मंत्र यही है कि आज जिस तरह से सूचना तंत्र की क्रांति ने मनुष्य को प्रभावित किया है वो किसी भी तंत्र की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है। शांति स्थापना के संदर्भ में यह भी महत्वपूर्ण है कि सूचना क्रांति किसी वर्ग विशेष समुदाय विशेष, का ही नहीं अपितु समूचे जन मानस को प्रभावित करने की क्षमता रखती है। भले ही वे विश्व के किसी भी भाग में रहते हों।

संचार सिद्धान्त के प्रमुख प्रणेता माइनर के अनुसार संचार अत्यधिक शक्तिशाली माध्यम है जो एक साथ कई व्यक्तियों या कई व्यक्ति समूहों को प्रभावित करने की अदम्य क्षमता रखता है किन्तु साथ ही इसका प्रयोग उचित उद्देश्यों एवं उचित तरीकों से किया जाना चाहिये। वीनर ने संचार की प्रक्रिया की वाहन के स्टेयरिंग से तुलना की है जो कि वाहन को इच्छित दिशा में ले जा सकता है बशर्ते उसका उपयोग सही हाथों में हो। इनके अनुसार संचार प्रक्रिया के दो मुख्य पक्ष होते हैं, प्रथम जो सूचनाओं को प्रेषित करता है। दूसरा पक्ष जो सूचनाओं को प्राप्त करता है। वीनर के अनुसार इस प्रक्रिया में संचार सामग्री का ही श्रेय नहीं है, अपितु इसको सम्प्रेषित किये जाने वाला पक्ष भी महत्वपूर्ण है, अन्यथा अपेक्षित उद्देश्यों की प्राप्ति कर पाना संभव नहीं है। समाजशास्त्रियों के अनुसार व्यक्तिगत पारिवारिक, सामाजिक स्तर पर क्रांति स्थापना के लिये निम्न परिस्थितियों का होना आवश्यक है।

- 1 संचार नीतियां समयबद्ध तथा प्रकृति के अनुसार होनी चाहिये।
- 2 संचार नेटवर्क पर्याप्त होना चाहिये अर्थात् संचार की भूमिका एक छोटा कुलीन वर्ग तक सीमित नहीं होनी चाहिये।
- 3 संचार साधनों की भूमिका समाज के विभिन्न वर्गों के बीच विद्यमान खाई कम करने की होनी चाहिये।
- 4 संचार नेटवर्क में परम्परागत एवं जनमाध्यमों का प्रयोग किया जाना चाहिये।
- 5 लोगों को उन परिस्थितियों की जानकारी देनी चाहिये जिससे संचार कार्य को सही ढंग से निष्पादित किया जा सके।

अतः इस तथ्य को स्वीकार किया जाता है कि जनसंचार माध्यमों को शांति स्थापना का प्रभावी उपकरण बनाया जा सकता है। पुरानी परम्पराओं रूढ़ियों रीति-रिवाजों के आधार पर निर्मित सोच को बदलना आसान नहीं होता। उनको परिवर्तित करने की प्रक्रिया अक्सर धीमी होती है। दृष्टिकोण, आस्था, सामाजिक विश्वास और सामाजिक मूल्यों को बदलने के लिये व्यक्ति परिवार तथा समूह को शिक्षित करने का एक बड़ा व्यापक अभियान आवश्यक हो जाता है। जो कि समाज में स्थापित मूल्यों व रूढ़ियों में परिवर्तन कर सके तथा यह निश्चित कर सके कि कार्य विशेष शुभ कल्याण के उद्देश्य से ही किया जाना आवश्यक है। आधुनिक प्रचार प्रसार के माध्यमों की भूमिका पर प्रकाश डालना हो तो हम पायेंगे कि बदलते सामाजिक परिवेश में आधुनिक संचार क्रांति ने नई संभावनाएं उजागर की हैं। बदलते हुए परिदृश्य में यह कहा जा सकता है कि इन प्रसारण माध्यमों की क्रांति से समस्त विश्व में मानवीय संवेदना के नये आयाम स्थापित हुए हैं। और इसने पूरे विश्व को विश्व बंधुत्व के एक ही सूत्र में बांधने की कोशिश की है। नई तकनीक ने नये विकल्पों को जन्म दिया है जिससे ज्ञान, शिक्षा और चिंतन के नये आयाम स्थापित हो गये हैं, किन्तु इसके साथ साथ हमारे समाज को उपयोगितावादी संस्कृति में लपेटने में भी इन संचार माध्यमों ने विशेष प्रभाव डाला है। जिससे भारतीय जनमानस का एक बहुत बड़ा वर्ग पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता के प्रभाव में आ गई है।

समाजशास्त्री **B.N. Gupta** ने कहा है कि “ आज का सबसे बड़ा खतरा है पूर्व प्रौढ़ता का वर्तमान का किशोर अपनी कल्पना की दुनिया में अवास्तविक समाज का बना लेता है। निष्कर्ष यह होता है कि वह लोगों की परिस्थितियां तथा समस्याओं के वास्तविक स्वरूप को समझने की चाह खो बैठता है। मनोवैज्ञानिकों की नजर में व्यक्तिगत अन्तर्द्वंदों के कारण से किशोर के मनमस्तिष्क पर एक भ्रम छा जाता है” किन्तु **B.N. Gupta** के इस मत पर कुछ विशेषज्ञों का कहना है कि जब अशांति की परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं तो वहां पर जरूरी हो जाता है कि शांति स्थापना के नये आयामों का विकास किया जाये। इन आयामों में संचार माध्यमों को हम एक बड़ा भागीदार मान सकते हैं। जिस तरह से आज के समय में बदलाव व बिखराव दिखाई दे रहा है और समाज विघटन के दौर से गुजर रहा है तब ऐसे में आवश्यक है कि सूचना के इस तंत्र के द्वारा लोगों को शिक्षित व जागरूक बनाया जाये। इस प्रकार यह संचार माध्यम एक नई प्रकार की सकारात्मक सामाजिक क्रांति को जन्म दे सकते हैं। यदि संचार साधनों को अपने उद्देश्यों का अनुरूप प्रयोग किया जाए तो समाज में शांति स्थापित करने में संचार साधनों की महत्वपूर्ण भूमिका को रेखांकित किया जा सकता है। इस परिवेश में यह भी मानना होगा कि इन संचार माध्यमों के द्वारा एक प्रकार की संचार क्रांति को जन्म दिया जा सकता है तथा विश्व के शोधकर्ताओं का मत है कि यह क्रांति समाज की ऐसी तसवीर को उजागर करेगी जिसका चारों ओर शांति ही शांति होगी।

अभ्यास हेतु प्रश्न

(अ) लघुत्तम/वस्तुपरक उत्तर

1. संचार का क्या तात्पर्य है?
2. संचार के कितने पक्ष हैं ?
3. “संचार का मूल लक्ष्य समान विषयों पर मस्तिष्कों में मेल स्थापित करना है” यह कथन किसका है?
4. ‘मिलेट’ के अनुसार सम्मेलन प्रणाली के कितने लाभ हैं?
(अ) 6 (ब) 9 (स) 12
5. संचार में कितने स्तर पर बाधाएं होती हैं ?
(अ) 3 (ब) 5 (स) 7
6. संगठनात्मक अवरोध कितने प्रकार के होते हैं?
7. माइलर के अनुसार संचार किस प्रकार का माध्यम है ?

(ब) लघु उत्तर

1. संचार की क्या विशेषताएं हैं ?
2. संचार की भूमिका पर प्रकाश डालें।
3. संचार के प्रभावशीलता बढ़ाने वाले तत्व लिखें।
4. संचार की बाधाओं का वर्णन करें।

(स) निबन्धात्मक उत्तर

1. संचार का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसकी भूमिका पर प्रकाश डालें।
2. अहिंसा शांति क्षेत्र में संचार के योगदान पर प्रकाश डालें।
3. संचार के मार्ग में विभिन्न बाधाओं एवं अवरोधों का विस्तार से वर्णन करें।

इकाई-5

शांतिपूर्ण समाज के तत्व

अहिंसा एवं शांति के समाजशास्त्र के अन्तर्गत पांचवी एवं अन्तिम ईकाई में निम्न बिन्दु विचारणीय होंगे :

1. शांतिपूर्ण समाज से अभिप्राय
2. समानता
3. स्वतन्त्रता
4. न्याय
5. शाश्वत विकास

उद्देश्य

1. शांतिपूर्ण समाज की मुख्य अहर्ताएं समझना।
2. समानता के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि पक्षों पर विचार करना।
3. न्याय के विभिन्न क्षेत्रों का अहिंसात्मक समाज के सन्दर्भ में मूल्यांकन करना।
4. पर्यावरणीय आचार के अन्तर्गत विकास, कुविकास एवं शाश्वत विकास की अवधारणाओं को समझना।
5. शांतिपूर्ण समाज का अभिप्राय समझना।
6. समानता के विभिन्न पक्षों को समझना।
7. स्वतंत्रता एवं न्याय के शाश्वत मूल्यों का मूल्यांकन करना।
8. विकास के मूल्यों को समझना।

शांतिपूर्ण समाज से अभिप्राय

समाज में रहने वाले मनुष्य किसी न किसी संबंधों के माध्यम से आपस में जुड़े हुए होते हैं। इन मनुष्यों के मध्य होने वाली अन्तःक्रियाएं समाज को मनुष्यों के समूह से पृथक एक व्यवस्था का रूप देती हैं। एक समाज को शांतिपूर्ण कहने के लिये आवश्यक है कि समाज में रहने वाले प्रत्येक मनुष्य की स्थिति इतनी संतोषप्रद हो कि उसमें क्रांति की संभावनाएं न के बराबर हो।

अनेक बार समाज में प्रकटित: शांतिपूर्ण अवस्था दिखाई देती है किन्तु यदि उस समाज में विषमता अन्याय , शोषण , दमन आदि कारक विद्यमान हैं तो वह शांति वास्तविक शांति नहीं होगी। उस समाज में पीडित और शोषित वर्ग सदैव क्रांति की संभावनाओं को अपने मन में विद्यमान रखेंगे। ऐसे में संभव है कि सदैव मौन रहने वाला वर्ग अपने आक्रोश को अचानक अभिव्यक्त करे और समाज में क्रांति हो जाए। इतिहास में होने वाली सभी क्रांतियां चाहे फ्रांस , , अमरीका, ब्रिटेन, भारत किसी भी देश में सामान्यतः अन्याय के प्रतिकार स्वरूप ही हुई हैं। अतः शांतिपूर्ण समाज वह समाज हो सकता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये न्यूनतम अवसर उपलब्ध हो तथा जहां समानता, स्वतंत्रता और न्याय के साथ-साथ ही शुद्ध पर्यावरणीय परिस्थिति जैसे तत्व विद्यमान हों।

1 समानता — समानता सदैव ही राजनीतिक और सामाजिक चिंतन का विषय रही है। समानता एक ऐसा तत्व है जिसकी उपस्थिति समाज को न्यायोचित स्थिति प्रदान करता है। समानता की मांग हमारे समाज में अधिकारों के लिये की जाने वाली मांग का ही एक हिस्सा है। प्रत्येक मनुष्य के साथ समान व्यवहार किया जाना चाहिये। किन्तु निरपेक्ष समानता असम्भव है। मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक समानताएं भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। किन्तु इस आधार पर अन्यायपूर्ण व्यवहार अनुचित होगा। समानता वर्तमान में एक ऐसा तत्व बन गया है जिस पर अनेक प्रश्न चिन्ह लगे हैं। वर्तमान के संदर्भ में समानता का मुख्य उद्देश्य है सामाजिक परिवर्तन। यह सामाजिक जीवन से उन असमानताओं को दूर करने की मांग है जो शांतिपूर्ण समाज के लिये अनुचित हैं। यह कहा जा सकता है कि विषमताओं को दूर करने का अर्थ है सामाजिक परिवर्तन करने की मांग। रूसों के प्रसिद्ध निबंध 'Euepudity' में दो प्रकार की विषमताओं का वर्णन किया है 1 प्राकृतिक 2 पारम्परिक 1 प्राकृतिक विषमता— वस्तुस्थिति का वर्णन देती है जैसे आयु, स्वास्थ्य, सौंदर्य, बाहुबल, बुद्धिबल आदि में पायी जाने वाली असमानताएं प्राकृतिक देन हैं। यह अपरिवर्तनीय होती है। इनके सृजन में सामान्यतः मनुष्य का विशेष योगदान नहीं होता तथा वह उनमें फेरबदल कर सकता है।

2. परम्परागत विषमताएं — धन, संपत्ति, प्रतिष्ठा और शक्ति की विषमता इसके अन्तर्गत मानी जाती है। समाज के संसाधनों पर प्रायः कुछ गिने- चुने व्यक्तियों का अधिकार किया जाता है तथा सत्ता के प्रतिष्ठानों पर भी कुछ विशेष वर्ग का नियंत्रण रहता है। जबकि बहुजन वर्ग प्रायः इससे वंचित रहता है। समाज में वर्ण, जाति आदि के भेद को लेकर किया जाने वाला व्यवहार सामाजिक व्यवस्था की ही देन है। किन्तु चूंकि यह भेद मनुष्य कृत है अतः इनमें परिवर्तन किया जा सकता है।

समानता के सिद्धान्त को सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में लागू किया जा सकता है यही कारण है कि हम सामानता के विधिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी परिपेक्ष्यों की चर्चा करते हैं। वास्तव में यह परिप्रेक्ष्य एक दूसरे से इतना निकटता से जुड़े हैं कि इनमें विभाजक रेखा खींचना बहुत कठिन होगा।

विधिक समानता

इससे अभिप्राय है कि विधि के समक्ष सभी समान हैं और समाज के सभी सदस्यों को इसका संरक्षण प्राप्त है। समाज में जन्म, लिंग, जाति, वर्ण, वंश आदि के आधार पर न्याय कोई भेद भाव न करे। न्याय तक सभी की पहुंच समान हो और मुक्त और निशुल्क कानूनी सहायता को राज्य के द्वारा उपलब्ध कराना विधिक समानता के लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायक हो सकता है।

राजनीतिक समानता

इसका अर्थ यह है कि नागरिकों को राजनीतिक अधिकारों की समानता अर्थात् निर्णायक संस्थाओं में समानता के आधार पर प्रतिनिधित्व अर्थात् एक व्यक्ति को उपरोक्त वर्णित मानव निर्मित विभिन्नताओं के आधार पर मतदान के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता। राजनीतिक समानता का यह सिद्धान्त इस आधार पर टिका हुआ है कि मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है और निश्चित आयु के पश्चात वह राजनीतिक समझ रखता है। मनुष्यों में बुद्धि, संपत्ति आदि की दृष्टि से है कितनी भी असमानता हो, किन्तु प्रत्येक मनुष्य को राजनीतिक अधिकार प्राप्त होंगे तभी वे सर्वहित की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति प्रदान कर सकेंगे। इतिहास साक्षी है कि न्यायिक समानता के साथ-साथ राजनीतिक समानता की मांग हेतु कई जन आंदोलन हुए हैं जिसमें लिंग भेद, वर्ण भेद, तथा धर्म भेद के आधार पर मताधिकार से वंचित किये जाने के विरोध में प्रमुख आंदोलन हुए हैं। इस प्रकार राजनीतिक समानता का विचार एक विशेष विचार के रूप में आया और विभिन्न देशों में लोकतंत्र की स्थापना में सहायक हुआ।

समानता अपने मूल स्वरूप में औपचारिक समानता की सूचक है जिसेकी भेदभाव के अभाव के रूप में व्यक्त कर सकते हैं। वही सामाजिक व आर्थिक समानता किन्ही अधिक सकारात्मक परिवर्तन की अपेक्षा करती है। अतः सामाजिक व आर्थिक समानता का विचार सामाजिक व आर्थिक रूप से विकसित होने के लक्ष्य की ओर सूचित करता है। सामाजिक, समानता से तात्पर्य है कि समाज में सभी धर्मों वंश, लिंग, जाति, वर्ण आदि के आधार पर कोई भेदभाव न हो तथा समाज में सभी को सम्मानपूर्ण जीवन जीने का अधिकार हो। इसके अन्तर्गत राज्य को अस्पृश्यता उन्मूलन, जातिवाद, साम्प्रदायिकता आदि दोषों को दूर करना उसके दायित्व में सम्मिलित होगा।

आर्थिक समानता

आर्थिक समानता से तात्पर्य प्रत्येक व्यक्ति को जीवन की न्यूनतम मूलभूत आवश्यकताएं प्राप्त हो तथा कोई भी व्यक्ति किसी प्रकार के आर्थिक शोषण का शिकार न हो। आर्थिक समानता का विचार वर्तमान संदर्भों में अत्यधिक लोकप्रिय विचार है इसी कारण ही आधुनिक राज्य ने लोककल्याणकारी स्वरूप धारण कर लिया है। कल्याणकारी राज्य की नीतियां मुख्यतः समाज के उस वर्ग पर केन्द्रित रहती हैं जो सामान्यतः मूलभूत सुविधाओं देकर ऐसी सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था करता है जिनका लाभ मुख्यतः निर्धन वर्ग को प्राप्त होता है। राज्य की ओर से जनसाधारण के लिये शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, विश्राम स्थल तथा परिवहन सुविधा, अनाज, आदि की व्यवस्था, सामाजिक, आर्थिक दिशा में कुछ प्रयत्न हैं। उद्योगों में काम की परिस्थितियां न्यूनतम मजदूरी, मुआवजा, वृद्धास्थावस्था पेंशन इत्यादि सामाजिक एवं आर्थिक समानता की दिशा में सहायक होते हैं।

सांस्कृतिक समानता

सांस्कृतिक समानता से अभिप्राय है कि किसी भी व्यक्ति को अपनी संस्कृति के पालन व सम्मान की पूर्ण स्वतंत्रता हो। भारतीय संविधान में प्रत्येक सांस्कृतिक समूहों को समान दर्जा दिया गया है। अनुच्छेद 29,30, में अल्पसंख्यक या कोई भी विशिष्ट समूह सभी को अपने सांस्कृतिक मूल्यों को समान रूप से अपनाने का अधिकार प्राप्त है। सांस्कृतिक समानता के साथ-साथ विभिन्न संस्कृतियों का आपस में अन्तर्व्यवहार भी संस्कृतियों के विकास के लिये अपेक्षित होता है।

स्वतंत्रता

एक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में स्वतंत्रता का विश्लेषण करने से पहले इसके दो सामान्य अर्थों का संदर्भ देना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रथम अर्थ में स्वतंत्रता मानवीय अस्तित्व का एक गुण है। इसका अभिप्राय यह है कि जहां प्रकृति के अन्य तत्वों, वस्तुओं या जीव जन्तुओं निर्विकार नियमों से नियमित होते हैं, वही मनुष्य केवल ऐसा प्राणी है जो प्रकृति के नियमों का ज्ञान प्राप्त करके उन्हें अपने उद्देश्यों की पूर्ति का साधन बना सकता है। अतः वह अपने जीवन को मनचाहा रूप दे सकता है। देखा जाये तो मनुष्य की सम्पूर्ण सम्यक्ता एवं संस्कृति इसी गुण की देन है। परन्तु व्यवहार के धरातल पर विभिन्न व्यक्तियों की स्थिति भिन्न भिन्न हो सकती है। दूसरे अर्थ में स्वतंत्रता मनुष्य की दशा है जिसमें मनुष्य स्वयं निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति में समर्थ हो सकता है और इस पर बाहर से ऐसे कोई बंधन नहीं लगे होते हैं जो उसे अपने जीवन को मनचाहा रूप देने से रोकते हैं। यह विचार महत्वपूर्ण है कि मनुष्य की स्वतंत्रता का विचार तभी हमारे सामने आता है जब हम मनुष्य की स्वतंत्रता के गुण या क्षमता को स्वीकार करते चलते हैं। राजनीतिक सिद्धान्त का मुख्य सरोकार स्वतंत्रता की दशा से है। जे. आर. लिंग के अनुसार स्वतंत्रता का सार्वभूत अर्थ यह है कि विवेकशील कर्ता को जो कुछ सर्वोत्तम प्रतीत होता हो उसे करने में वह स्वतंत्र हो। उसके क्रियाकलाप बाह्य अवरोधों से बाधित न हो। यदि विवेकशील प्राणी को स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होगी तो वह अपनी क्षमताओं का सदुपयोग नहीं कर पायेगा। स्वतंत्रता के न होने का अर्थ है खंडित, अशांत और निष्फलता की स्थिति। जबकि स्वतंत्र होने का अर्थ अपने आदर्शों को यथार्थ मूल्य में परिणीत करने का सामर्थ्य और अपने व्यक्तित्व की क्षमताओं को मूर्त रूप देने की उपलब्धता है। औपचारिक रूप से स्वतंत्रता की मांग अपने व्यक्तित्व की क्षमताओं को मूर्त रूप देने के लिये विवेकशील कर्ता के द्वारा की जाती है। जो सिद्धान्त सभी मनुष्यों को समान रूप से विवेकशील प्राणी मानते हैं वे सभी को एक ऐसी स्वतंत्रता देने के पक्ष में हैं। परन्तु जो सिद्धान्त यह मानकर चलते हैं कि तर्क, बुद्धि या विवेक गिने चुने लोगों तक सीमित होता है वे स्वतंत्रता की मांग किसी सिमित वर्ग के लिये ही करते हैं। वास्तव में सच्ची स्वतंत्रता वह है जो सभी मनुष्यों को समान रूप से प्राप्त हो अर्थात् स्वतंत्रता और समानता एक दूसरे के पूरक हैं और स्वतंत्रता रूपी मूल्य समानता के साथ ही सार्थक होते हैं प्रसिद्ध समाजशास्त्री अमीश वोलकर ने अपनी पुस्तक 'द प्रिंसिपल आफ सोशल' के अन्तर्गत स्वतंत्रता के सिद्धान्त का निरूपण करते हुए चर्चा का आरंभ जर्मन दार्शनिक कांट की इस उक्ति से किया है कि " विवेकशील प्रकृति अपने आप में साध्य होती है। चूंकि मनुष्य इसी विवेकशील प्रकृति की श्रेणी में आता है अतः मानव मात्र को सदैव एक साध्य मानकर चलना चाहिये साधन नहीं। " इस प्रकार राज्य के सभी सदस्य स्वतंत्रकर्ता होने चाहियें। उनमें से किसी को दास बनाकर रखना अनुचित होगा। अरस्तु ने दास प्रथा का समर्थन इस आधार पर किया था कि कुछ मनुष्य विवेकशील प्रकृति की श्रेणी में नहीं आते। वे केवल जीवित वस्तुएं या उपकरण मात्र होते हैं। अतः वे स्वतंत्रता के अधिकारी नहीं होते। योरोपीय चिंतन में शताब्दियों तक यह मान्यता प्रचलित रही, परन्तु आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य में कोई गुणात्मक भेद नहीं पाया जाता है। इनकी क्षमताओं में मात्रात्मक अंतर पाया जा सकता है। इसके आधार पर स्वामी और दास जैसी दो पृथक् पृथक् श्रेणियां नहीं बनाई जा सकती। स्वतंत्र मनुष्य वह है जो अपनी इच्छानुसार कार्य करने में समर्थ हो। वैसे स्वतंत्रता का यह अर्थ कई सीमाओं से बंधा हुआ है क्योंकि कोई औपचारिक प्रतिबंध न होते हुए भी अन्य परिस्थितियां मनुष्य को बहुत कुछ करने से रोकती हैं।

नकारात्मक और सकारात्मक स्वतंत्रता

जब हम स्वतंत्रता की परिभाषा केवल प्रतिबंध के अभाव के रूप में करते हैं तब हमारा ध्यान नकारात्मक पक्ष पर केंद्रित होता है। अभिप्राय यह है कि यदि कोई व्यक्ति कुछ करना चाहता है और कर भी सकता है तो उसे वैसा करने से रोका न जाये। यह केवल अनुमति की सूचक है इसमें ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता कि व्यक्ति जो कुछ करना चाहता है उसमें उसे कोई सहायता भी दी जायेगी। व्यक्ति को नकारात्मक स्वतंत्रता प्रदान करते समय राज्य केवल स्वयं के उपर संयम रखता है। सामाजिक व्यवस्था से कोई छेड़छाड़ नहीं करता। यह भी नहीं देखता कि इस अनुमतिमूलक स्वतंत्रता का लाभ वे ही लोग जान पायेंगे जो साधन सम्पन्न हैं। इस तरह की स्वतंत्रता समाजिकता एवं सर्वसाधारण के लिये कोई विशेष अर्थ नहीं रखते। जब समाज बाहरी आर्थिक विषमताओं से ग्रस्त हो तब नकारात्मक स्वतंत्रता सारे तंत्र पर आवरण डाल देती है। जो स्वतंत्रता बलवान, निर्बल, धनवान, निर्धन सभी को खुला छोड़ दे, वहां जिसकी लाठी उसकी भैंस अर्थात् मत्स्य न्याय अवश्य स्थापित हो जाता है। अतः निर्बल और निर्धन को सच्ची स्वतंत्रता दिलाने के लिये अतिरिक्त सुरक्षा प्रदान करना राज्य के लिये आवश्यक है। निर्धन को आर्थिक सुरक्षा उपलब्ध करानी होगी और यही से सकारात्मक स्वतंत्रता की मांग प्रारम्भ होती है।

सकारात्मक स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि कमजोर वर्गों की सामाजिक व आर्थिक असमानताओं को दूर करने के ठोस प्रयत्न किये जायें ताकि सभी को अपने सुख की साधना का उपयुक्त अवसर मिल सके। इसके लिये सामाजिक एवं आर्थिक जीवन के व्यापक विनियमन की आवश्यकता हो सकती है। यह सभी विनियमन और प्रतिबंध एक वर्ग की स्वतंत्रता के सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं माना जा सकता। क्योंकि स्वतंत्रता के आधार को व्यापक बनाने से साधारणतः राजनीतिक आर्थिक और न्यायिक स्वतंत्रता सकारात्मक स्वतंत्रता होती है।

स्वतंत्रता और स्वच्छता

स्वतंत्रता का सामाजिक स्वरूप ही समानता को उसकी अनिवार्य शर्त मानने की मांग करता है। यदि सभी मनुष्य विवेक के चरम स्तर तक पहुंचे हुए होते तो यह मान सकते हैं कि निरपेक्ष रूप से स्वतंत्रता का उपयोग किया जा सकता है परन्तु यह स्थिति मात्र काल्पनिक है। मनुष्य अपने विवेक से काम लेकर भी भिन्न-भिन्न प्रकार से चिंतन करता है। कुछ मनुष्य तो ऐसे होते हैं जो विवेक के प्रयोग को आवश्यक भी नहीं समझते। दूसरे शब्दों में मनुष्य विवेकशील प्राणी होते हुए भी जब तक आदर्श अवस्था में नहीं पहुंच जाता तब तक उसका व्यवहार शुद्ध विवेक से प्रेरित नहीं होता। अतः यह स्वाभाविक है कि मनुष्य कभी-कभी ऐसे कार्य की भी इच्छा रख सकता है जो अन्य लोगों की स्वतंत्रता में बाधक हो। इस तरह की स्वतंत्रता स्वच्छंदता बन जाती है। अतः शांति की दृष्टि से स्वतंत्रता के साथ व्यवस्था की यह मांग होती है कि स्वतंत्रता पर समानता का अंकुश हो। परन्तु केवल समानता का निर्वाह पर्याप्त नहीं होता, दोनों में पर्याप्त सामंजस्य होना आवश्यक है। स्वतंत्रता की परिकल्पना में हम यह मानकर चलते हैं कि मनुष्य कल्याण के पथ पर चलना चाहते हैं विनाश के पथ पर नहीं।

लोकतांत्रिक स्वतंत्रता का सिद्धान्त तीन महत्वपूर्ण क्षेत्रों में काम करता है। इस दृष्टि से स्वतंत्रता के तीन पक्ष स्वीकार किये जा सकते हैं। वारकर के अनुसार निम्न तीन बातें सम्मिलित हैं :

1. दैहिक स्वतंत्रता— अर्थात् व्यक्ति के जीवन और स्वास्थ्य को कोई क्षति न पहुंचाई जाये तथा मनुष्य स्वतंत्र विचरण कर सके।

2. बौद्धिक स्वतंत्रता— अर्थात् मनुष्य को अपने मत या विचार को व्यक्त करने की स्वतंत्रता है।
3. व्यवहारिक स्वतंत्रता— अर्थात् मनुष्य व अन्य लोगों के साथ अपने संबंध बनाने तथा अनुबंध करके क्षेत्र में अपनी स्वतंत्र इच्छा से काम कर सके।

इनमें पहली अर्थात् दैहिक स्वतंत्रता निर्विवाद है, क्योंकि इस पर अंकुश केवल सार्वजनिक सुरक्षा कानून और व्यवस्था के हित में ही लगाया जाता है और यह सब स्वतंत्रता की आवश्यक शर्त है।

बौद्धिक स्वतंत्रता का प्रश्न थोड़ा जटिल है। जे.एस. मिल के अनुसार यह स्वतंत्रता व्यक्ति और समाज दोनों के हित में होगी। उसमें कोई संदेह नहीं है, किन्तु इसे सार्थक करने के लिये दो शर्तों की पूर्ती आवश्यक है। जनसाधारण के लिये शिक्षा की व्यवस्था हो ताकि उसमें विचार शक्ति का विकास हो सके। 2 सामूहिक संचार के साधन मुट्ठी भर लोगों के हाथों में न हो।

जहां तक अनुबंध की स्वतंत्रता का सवाल है, यह पहले वैयक्तिक स्वतंत्रता का ही आवश्यक अंग मानी जाती है परन्तु वर्तमान औद्योगिक विकास के युग में यह सिद्ध हो गया है कि विशाल जनसमूह द्वारा औपचारिक स्वतंत्रता प्राप्त किये जाने की महत्वाकांक्षा विकसित हुई है।

राजनैतिक स्वतंत्रता

आधुनिक लोकतंत्र में राजनीतिक स्वतंत्रता की सबसे सार्थक अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। राजनैतिक स्वतंत्रता का अर्थ शासन पर अंकुश करने की शक्ति है। सार्वजनिक वयस्क अधिकार एवं प्रत्येक पद के लिये प्रत्याशी होने का अधिकार इस स्वतंत्रता के प्रमुख पहलु हैं।

आर्थिक स्वतंत्रता

इसका सबसे महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि आर्थिक क्षेत्र में नकारात्मक एवं सकारात्मक स्वतंत्रता एक दूसरे का विपरित पक्ष प्रस्तुत करती है। नकारात्मक स्वतंत्रता का अर्थ आर्थिक संदर्भ में यह है कि मनुष्य की आर्थिक गतिविधियों पर कोई प्रतिबंध न हो जबकि इसके विपरित सकारात्मक आर्थिक स्वतंत्रता की संकल्पना सर्वसाधारण की आर्थिक असमर्थता के निराकरण की मांग है अतः वह समाज के आर्थिक ढांचे में ऐसे परिवर्तन की मांग करती है। जिससे धनवान और निर्धन दो वर्ग न हो तथा कोई वर्ग शोषक न हो और न ही कोई शोषित। संक्षेप में आर्थिक स्वतंत्रता की सकारात्मक संकल्पना यह मांग करती है कि आर्थिक शक्ति का प्रयोग सभी की स्वतंत्रताओं को बढ़ावा देने के लिये होने चाहिये, सर्वसाधारण की स्वतंत्रता का दमन करने के लिये नहीं।

लिंग के आधार पर स्वतंत्रता

इस प्रकार की स्वतंत्रता में व्यक्ति चाहे पुरुष हो या स्त्री लिंग भेद के आधार पर उसके काम करने की शक्ति, उसके व्यक्तित्व का विकास, विचरण करने की स्वतंत्रता आदि पर कोई प्रतिबंध नहीं होना चाहिये। पुरुष एवं स्त्री दोनों को कानून के समक्ष समानता एवं कानून के आधार पर समान संरक्षण की व्यवस्था होनी चाहिये।

सांस्कृतिक स्वतंत्रता

इसमें किसी भी समाज के समूह को अपनी संस्कृति को बनाये रखने के लिये पूर्ण अधिकार प्राप्त होने

चाहिये। कोई भी जाति, जनजाति, धर्म, अल्पसंख्यक आदि सभी को अपनी संस्कृति की रक्षा, उसके पालन और उसके प्रचार की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये।

न्याय

न्याय की संकल्पना प्राचीन काल से ही राजनीतिक चिंतन का विषय बनी हुई है परन्तु आधुनिक युग तक इसके मूल परिवेश में परिवर्तन हो गया है। परम्परागत दृष्टिकोण से मुख्यतः न्यायपूर्ण व्यक्ति के स्वरूप पर विचार किया जाता था। इसमें व्यक्ति में सद्गुणों की तलाश की जाती थी जो व्यक्ति को न्यायपूर्ण बनाते थे परन्तु आधुनिक युग में मनुष्य की आधुनिक चेतना के अनुसार सामाजिक परिवर्तन को लक्ष्य मानकर आगे बढ़ा जाता है। जहां परम्परागत दृष्टिकोण का मुख्य सरोकार मनुष्य के चरित्र से था वही आधुनिक समाज में सामाजिक न्याय का आधार प्रमुख है। सामाजिक न्याय की संकल्पना भी स्वतंत्रता, समानता आदि के आदर्श सम्मिलित है। न्याय की परिभाषा को हम इस रूप में दे सकते हैं कि यह सामाजिक उपयोगिता का एक महत्वपूर्ण पहलु है। वर्तमान के भारतीय परिवेश में न्याय को हम एक विचार के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। जिसका निर्माण जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक यथार्थ को सामने रखकर किया गया है। न्याय के निम्नलिखित आयाम स्वीकार किये जा सकते हैं।

1 कानूनी अथवा औपचारिक न्याय – जब दो पक्षों के परस्पर विरोधी दावों का फैसला करने के लिये प्रचलित कानून के अनुसार न्याय किया जाता है तब उसे कानूनी न्याय कहा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अनुसार तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायिक मानदण्डों के अनुसार न्यायपालिका द्वारा उचित और अनुचित का निर्णय कानूनी न्याय है। चूंकि उसके लिये प्रत्येक देश में औपचारिक रूप से संस्था का सृजन किया जाता है अतः इसका आधार औपचारिक है अर्थात् देश का संविधान व उसके अनुसार निर्मित कानून है।

2 तात्त्विक न्याय – भारतीय परिप्रेक्ष्य में कानूनी न्याय के अतिरिक्त तात्त्विक न्याय को भी लोकप्रियता प्राप्त है। तात्त्विक न्याय की पहचान सत्य के आधार पर होती है और यह सभी के लिये आवश्यक है चाहे वह न्यायधीश हो या आम व्यक्ति। देश का कानून भी तात्त्विक न्याय पर ही आधारित होना चाहिये। तात्त्विक न्याय ने आदिकाल से ही सामाजिक चेतना को जगाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

3 सामाजिक न्याय – सामाजिक न्याय सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक तीनों ही तरह के न्याय का सम्मिलित रूप है। दूसरे अर्थ में सामाजिक न्याय का तात्पर्य यह है कि सामाजिक जीवन में सभी मनुष्यों की गरिमा स्वीकारी जाये जैसे स्त्री, पुरुष, धर्म, जाति, वर्ण, शिक्षा, संपत्ति के आधार पर किसी व्यक्ति को हीन न माना जाये। सभी के प्रति सामंजस्यपूर्ण दृष्टिकोण हो। शिक्षा और उन्नति के अवसर सभी को समान रूप से प्राप्त हो और सभी लोग मनुष्य होने के नाते मिलजुल कर साहित्य, कला, संस्कृति और तकनीकी साधनों का उपभोग व उपयोग कर सकें।

4 आर्थिक न्याय – आर्थिक न्याय का अर्थ है उत्पादन प्रक्रिया में कोई व्यक्ति दूसरों के जीवन को नियंत्रित करने और उनसे मनमानी शर्तों पर काम करने की शक्ति प्राप्त न कर सके। सभी लोगों को अपनी-अपनी योग्यता और परिश्रम के अनुसार उचित लाभ मिलने का अवसर मिले। बाजार की स्थिति में कोई व्यक्ति मनमानी शर्तों पर दूसरों की वस्तुएं एवं सेवाएं प्राप्त करने की शक्ति प्राप्त न कर सके। बल्कि सभी को अपनी-अपनी क्षमता और आवश्यकता के अनुसार उचित शर्तों पर अपेक्षित वस्तुएं और सेवाएं प्राप्त हो सकें।

5 राजनीतिक न्याय – राजनीतिक न्याय का अर्थ है सार्वजनिक नीतियां निर्धारित करने की प्रक्रिया में सभी को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हिस्सा लेने का अवसर मिले। सार्वजनिक सत्ता का प्रयोग सभी के हित को ध्यान में रखकर किया जाये। जब व्यक्तियों को अपने अपने हितों की सिद्धी के लिए अपनी समझ से, अपने विचारों को व्यक्त करने उपयुक्त संगठन बनाने, सभाएं करने तथा दूसरों को सहमत कराने की पूरी स्वतंत्रता हो

तथा व्यक्ति की भावनाओं को क्षति पहुंचाएं बिना भिन्न-भिन्न विरोधी विचारों के प्रति सहिष्णुता बनती जाये। राजनीतिक न्याय में स्वतंत्रता के आदर्श को प्रमुख स्थान दिया जाता है।

6 प्रक्रियात्मक न्याय – प्रक्रियात्मक न्याय सामाजिक जीवन प्राप्त होने वाले लाभों के वितरण के लिये सामाजिक निर्णयों तक पहुंचने की प्रक्रिया है। इसके अनुसार न्याय का कार्य व्यक्तियों या समूहों को परस्पर नियंत्रित करना है। दूसरे शब्दों में व्यक्तियों के परस्पर स्वतन्त्रतापूर्ण और न्यायोचित संबंध होते हैं। राज्य के तंत्र का यह कार्य है कि कोई व्यक्ति या वर्ग किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा शोषित न हो। इस प्रकार प्रक्रियात्मक न्याय सामाजिक संबंधों के साथ अर्थव्यवस्था के नियमों को मानव व्यवहार के अनुसार बनाता है। जिसके आधार पर समाज में सभी मनुष्यों की समान गरिमा व महत्व को स्वीकारता है।

7 वितरणात्मक न्याय— इस प्रकार के न्याय में जो लाभ होते हैं उसे समाज के विभिन्न वर्गों में न्यायपूर्ण तरीके से वितरित करने की प्रक्रिया है। जब तक समाज सम्पूर्ण सामाजिक सम्पन्नता उत्पादन के साधनों तथा सामाजिक जीवन से प्राप्त होने वाले लाभों के वितरण पर अपना नियंत्रण स्थापित नहीं करता तब तक इस वितरण को न्यायपूर्ण बनाया नहीं जा सकता। आर्थिक जीवन में स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा ऐसी विषमताओं को जन्म हो सकती है जिसमें निर्धन वर्ग धनवान वर्ग की निर्धारित शर्तों पर काम करने के लिये विवश हो जाता है। अतः वितरणात्मक न्याय सामाजिक, राजनीतिक, कानूनी व आर्थिक क्षेत्रों में अनुचित विषमताओं को दूर करता है। इसका मुख्य उद्देश्य सामाजिक विकास करना है। किन्तु विकास के लाभ गिने चुने लोगों में सिमटकर न रहे अपितु समाज के अभावग्रस्त उचित तथा कमजोर वर्गों तक पहुंचने की समुचित व्यवस्था वितरणात्मक न्याय द्वारा सुनिश्चित किया जाता है कि लाभ के जो अंश वास्तविक अधिकारियों तक पहुंचने चाहिये उनकी वास्तविक एवं प्रायोगिक प्रक्रिया का सुगम संपादन हो सके।

स्थायी विकास

स्थायी विकास 20वीं व 21वीं सदी के प्रारम्भ की प्रमुख समस्या बन गई है। स्थायी विकास से तात्पर्य है कि विकास के लिये जो तकनीक अपनाई जाये उससे प्राप्त होने वाले प्रतिफल जहां तत्कालिक हो साथ ही भावी पीढ़ी की विकास की संभावनाओं को समाप्त न करे। औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप उत्पादन व उपशोध में वृद्धि ही प्रमुख लक्ष्य बन गया है। विकास के पश्चिमी मानदण्डों में प्रतिव्यक्ति आय सकल राष्ट्रीय आय उर्जा का उपयोग, प्रति व्यक्ति व्यय आदि प्रमुख हैं। अर्थात् विकसित अथवा विकासशील की श्रेणी निर्धारित करने वाले में प्रमुख मानक है। परिणाम स्वरूप व्यक्ति और अधिक पाने की लालसा में पर्यावरण के साथ अन्तर्निर्भरता के संबंधों को भूल गया है ऐसे में प्रकृति का दोहन इस तरीके से किया जा रहा है कि भावी पीढ़ियों के लिये विकास की संभावनाएं समाप्त प्रायः हो गई हैं। प्रकृति व पर्यावरण का प्राणियों से अन्तर्निर्भरता का संबंध मनुष्य के विकास की तीव्रतम गति के कारण समाप्त प्रायः हो गया है। चूंकि अन्य सभी प्राणियों में मानवों का महत्व सर्वाधिक है फिर भी गुणात्मक रूप से वह अन्य प्राणियों से निम्न भी है। जहाँ अन्य प्राणी प्रकृति को नियमित नहीं कर सकते। मानव विज्ञान की सहायता से प्रकृति को नियंत्रित करने के प्रयास भी कर सकता है। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि ये नियंत्रण लोभ पर आधारित न होकर आवश्यकता पर होनी चाहिये।

शांति के लिये नोबल पुरस्कार से सम्मानित अलबर्ट स्वेटजर ने कहा था कि “ आज का मानव महामानव बन गया है। उसने प्रकृति पर नियंत्रण की शक्ति प्राप्त कर ली है। किन्तु यह नियंत्रण स्वयं उसके बस में नहीं हैं और आज यह शक्ति ही उसके विनाश का कारण बन सकती है। प्रकृति में दो प्रकार के संसाधन उपलब्ध है :

1. जिनका नवीनीकरण संभव है
2. जिनका नवीनीकरण संभव नहीं है।

जिन संसाधनों का नवीनीकरण संभव नहीं है उनके संबंध में मुख्य समस्या उनके उचित उपयोग की है। ताकि भावी पीढ़ियों को सुरक्षित संसाधनों का भंडार मिल सके तथा विकास वास्तविक अर्थों में स्थायी विकास बन सके। एक दशक पूर्व रियो डि जेनेरीयो पृथ्वी सम्मेलन ने यू.एन.ओ. द्वारा पर्यावरण संबंधी मुद्दों पर विचार किया गया। और इसी के अनुवर्तन में जोहन्सबर्ग में पृथ्वी सम्मेलन का आयोजन हुआ जिसके विश्व के 104 देशों को शासनाध्यक्ष सम्मिलित हुए किन्तु अमरीकी राष्ट्रपति की अनुपस्थिति ने सम्मेलन के उद्देश्यों को पूर्ण रूप से प्राप्त करने में बाधा उत्पन्न की। विकास का जो मानक वर्तमान में अपनाया है वह स्थायी विकास की संकल्पनाओं से सर्वथ भिन्न है। क्योंकि यह विकास मानवता और पर्यावरण के लिये जिम्मेदार नहीं है। यह विकास विश्व के थोड़े से लोगों में पृथ्वी के संसाधनों को बर्बर ढंग से परोस देता है। यह गरीब को गरीब और धनवान को और धनवान बना देता है तथा प्रकृति का अत्यधिक दोहन करता है। बहुत सारे लोगों को पीछे कर बहुत कम लोगों को आगे बढ़ने के अवसर प्रदान कराता है। इस प्रकार के विकास के कार्यक्रम मानवता के लिये दीर्घकालिक व हितकारी नहीं हो सकते तथा इसे सतत नहीं निभाया जा सकता।

यू.एन.ओ. ने विश्व के सम्मुख पांच सूत्रीय प्राथमिकता प्रस्तुत की है। ये पांच सूत्र हैं पानी, उर्जा, स्वास्थ्य, कृषि एवं जैव विविधता मुद्दे ये पांचो मूद्दे परस्पर संबंधित भी हैं और पर्यावरण की रक्षा के लिये अपरिहार्य भी हैं। पाश्चात्य प्रायोजित विकास की अवधारणा गरीबी की एक लम्बी छाया की सृजक है। यह विचार द.अफ्रीका के मौसोम्बिक के एक सम्मेलन में प्रस्तुत हुआ। उनके अनुसार इस काली छाया को मानवता ज्यादा नहीं सह सकती। गरीबी, विषमता, प्रदूषण, प्रतिदिन सघन होकर पृथ्वी को दुष्प्रभावित कर रही है। इस सम्मेलन में पाश्चात्य अवधारणा समर्थित जीवन अधिकार की भी आलोचना हुई है। विकसित देशों के संदर्भ में संसाधनों का सर्वाधिक प्रयोग करते हुए उन्हे पृथ्वी को प्रदूषित करने का सर्वाधिक दोषी माना तथा ये प्रश्न प्रस्तुत किया कि गरीबी के अथाह समुद्र घिरे हुए समृद्धि के ये टापू क्या स्थायी रह पायेगे? अर्थात् विकास की प्रचलित संकल्पना पर उन्होंने प्रश्न चिन्ह लगाया और संकेत दिया कि यह प्रतिमान स्थायी विकास का प्रतिमान नहीं हो सकते। यू.एन.ओ. के पर्यावरण कार्यक्रम की रिपोर्ट के अनुसार “अकाल तथा बाढ़ की मार से विश्व मानवता का एक बड़ा हिस्सा आक्रान्त है। इस स्थिति की उपेक्षा मानव जाति के लिये उचित नहीं है। इसी प्रकार विश्व बैंक के उपाध्यक्ष यान जोनसन के अनुसार “आगामी दावे में विश्व की आर्थिकी चौगुनी होगी। उन्होंने प्रश्न किया कि ऐसी परिस्थिति में संसाधनों की क्या स्थिति हो सकती है। उन्होंने कहा कि यद्यपि विकासशील देश भी विकास का वही माडल अपना रहे हैं जो पाश्चात्य विकसित देशों ने अपनाया। विषमता एवं प्रदूषण का भयावह चित्र जोनसन ने सम्मेलन में प्रस्तुत किया और कहा कि गरीबी को मिटाये बिना किसी रणनीति पर सहमत नहीं हुआ जा सकता। गरीबी के विस्तार का मूल विकास की अवधारणा में छिपा हुआ है। इस सम्मेलन में यदि किसी एक देश की विकास संबंधी नीतियों की आलोचना की है तो वह अमरीका की ही हुई है। क्युटों प्रोटोकॉल को मानने से अमरीका ने इन्कार कर दिया तथा उसके राष्ट्रपति भी सम्मेलन से अनुपस्थित रहे। अमरीका सदैव पर्यावरण सुरक्षा, गरीबी उन्नमूलन, के प्रस्तावों का समर्थक रहता है और इन मुद्दों पर यदि स्थूल प्रतिबद्धता का प्रस्ताव आता है तो वह उसे मानने को तैयार नहीं होता। अमरीका यह मानता है कि वह न तो अपनी जीवन शैली बदल सकता है और न ही विकास की पद्धति। अमेरिका की जनसंख्या वृद्धि दर कम होने के बावजूद वह देश विश्व के पर्यावरण के लिये सर्वाधिक खतरा बना हुआ है। इसका कारण यह है कि उनकी संस्कृति में उपयोग और अधिक भोग का ही महत्व है। उदाहरणतः अमरीका की जनसंख्या आनुपातिक आधार पर संसाधनों एवं जीवन शैली को संतुष्ट करने हेतु जो प्रकृिया अपनाते हैं, जिसमें प्रमुख उनका खान पान एवं रहन सहन आदि सम्मिलित है यह संसाधनों के असंतुलित उपयोग के स्वरूप को प्रकट करता है। उदाहरणतः अमेरिका यदि एक एकड़ भूमि में चारा उगाकर गाय को खिलाता है तो वह गाय 10-15 लोगों के खाने के काम में आती है। वही भारत में यदि एक एकड़ भूमि में अनाज उगाया जाता है तो उस अनाज से सौ मनुष्यों का पेट भरता है। पृथ्वी के संसाधन सीमित है साथ ही नई तकनीकों से उत्पादन में वृद्धि हो रही है किन्तु इस उत्पादन की गति की भी सीमा बनानी

आवश्यक है। यह तभी संभव है यदि मनुष्य अपने कुछ उपयोगों को सीमित करे। कुछ गैर सरकारी संगठनों ने युरोपीय समुदाय और अमेरिका पर यह दबाव बनाने की कोशिश की है कि बहुराष्ट्रीय निगमों को अन्तर्राष्ट्रीय तत्व की भूमिका का निर्वाह करने के लिये नियम व कानून को प्रभावी बनाये। व्यवसाय जगत के पर्यावरण आदि के संदर्भ में जवाबदेह होना चाहिये। उपयोगितावाद का बेलगाम विस्तार प्रकृति, पर्यावरणीय विनाश तथा मानव मस्तिष्क को बहलाने वाली विज्ञापन प्रवृत्ति के होने वाले दुष्परिणामों से व्यवसायिक जगत को उत्तरदायी होना चाहिये तभी शांति पूर्ण समाज की स्थापना का स्वप्न साकार हो सकता है।

विश्व व्यवसायिक चिंतन को एक नवीन दिशा देने में पृथ्वी सम्मेलन और क्यूरो प्रोटोकाल ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है। इन दोनों सम्मेलनों में जो परिणाम सामने आये उसमें वैश्विक पर्यावरणीय समस्याओं के लिये विकसित देशों को उत्तरदायी ठहराया गया। जलवायु परिवर्तन के लिये उत्तरदायी माने जाने वाले सी.ओ. मिथेन, नाइट्रेट आक्साइड जैसी गैसों के उत्सर्जन को कम करने के लिये क्यूरो नगर में एक सहमति पत्र बनाया गया। इसमें प्रमुखतया ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन स्तर 1990 के उत्सर्जन स्तर से 5 कम करने पर अमेरिका के लिये 6 युरोपीय संघ के लिये 8 जापान के लिये 6 तथा कनाडा के लिये 3 तक स्तर को कम करना निर्धारित किया गया। किन्तु ब्राजील में हुए रियो डि जेनेरियो घोषणा पत्र की तरह क्यूरो प्रोटोकाल भी अपने राष्ट्रीय हितों को बचाने के कारण सफल नहीं हुए। अमेरीका मानता है कि यदि इस तरह के प्रयास किये गये तो उनकी अर्थव्यवस्था प्रभावित हो सकती है। विकसित देशों के अपने आर्थिक हितों की प्रमुखता देने के कारण वैश्विक स्तर पर इस तरह के प्रयास पूर्णतः सफल नहीं हो सके, किन्तु पर्यावरणीय समस्या के भयावह स्वरूप को दृष्टिगत रखते हुए इस दिशा में विचार विमर्श आदि का प्रयास हुआ नहीं है और वास्तव में सतत विकास की अवधारणा को प्रतिष्ठित करने हेतु इस तरह के विचारों के साथ-साथ उनकी क्रियान्विती भी आवश्यक है।

अभ्यास हेतु प्रश्न

(अ) वस्तुपरक/लघुत्तम उत्तर

1. शांतिपूर्ण समाज से क्या अभिप्राय है ?
2. रूसो ने कितनी प्रकार की विषमताओं का वर्णन किया है।
3. राजनीतिक समानता क्या हैं ?
4. किस अनुच्छेद में सांस्कृतिक मूल्यों को समान रूप से पाने के अधिकार की चर्चा की गई है।
5. वारकर ने कितने प्रकार की स्वतंत्रता स्वीकार की है ?

(अ) 3 (ब) 5 (स) 7

6. संसाधन कितने प्रकार के होते हैं ?

(ब) लघु उत्तर

1. समानता से क्या अभिप्राय है ?
2. राजनीतिक समानता पर टिप्पणी लिखे।
3. स्वतंत्रता का क्या अर्थ है ?
4. न्याय की अवधारणा पर प्रकाश डालें।
5. शाश्वत विकास पर लघु टिप्पणी लिखें।

(स) निबंधात्मक उत्तर

1. शांतिपूर्ण समाज की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए इसके घटकों का वर्णन करे।
2. पर्यावरणीय आचार एवं शाश्वत विकास पर एक विस्तृत निबन्ध लिखे।

जैन विश्वभारती संस्थान

¼ekU; fo' ofo | ky ; ¼

ykMu; & 341 306 ¼jk t LFkku½

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय



स्नातकोत्तर (एम.ए.) पूर्वाद्ध

विषय- अहिंसा एवं शांति

द्वितीय प्रश्न पत्र

अहिंसा एवं शांति का समाजशास्त्र

विशेषज्ञ समिति

- | | |
|--|---|
| 1. प्रो. राधाकृष्णन
चेन्नई | 2. प्रो. जयप्रकाशम
मदुरई |
| 3. प्रो. जे.एन. शर्मा
चण्डीगढ़ | 4. प्रो. बच्छराज दूगड़
विभागाध्यक्ष, अहिंसा एवं शान्ति विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राज) |
| 5. डॉ. वी. अरुण कुमार
कोटा | 6. डॉ. अनिलधर
सह-आचार्य, अहिंसा एवं शान्ति विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राज) |
| 7. डॉ. समणी सत्यप्रज्ञा
सह-आचार्य, अहिंसा एवं शान्ति विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राज.) | 7. डॉ. अनिलदत्त मिश्रा
सहायक निदेशक, गांधी संग्रहालय
दिल्ली |

कॉपीराइट :

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ - 341 306 (राजस्थान)

लेखक :

डॉ. अनिल धर

सम्पादक :

संस्करण : 2015

मुद्रित प्रतियाँ :

मुद्रक : जैन विश्वभारती संस्थानए लाडनूँ

अनुक्रमणिका

1.	अहिंसा एवं शांति का समाजशास्त्र	1—54
2.	शांति को सामाजिक चुनौतियां	55—111
3.	रक्तविहीन क्रांति एवं सामाजिक आमूल परिवर्तन	112—166
4.	संचार एवं शांति स्थापना में योगदान	167—183
5.	शांतिपूर्ण समाज के तत्व	184—194